धम्मपदपालि

(हिन्दी-संस्कृत-अनुवाद सहित)



प्रधानसम्पादक

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

बौद्धभारतीग्रन्थमाला–४४
Bauddha Bharati Series-44

धम्मपदपालि

[हिन्दी–संस्कृत–अनुवाद सहिता]



प्रधानसम्पादक
स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

बौद्धभारतीग्रन्थमाला-४४

धम्मपदपालि

[हिन्दी-संस्कृत-अनुवादसहिता]

सम्पादको अनुवादको च

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री



वाराणसी

बु० २५४४] २००१ ई० [वि०२०५७

Bauddha Bharati Series-44

The
DHAMMAPADA PĀLI

With
Hindi & Sanskṛta Translation

Edited & Translated By
Swāmī Dwārikādās Śāstrī



BAUDDHA BHARATI
VARANASI
2544 B. E.] **2001** [V. 2057

बौद्धभारतीग्रन्थमाला-४४

धम्मपदपालि

[हिन्दी-संस्कृत-अनुवादसहिता]

सम्पादको अनुवादको च

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री



वाराणसी

बु० २५४४] २००१ ई० [वि०२०५७

पो० बॉ० नं० १०४९
वाराणसी-२२१ ००१. (भारत)

P. B. No. 1049
VARANASI-221 001 [India]

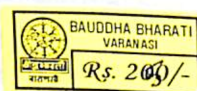
e-mali : bauddhabhrti@satyam.net.in

सहसम्पादक :
धर्मकीर्त्तिशास्त्री
चन्द्रकीर्त्तिशास्त्री



प्रथम संस्करण : २००१

First Edition : 2001

Price : Rs. 

मुद्रक :
साधना प्रेस
काटन मिल कालोनी
वाराणसी-२२१ ००२
फोन :- (0542) 210094

Printed By :
SĀDHANĀ PRESS
Cotton Mill Colony
VARANASI- 221 002
Ph. (0542) 210094

प्रकाशकीय वक्तव्य

''अनुजानामि, भिक्खवे, सकाय निरुत्तिया परियापुणितुं'' ति

—विनयपिटके, भगवा बुद्धो।

सन् १९५८-१९६१ ई० में पालित्रिपिटकप्रकाशनसमिति, नालन्दा द्वारा सम्पूर्ण त्रिपिटक प्रकाशन में कार्य करते समय से ही हमारा यह सङ्कल्प था कि समस्त त्रिपिटक (बुद्धवचन=पालि) का हिन्दी-रूपान्तर (अनुवाद) के साथ प्रकाशन होना चाहिये, जिससे वह अन्य भाषाओं के विद्वानों के लिये भी उपयोगी हो सके। परन्तु यह कार्य स्वही इतना विशाल, गुरुतर एवं बहुव्ययसाध्य था कि हमारे जैसा अल्पसाधन वाला एकाकी पुरुष इसके प्रकाशन का साहस नहीं कर पा रहा था।

एतदर्थ, हमने विगत बीस वर्षों में अत्यधिक प्रयास किया; भारत के अनेक साधनसम्पन्न प्रकाशकों, धनपतियों एवं बुद्धिजीवियों से इस कार्य के लिये आर्थिक साधन संगृहीत कराने हेतु निवेदन किया; परन्तु किसी ने भी, इस कार्यहेतु, हमारा उत्साहवर्धन नहीं किया। अन्त में, हमने विवश होकर, अपने अल्प साधनों के बल पर ही इस कार्य को आगे बढ़ाने का निश्चय किया।

तदनुसार, सर्वप्रथम सुत्तपिटक का **मज्झिमनिकाय** (सम्पूर्ण) हिन्दी अनुवाद के साथ पाँच भागों में प्रकाशित किया, जो कि पाँच वर्ष में पूर्ण हुआ। तदनन्तर, हमने सुत्तपिटक का **दीघनिकायपालि** (सम्पूर्ण) (हिन्दी अनुवाद के साथ) तीन भागों में प्रकाशित किया।

इसी बीच, हमने विनयपिटक के **महावग्गपालि** ग्रन्थ का भी हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन किया।

तदनन्तर, इसी क्रम में हमने समस्त **संयुत्तनिकायपालि** का भी हिन्दी अनुवाद के साथ चार भागों में प्रकाशन करने का सङ्कल्प किया। दो वर्ष के कठिन परिश्रम एवं प्रयास के बाद, यह ग्रन्थ (चार भागों, २२५० पृष्ठों में सम्पूर्ण) आप के सम्मुख प्रस्तुत किया जा चुका है। अब **अङ्गुत्तरनिकायपालि** का अनुवाद कार्य हो रहा है। उसे भी यथासम्भव शीघ्र ही प्रकाशित कराने का हमारा प्रयास है। इस तरह, इस ग्रन्थमाला में त्रिपिटक के **सुत्तनिकाय** का बहुत अंश प्रकाशित हो चुका है।

इस कार्य के साथ सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत पालि के प्रसिद्ध ग्रन्थ **धम्मपदपालि** पर भी कार्य हो रहा था, वह पूर्ण हो गया; अतः उसे अङ्गुत्तरनिकाय से पूर्व ही प्रकाशित किया जा रहा है।

इसमें भी हमने पालि-पाठ के लिये बर्मा में हुए छट्ठ सङ्गायन पर आधृत, और श्रीलंका, स्याम (थाईलैण्ड) तथा पालि टैक्स्ट सोसाइटी लन्दन के संस्करणों का सहयोग लेकर १९५९ में 'पालि त्रिपिटक प्रकाशन बोर्ड' नालन्दा से प्रकाशित देवनागरी-संस्करण को

आदर्श रूप में रखा है। इसमें हमने बहुत कम परिवर्तन किया है। कहीं कहीं मुद्रणाशुद्धियों के संशोधन के अतिरिक्त अधिक कुछ नहीं किया है।

साथ ही हमने बर्मा, नालन्दा एवं रोमन संस्करणों की पृष्ठ-संख्या भी रोमन अक्षरों में क्रमशः यथास्थान दे दी है। अनुसन्धाता इससे भी लाभान्वित होंगे।

इसमें हमने आचार्य बुद्धघोष की अट्ठकथा को प्रमाण मान कर अपना स्वतन्त्र **हिन्दी अनुवाद** सम्पन्न करते हुए, उसे पालि-पाठ के साथ नीचे दिया है। इससे पाठकों को पालि एवं उसकी हिन्दी—दोनों ही भाषाएँ अत्यन्त सरलता से हृदयङ्गम हो सकेंगी—ऐसा हमारा विश्वास है। साथ ही हमने इस ग्रन्थ की सभी गाथाओं का संस्कृत रूपान्तर भी पृथक्शः कर दिया है, जिससे संस्कृत के विद्वान् भी इसका समानतया लाभ उठा सकेंगे।

यहाँ हमें एक निवेदन अवश्य करना है कि विषय-वैशद्य (बात को समझाने) के लिये त्रिपिटक में विषय का अनुकूल-प्रतिकूल, या आरोह-अवरोह दोनों क्रमों से विस्तृत (अक्षरशः) वर्णन किया जाता है। इस शैली में भाषाच्छटा तो अवश्य आ जाती है, परन्तु इस शब्द-समूह में फँस कर पाठक से मूल विषय दूर दूर सा होने लगता है। इसके लिये पालि-संग्रहकारों ने ऐसे विशेष स्थानों (जहाँ पाठ पुनः पुनः आवृत्त हो) के लिये '...पे०...' की परम्परा रखी है। इस परम्परा का इससे पहले के संस्करणों में निर्भयता से उपयोग हुआ है। इसे हमने भी अपने हिन्दी-अनुवाद में स्वीकार किया है। परन्तु '...पे०...' का अनुवाद हमने '...पूर्ववत्...' करके दिया है, या प्रायः '...' इस चिह्न का प्रयोग किया है, ताकि पाठक प्रसङ्ग के प्रधान विषय से दूर न हो जाय।

एक कार्य हमने इस प्रसङ्ग में और किया है। ग्रन्थ में वर्णित सभी गाथाओं का संक्षेप हिन्दी भाषा में ग्रन्थ के प्रारम्भ में दे दिया है, जिससे पाठकों को सूत्रों का वर्ण्य विषय एक ही दृष्टि में हृदयङ्गम हो जाय। साथ ही इसकी विस्तृत भूमिका में बौद्धदर्शन एवं पालि साहित्य पर बहुत कुछ नया लिखा गया है।

अन्ते च, इस पवित्र ग्रन्थ का यह अनुवाद हमने स्वकीय ज्ञानवृद्धिहेतु लिखा था, लिखने के बाद यह ध्यान में आया कि यह हमारे समानधर्मा अन्य जिज्ञासुओं का भी प्रयोजन सिद्ध कर सकता है। इसी उद्देश्य से यह प्रकाशित किया जा रहा है।

इतने विस्तृत अनुवाद में, हो सकता है, हम से कहीं परम्परा का निर्वाह न हो पाया हो एतदर्थ हमारा विज्ञ जनों से विनम्र निवेदन है कि इस प्रमाद को क्षमा करते हुए हमें सूचित करने का कष्ट करें; जिससे आगामी संस्करण में उस का परिहार किया जा सके।

मकरसंक्रान्ति, २०५७ वि०
वाराणसी

विद्वद्वशंवद
स्वामी द्वारिकादासशास्त्री
(अध्यक्ष, बौद्धभारती)

निदानकथा

आज से प्राय: २५०० वर्ष पूर्व लोकशास्ता भगवान् बुद्ध ने, बुद्धत्वप्राप्ति के बाद मध्यमण्डल में चारिका करते हुए निरन्तर ४५ वर्षों तक उस समय की लोकभाषा में, बहुजनहिताय बहुजनसुखाय जो उपदेश किया था, सौभाग्य से त्रिपिटिक के रूप में वह आज भी सुरक्षित है। वे चाहते थे कि उनका सन्देश जनसाधारण तक पहुँचे, इसके लिये स्वयं उन्होंने लोकभाषा (अर्धमागधी) में उपदेश किया और साथ ही अपने शिष्यों को भी यह अनुमति प्रदान की कि वे उनके उपदेशों को अपनी अपनी भाषा में परिवर्तित कर धारण कर सकते हैं। हो सकता है उन दिनों तत्कालीन अनेक भाषाओं में बुद्धवचनों के संग्रह हुए हों; किन्तु आज जो बुद्धवचन हमें मिलते हैं, वे एक ही भाषा में हैं, जिसे हम 'पालिभाषा' कहते हैं। कालान्तर में इसी भाषा में विस्तृत साहित्य की रचना हुई। त्रिपिटक पर अट्ठकथाएँ और इन अट्ठकथाओं पर टीका, अनुटीका, मधुटीका, योजना, गण्ठी आदि अनेक टीका-ग्रन्थ समय समय पर निर्मित हुए। इनके अतिरिक्त अनुपिटक और उन पर अट्ठकथा, टीका आदि प्रचुर साहित्य भी हमें इसी पालिभाषा में मिलता है। यह सम्पूर्ण साहित्य बर्मा, श्रीलङ्का, श्याम, कम्बोज आदि बौद्ध देशों में आज भी न केवल सुरक्षित ही है; अपितु अध्ययन-अध्यापन तथा नये नये ग्रन्थलेखन आदि द्वारा दिनानुदिन वृद्धिङ्गत भी हो रहा है। वहाँ के मनीषी इस साहित्य की उसी प्रकार सुरक्षा कर रहे हैं, जिस प्रकार भारत में वेद और उसके उपजीव्य साहित्य की या अन्यत्र बाइबिल आदि साहित्य की सुरक्षा की जा रही है।

त्रिपिटक—सम्बोधिप्राप्त्यनन्तर भगवान् बुद्ध ने ४५ वर्ष के सुदीर्घकाल में जो कुछ भी धर्मप्रवचन किया, वह इतना विशाल विस्तृत एवं बहुआयामी था कि स्थूल या सूक्ष्म रूप से कुछ विभाजन किये विना उस के आदि अन्त का छोर प्राप्त करना साधारण जिज्ञासु के लिये बहुत कठिन कार्य था, अत: भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के अनन्तर सङ्गीतिकारों ने सर्वप्रथम इस विशाल धर्मप्रवचन का एक सरल वर्गीकरण तीन भागों में किया; जैसे—१. **विनयपिटक**, २. **सुत्तपिटक** एवं ३. **अभिधम्मपिटक**। इन में प्रथम 'विनयपिटक' में पाँच ग्रन्थ हैं, इन सभी में भिक्षुसङ्घ एवं भिक्षुणीसङ्घ के लिये प्रोक्त छोटे बड़े सभी पालनीय नियम तथा धर्मानुशासन संगृहीत हैं। तथा जिस भाग में विद्वानों एवं साधारण समाज के लिये उपदेश संगृहीत हैं उसे 'सुत्तपिटक' नाम दिया गया। तथा जिस भाग में केवल विद्वानों एवं साधकों द्वारा समझने योग्य गम्भीर दार्शनिक सिद्धान्त उपदिष्ट हैं उसे 'अभिधम्मपिटक' संज्ञा दी गयी। ये तीनों पिटक भी, आगे चल कर अनेक उपविभागों में विभक्त किये गये। इस समस्त प्रवचनसंग्रह को **त्रिपिटक** कहते हैं।

'त्रिपिटक' के ग्रन्थों का विभाजन

त्रिपिटक

विनयपिटक

१. महावग्ग
२. चुल्लवग्ग
३. पाराजिक
४. पाचित्तिय
५. परिवार

सुत्तपिटक

१. दीघनिकाय
२. मज्झिमनिकाय
३. संयुत्तनिकाय
४. अङ्गुत्तरनिकाय
५. खुद्दकनिकाय

(१) खुद्दकपाठ
(२) धम्मपद
(३) उदान
(४) इतिवुत्तक
(५) सुत्तनिपात
(६) विमानवत्थु
(७) पेतवत्थु
(८) थेरगाथा
(९) थेरीगाथा
(१०) जातक
(११) निद्देस
(१२) पटिसम्भिदामग्ग
(१३) अपदान
(१४) बुद्धवंस
(१५) चरियापिटक

अभिधम्मपिटक

१. धम्मसङ्गणि
२. विभङ्ग
३. धातुकथा
४. पुग्गलपञ्ञत्ति
५. कथावत्थु
६. यमक
७. पट्ठान

●

पूर्वपीठिका

१. बौद्धधर्म का परिचय

हमारा यह देश भारतवर्ष विद्वानों द्वारा अनादि काल से धर्मभूमि या धर्मक्षेत्र कहा जाता रहा है। एतद्देशप्रसूत मनीषियों ने समय समय पर, तत्तत्कालीन जनभावना के अनुकूल, जनमानस की स्थिति को देखते हुए संसार में जीवन यापन हेतु (सदाचार) तथा मरणानन्तर (देहपात के बाद) स्थायी शान्ति (निर्वाण) प्राप्तिहेतु अपने विचार (मार्ग=उपाय) प्रस्तुत किये हैं। समस्त विश्व के ऐसे प्राचीन धर्मों की उद्गम भूमि या चिन्तनस्थल यह भारतवर्ष ही रहा है। संसार के तीन प्राचीन धर्म-हिन्दू धर्म, जैनधर्म एवं बौद्धधर्म-इसी भारत भूमि पर पल्लवित एवं पुष्पित हुए हैं। इन तीनों ही धर्मों में भारतीय वसुन्धरा के स्वाभाविक अहिंसादि गुण भी एक साथ पाये जाते हैं। इसी तरह इन तीनों धर्मों में कर्मवाद, पुनर्जन्म, मोक्ष, कैवल्य एवं निर्वाण भी समान रूप से मान्य हैं।

भगवान् बुद्ध : ये आज से प्रायः ढाई हजार वर्ष पूर्व, कपिलवस्तु के एक प्रतिष्ठित राजवंश में, राजा शुद्धोदन के घर में, राजकुमार सिद्धार्थ नाम से अवतरित हुए। उनका विवाह सुप्रबुद्ध शाक्य की पुत्री अतिसौन्दर्यसम्पन्न राजकुमारी भद्रकात्यायनी से हुआ। बाल्यावस्था से ही इन की मनःप्रवृत्ति निवृत्तिमार्गपरक रही। अतः जन्म, जरा, व्याधि एवं मृत्यु से पीडित मानव के दुःखों को दूर करने की बात निरन्तर उनके ध्यान में आती रही। अन्त में, विवाहसंस्कार के बाद यथासमय पुत्रोत्पत्ति के अनन्तर इन्होंने, उनतीस वर्ष की आयु में, गृहस्थ जीवन सदा के लिये त्याग दिया। तदनन्तर अनेक आचार्यों द्वारा बतायी गयी दुष्कर चर्याएँ करते करते छह वर्ष के अनन्तर अपने ही एकान्त चिन्तन एवं मनन के फलस्वरूप वे एक निष्कर्ष पर पहुँचे। वह निष्कर्ष था—सभी संस्कार अनित्य, अनात्म एवं दुःखमय है। इनसे दूर रह कर ही मनुष्य स्थायी शान्ति अधिगत कर सकता है। इस लिये मानव जीवन का यह लक्ष्य निर्धारित किया—मनुष्य को जन्म, जरा, व्याधि एवं मृत्यु के जञ्जाल से सर्वथा दूर रहना चाहिये। साधक की पूर्ण साधना स्थिति को उन्होंने निर्वाण नाम दिया। इस निर्वाण को ही उपर्युक्त दुःखत्रय से मुक्ति (मोक्ष) कहते हैं। इस निर्वाणप्राप्ति के लिये उन्होंने एक सरलतम साधनापद्धति का भी उपदेश किया जिसे **आर्यसत्यचतुष्टय का ज्ञान** कहा जाता है तथा उस की उपलब्धि का उपाय **आर्यअष्टाङ्गमार्गपद्धति** बताया।

भगवान् बुद्ध आरम्भ में, हम लोगों के समान एक साधारण मानव ही थे; परन्तु उन ने अपने जीवन में अपने शरीर एवं मन के द्वारा ऐसी साधना की, ऐसे सफल साधनाप्रयोग किये कि अन्त में उनसे प्रभावित होकर जनता ने उनको 'भगवान्' उपाधि से विभूषित कर दिया। तथा उन्हें नर से नारायण बना दिया। उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि कोई भी मनुष्य अपने प्रयास से ही श्रेष्ठता या उच्चता प्राप्त कर सकता है। उनका यह स्पष्ट मन्तव्य है—

अत्ता हि अत्तनो नाथो, अत्ता हि अत्तनो गति।
तस्मा संयमयत्तानं, अस्सं भद्रं व वाणिजो॥ (ध.प.गा. ३८०)

भारत में अवतरित सभी सन्त अपने शरीर तथा मन को एक प्रयोगशाला मान कर अपने ही शरीर एवं मन पर प्रयोग करते करते एक दिन ऐसी स्थिति में पहुँच गये कि जनता ने उनके पवित्र क्रियाकलाप से भावविभोर हो कर उन्हें सन्त के साथ भगवान् के रूप में अपने हृदय में स्थान दिया, फिर भले ही वे महावीर हों या बुद्ध, कबीर हो या दादूदयाल, गान्धी हो या अरविन्द—ये सभी अपने शरीर एवं मन पर प्रयोग करते करते एक दिन कंकर से शङ्कर बन गये; यद्यपि आरम्भ में वे हमारी तरह सभी साधारण मानव थे।

बौद्ध धर्म का लक्ष्य : बौद्धों की मान्यता है कि मानव जीवन दु:ख एवं सन्ताप से परिपूर्ण है, जन्म से मृत्युपर्यन्त (समग्र जीवन में) जीवन दु:ख ही दु:ख है। मनुष्य जन्म जरा व्याधि एवं मृत्यु के जञ्जाल में आबद्ध है। इतना ही नहीं, एक देहपात (मृत्यु) के पश्चात् पुन: जन्म, जरा, व्याधि एवं मृत्यु का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। अत: बौद्ध धर्म ने भी हिन्दू एवं जैन धर्मों के समान ही इस दु:खमय जीवनचक्र को सदा सर्वदा के लिये समाप्त (नष्ट) कर देना ही अपना ध्येय, साध्य तथा लक्ष्य घोषित कर रखा है।

बौद्ध धर्म के सिद्धान्त : भगवान् बुद्ध ने, गृहत्याग के बाद तथा बोधिप्राप्ति से पूर्व, तत्कालीन महान् योगी आडार कालाम एवं उद्रक रामपुत्र से योगशिक्षा प्राप्त की। इस योगसाधना एवं साधनातप में बुद्ध बहुत आगे निकल गये। अन्त में इस तप:साधना का आधार छोड़कर उन्होंने अपने शरीर एवं मन का आश्रय लेकर बोधगया में बोधिवृक्ष के नीचे बैठ कर बोधि (ज्ञान) प्राप्त की। अत: योगाभ्यास को बौद्ध धर्म की नींव कहा जा सकता है, यही योगाभ्यास आगे चलकर बोधि में परिणत हो गया। बुद्ध भगवान् ने अपनी इस बोधि का चार आर्यसत्यों में विश्लेषण किया है। ये अवियोज्य चारों आर्यसत्य बौद्ध धर्म केमूल तत्त्व हैं; जैसे—

१. दु:ख, २, दु:खसमुदय (जिसे द्वादशनिदान एवं भवचक्र भी कहा गया है।) ३. दु:खनिरोध (निर्वाण) तथा ४. इस दु:खनिरोध का मार्ग (उपाय=आर्य अष्टाङ्गिकमार्ग)।

१. दु:ख : अतिसंक्षेप में 'दु:ख' शब्द से भगवान् का अभिप्राय यह है कि सभी सांसारिक पदार्थ नश्वर, क्षणिक तथा नि:स्वभाव है । उनसे लिप्त रहने में, उनसे आश्वस्त रहने में मानव को अन्त में निराशा ही हाथ लगती है । भगवान् ने स्थायी तथा नित्य द्रव्य की गवेषणा के प्रयास को व्यर्थ समझा है। **दीघनिकाय** के **ब्रह्मजालसुत्त** में ६२ या ६३ मत वर्णित है जिनका सन्दर्भ स्थायी जगत्, नित्य आत्मा या परमात्मा है। भगवान् ने इस तत्त्वगवेषणा को अव्याकृत कह कर अस्वीकृत कर दिया; परन्तु कोई भी महान् विचारक किसी न किसी प्रकार के तत्त्वदर्शन के विना नहीं रह सकता। अत: भगवान् ने भी कर्म,

संसार, ज्ञान एवं मुक्ति इस चतुष्पदी को स्वीकार गिया है। उनका मत था कि कारण के विना कोई कार्य नहीं हो सकता। एक घटना किसी दूसरी घटना को उत्पन्न करती रहती है। उन्होंने इस कारण कार्य सिद्धान्त को **प्रतीत्यसमुत्पाद** नाम दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि इसके होने पर यह होता है या इसके न होने पर यह नहीं होता। इसी आधार पर बौद्धमत में क्षणिकवाद (नित्य), अनात्मवाद एवं दुःख—इस वादत्रयी को स्वीकार किया गया है। भगवान् ने मानव जीवन की निःसारता एवं क्षणभङ्गुरता का जल के बुलबुले, कागज की नाव एवं कच्चे घड़े की उपमा से बोध कराया है। इस तरह बौद्ध मत में **दुःख** प्रथम आर्यसत्य है।

२. दुःखसमुदय : भगवान् की दृष्टि में दूसरा आर्यसत्य है—दुःखसमुदय।

वे मानते हैं कि मानव या कोई भी प्राणी या वस्तु क्षणिक कारणों की शृङ्खलामात्र है। जो नामरूप की व्यवस्था में रहकर स्थायी आत्मा जैसे पदार्थ का भ्रम उत्पन्न करती है। किसी भी स्थायी पदार्थ का यदि समुचित विश्लेषण किया जाय तो वह विश्लिष्ट क्षणभङ्गुर अङ्गों में बिखर जाता है। इनके मतानुसार जन्मजन्मान्तरों में किसी भी व्यक्ति की नामरूपव्यवस्था ज्यों ज्यों बनी रहती है, त्यों त्यों उसे और अन्य विचारकों को स्थायी आत्मा का भ्रम प्रतीत होता है। आत्मा है या नहीं? यह प्रश्न ही भ्रामक है। आत्मा न स्थायी है न नश्वर। वह केवल नामरूप ही है जो केवल अनेक जन्मों में संक्रान्त होता रहता है। इसी नामरूप के विनाश को बौद्धों ने निर्वाण संज्ञा दी है। घटनाचक्र के प्रवाह का नामरूप कठिन प्रयास के विना विनष्ट नहीं होता; क्योंकि मानव दुःखपूर्ण जीवन की क्षणिक घटनाओं के प्रवाह से अनभिज्ञ रहता है और वह समझता है कि घटनाचक्र विनष्ट होते हुए भी उसकी आत्मा स्थायी बनी रहती है; परन्तु यह उसका भ्रममात्र है।

भवचक्र—भगवान् बुद्ध ने अनेक जन्मों तक सन्धावन करने वाली जीवात्मा का विश्लेषण द्वादशविध कड़ियों (शृङ्खलाओं) का उल्लेख करते हुए किया है। वे कहते हैं कि ये कड़ियाँ परस्पर ऐसे जकड़े रहती हैं कि नामरूप की व्यवस्था जन्म जन्मान्तर तक बनी रहती है। इन बारह कड़ियों के चक्र को भवचक्र या द्वादशनिदान कहा गया है। यह भवचक्र भूत एवं वर्तमान से होते हुए भविष्योन्मुखी होता है। जैसे—

१. अविद्या एवं २ संस्कार—ये **पूर्वजीवनों के परिणाम** हैं।

३. विज्ञान, ४ नाम-रूप, ५. षडायतन, ६. स्पर्श, ७. वेदना, ८. तृष्णा, ९. उपादान एवं १०. भव—ये **वर्तमान जीवन के परिणाम हैं**।

तथा—११. जाति एवं १२ जरामरण—ये **भविष्योन्मुखी जीवन के परिणाम** हैं।

इस भवचक्र की मूल अविद्या ही है। तथा तृष्णा इस मूल (जड़) को प्रश्रय देती है। दूसरे शब्दों में—अविद्या इस भवचक्र की पितृतुल्य है तथा तृष्णा मातृतुल्य।

३. दुःखनिरोध—भगवान् बुद्ध के मत में यह तृतीय आर्यसत्य है। इसका अर्थ है—

निर्वाण की प्राप्ति। निर्वाण का वाच्यार्थ है—बुझा हुआ दीपक। जिस प्रकार दीपक जलकर बुझ (शान्त हो) जाता है, उसी प्रकार, शील समाधि एवं प्रज्ञा के आश्रय से साधक का भवचक्र समाप्त हो जाता है। यों, इन (उपर्युक्त) बारह कड़ियों का अन्त हो जाता है। साधक की यह स्थिति सांसारिक शब्दों और अनुभवों से अतीत (परे) होती है, अत: यह मूक या अर्निवचनीय भी कही जा सकती है। इस निर्वाण (शान्त) को 'लय' भी कहा जाता है।

४. **दु:खनिरोधगामी मार्ग :** अभी ऊपर निर्वाण को अनिर्वचनीय (अकथ्य) कहा गया है। कोई विचारक इसे अभावात्मक शून्य कहते हैं तथा कोई इसे दु:खों का अन्त कहते हैं। निर्वाण का स्वरूप विचारकों की कल्पना को सदा हरा भरा किये रहेगा, परन्तु इसके स्वरूप को मार्ग द्वारा समझा जा सकता है, और प्राप्त भी किया जा सकता है।

इस दु:खनिरोध मार्ग को बौद्धों की भाषा में, **आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग** कहते हैं। यह चतुर्थ आर्यसत्य सर्वाङ्गीण है; क्यों कि इसमें आचार ज्ञान एवं साधन रूप समाधि भी सम्मिलित है। जैसे—

यह मार्ग आठ प्रकार है है; जैसे—१. सम्यग्दृष्टि, २. सम्यक्सङ्कल्प, ३. सम्यग्वाक्, ४. सम्यक्कर्म, ५. सम्यगाजीव, ६. सम्यक्स्मृति, ७. सम्यग्व्यायाम एवं ८. सम्यक्समाधि। यहाँ—

१. सम्यग्दृष्टि एवं २. सम्यक्सङ्कल्प—**प्रज्ञा** के सहारे से सिद्ध होते हैं।

३. सम्यग्वाक्, ४. सम्यक्कर्म, ५. सम्यगाजीव एवं ६ सम्यक्स्मृति ये **शील** (सदाचार) के सहारे से सिद्ध होते हैं। तथा—

७. सम्यग्व्यायाम एवं ८. सम्यक्समाधि—ये दो मार्ग **समाधि** के सहारे से सिद्ध हो पाते हैं।

समाधि-इस शब्द की निरुक्ति है—सम्=आ=धि। अर्थात् सभी मानसिक वृत्तियों का समीकरण। इसमें चित्त की एकाग्रता एवं चित्तवृत्तिनिरोध—दोनों ही एक साथ पाये जाते हैं। सामान्यत: समाधि की चार अवस्थाएं होती हैं—

१. पहली अवस्था में साधक तर्कवितर्क के आधार पर आर्यज्ञान को स्थिर कर शान्त-चित्त हो जाता है। (प्रथम ध्यान)

२. दूसरी अवस्था में सभी तर्कवितर्कों, शङ्का-सन्देहों के नष्ट हो जाने पर चित्त की स्थिरता की प्राप्ति, जिसके कारण शान्ति का अनुभव होता है। (द्वितीय ध्यान)

३. तृतीय चरण में साधक आनन्द का अनुभव करता है। (तृतीय ध्यान) तथा

४. अन्त (चतुर्थ अवस्था) में सुख दु:ख विहीन होकर वह उपेक्षाभाव को प्राप्त करता है। (चतुर्थ ध्यान)

आगे चलकर, इसी समाधि को आठ चरणों में विभक्त किया जाता है। आदि के चार

चरणों की समाधि को रूपलोक समाधि कहा गया है; क्यों कि इसमें चित्त को टिकाये (स्थिर) रखने के लिये रूप अथवा आलम्बन की आवश्यकता होती है। परन्तु अन्तिम चार चरणों में यही समाधि सूक्ष्म से सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम होती जाती है। उस अवस्था में न रूप रहता है और न आलम्बन।

यह आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग बौद्ध धर्म का साधना पक्ष है।

बुद्ध के तीन काय : बौद्धों ने भगवान् बुद्ध के तीन **काय** माने हैं, जिन में १. रूपकाय, २. सम्भोगकाय ३. धर्मकाय एवं ४ धर्मकाय। इनमें १ रूपकाय को ही निर्माणकाय भी कहता है। बुद्ध शाक्यमुनि के रूप में समझे जाते हैं। इसलिये भगवान् के ऐतिहासिक एवं शारीरिक रूप को निर्माणकाय या रूपकाय कहते हैं। २. सम्भोगकाय के बुद्ध स्वर्ग के देवता के रूप में माने जाते हैं, जिन्हें उस रूप में स्वर्ग का आनन्द उपलब्ध होता है। तथा ३.धर्मकाय बुद्ध का वह रूप है जिसमें उनकी शिक्षा एवं चर्चा है। जिस रूप में वे समस्त ब्रह्माण्ड का सञ्चालन करते हैं। इस रूप में वे ईश्वरतुल्य भी है और परम तत्त्व भी। यह धम्मपद इसी काय का परिणाम है।

कहीं कहीं उससे भी ऊपर बुद्ध का एक चतुर्थ काय भी माना गया है, जिसको महासुखकाय कहा गया है।

बौद्धधर्म में आचार की प्रधानता : भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को दृढतापूर्वक सदाचार का पालन करना इङ्गित किया है। मनुष्य का अच्छा या बुरा होना, पापी या पुण्यात्मा होना उसकी क्रियाओं तथा आचरण पर निर्भर है। अतः मनुष्य को सदैव यह ध्यान में रखना चाहिये कि वह सदा सत्कर्मसम्पन्न एवं सदाचारयुक्त रहने का ही प्रयास करे।

बौद्धदर्शन **कर्मवाद एवं पुनर्जन्म** में भी विश्वास रखता है। इनका मानना है कि मनुष्य कर्म के अनुसार ही जन्म लेता है तथा कर्मबन्धनों के छूट जाने से मनुष्य का निर्वाण हो जाता है।

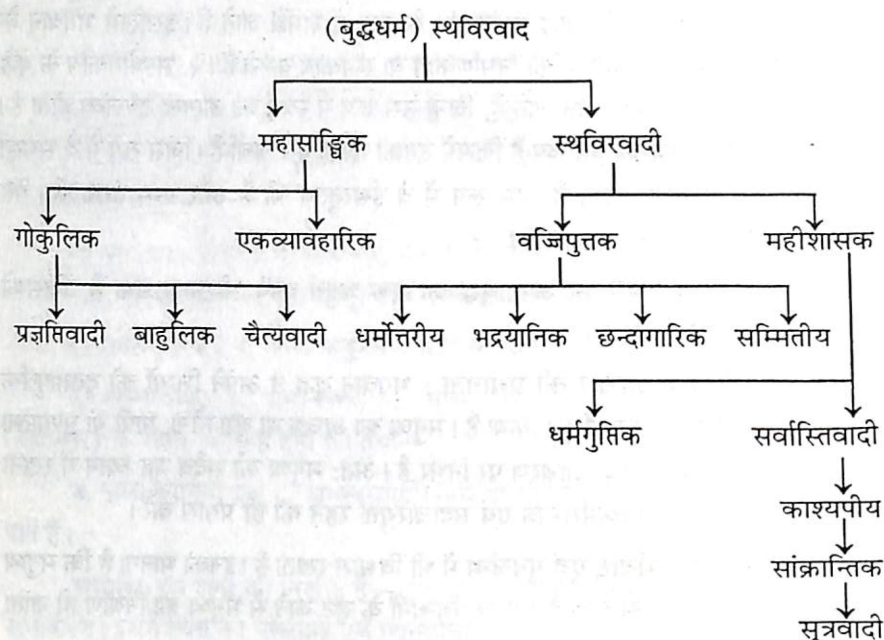
साधनाहेतु बौद्धों का मध्यममार्ग : बुद्धोपदिष्ट साधना में तप की पराकाष्ठा गर्हित समझी गयी है। उनका मानना है कि अधिक शारीरिक या मानसिक कष्ट सहन करना उचित नहीं। इसी प्रकार भगवान् ने मनुष्य का सांसारिक योगों में अधिक लिप्त रहना भी निन्दनीय ही कहा है। इन दोनों सीमाओं (मर्यादाओं) का त्याग बताते हुए उन्होंने एक ऐसे मध्य मार्ग का उपदेश किया, जिसमें न अत्यधिक तपस्या करनी पड़ती है और न अधिक भोग की कामना।

बौद्धों के तीन रत्न : भगवान् बुद्ध ने बौद्ध धर्म में सभी श्रद्धालुओं को तीन ही उपास्य बताये हैं : १. बुद्ध, २. धर्म, एवं ३. सङ्घ। प्रत्येक बौद्धमतावलम्बी को इन तीन के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास रखते हुए इन्हें प्रणाम करना इनकी शरण में जाना अत्यावश्यक बताया गया है; फिर भले ही वह भिक्षु हो या भिक्षुणी, श्रामणेर हो या श्रामणेरी, या फिर साधारण उपासक या

उपासिका ही क्यों न हो; सभी को इन तीनों के प्रति आजीवन नतमस्तक रहना आवश्यक है। तभी उनकी धर्मवृद्धि एवं पुण्यवद्धि हो पायगी।

२. बौद्धधर्म की परवर्ती शाखाएं

आरम्भ में समस्त बौद्ध स्थविरवादी थे परन्तु आगे चलकर इस बौद्ध सम्प्रदाय में मतभेदों के कारण स्थविरवाद में अनेक विभाजन हो गये। इस विभाजन के कारण , यह बौद्ध सम्प्रदाय अठारह भागों में विभक्त हो गया, जो **दीपवंस** एवं **महावंस** ग्रन्थों के अनुसार इस प्रकार है—



महायानशाखा—भगवान् बुद्ध ने जगत्सृष्टि एवं ईश्वर से सम्बद्ध प्रश्नों को अनिर्वचनीय एवं अव्याकृत करते हुए मौन धारण कर लिया था। परन्तु उनके परवर्ती मतावलम्बियों ने सृष्टि एवं ईश्वर आदि से सम्बद्ध प्रश्नों पर स्वाभिमत प्रकट करना आरम्भ कर दिया। वस्तुस्थिति यह है कि संसारसमुद्र में आकण्ठनिमग्न अतएव भयभीत मनुष्य को किसी न किसी आधार की अत्यधिक आवश्यकता होती है। मनुष्य एकान्ततः स्वालम्बी नहीं हो पाता। इस अवस्था में उसे किसी न किसी कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ की आवश्यकता हुआ ही करती है फिर वह भले ही ईश्वर हो, दैवी सामर्थ्ययुक्त कोई देवता हो या उसकी अन्य कोई संज्ञा हो जो उस प्राणी को पूजा अर्चा के माध्यम से पार लगा दे। यहाँ मनोवैज्ञानिक पद्धति से विचार करें तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यदि हमें किसी से सहायता की आशा हो, फिर वह

सहायता अंतिम क्षण तक भले ही मिले या न मिले, हम साहस एवं उत्साहपूर्वक उस कार्य में व्यापृत रहते हैं। यदि वैसे सहारे की आशा न हो तो हम आरम्भ में ही साहस एवं उत्साह छोडकर उस कार्य में किनारा कर लेते हैं तथा अपने को असहाय अनुभव करते हुए चुपचाप एक ओर बैठ जाते हैं। इन्हीं सब कारणों एवं कमियों की पूर्ति के लिये पश्चाद्वर्ती बौद्धधर्म में **महायानशाखा** का उद्भव हुआ, जिसमें ईश्वर के स्थान पर गुरु की पूजा होने लगी तथा नानाविध आडम्बर रचे जाने लगे।

इस प्रकार, इन महायानियों द्वारा बौद्ध साहित्य में भी, संस्कृत पुराण-साहित्य के समान बुद्ध जन्म सम्बन्धी हजारों कहानियाँ कल्पित कर ली गयी। उनका प्रचार-प्रसार भी प्रबलता से होने लगा। महायान मतावलम्बी बौद्ध समस्त प्राणिवर्ग के दु:खमुक्त होने की कामना करने लगे, जबकि हीनयानी (स्थविरवादी) स्वयं के अपने निर्वाण तक ही सीमित रह गये। इस लुभावने प्रलोभन के कारण भी जनता महायान की ओर अधिक से अधिक आकृष्ट होती गयी।

इस प्रकार, बौद्धों की इस महायानशाखा में , समय पाकर, हिन्दू धर्म का पूर्ण स्वरूप ही दृग्गोचर होने लगा। इसमें बुद्ध को सर्वशक्तिमान् मान लिया गया, तथा जिस प्रकार हिन्दुओं के विष्णु समय समय पर अवतार ग्रहण करते हैं, उसी तरह बुद्ध भी अवतार मान लिये गये। इस काल में भगवान् बुद्ध की भी एक से एक उत्कृष्ट नेत्रमुग्धकारी मूर्तियाँ बनने लगीं। तथा उनकी पूजा अर्चना भी धूप दीप नैवेद्य से होने लगी। वहाँ बौद्ध भिक्षु ही पौरोहित्य करने लगे। अस्तु।

चार दार्शनिक शाखाएं : इसी शाखाप्रभेद के समय इस बौद्ध धर्म की चार दर्शन-शाखाएं भी प्रस्फुटित हुई, जो आगे चलकर क्रमशः सर्वास्तिवाद (वैभाषिक), सौत्रान्तिक, योगाचार एवं मध्यमक नाम से दर्शनजगत् में प्रख्यात हो गयीं।

१. सर्वास्तिवाद—आरम्भ में उपर्युक्त अट्ठारह निकायों (सङ्घभेदों) में धर्मगुप्तिक, महीशासक एवं काश्यपीय निकायों को अभिमत सर्वास्तिवाद ही आर्यावर्त्त में सबसे अधिक प्रभावशाली, प्रचार, प्रसार एवं मान्यता स्थिति में था। इन सर्वास्तिवादियों का सिद्धान्त था कि इस दृश्यमान जगत् में जो कुछ भी बाह्य या आध्यात्मिक पदार्थ है उन सबकी सत्ता है। ये सर्वास्तिवादी बहुत पहले ही स्थविरवादियों से पृथक् हो गये थे। प्रसिद्ध चीन यात्री इत्सिंग के यात्राविवरण से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उसकी यात्रा के समय इस देश में बौद्ध सम्प्रदाय के अन्तर्गत जिन चार निकायों की प्रमुखता थी, उनमें एक यह मूलसर्वास्तिवाद भी था। उपर्युक्त तीनों निकायों में इस सर्वास्तिवाद से कुछ भी भिन्नता नहीं है, अत: वे निकाय भी इसी के अन्तर्गत माने जाते हैं।

परन्तु आर्यावर्त के गन्धार एवं कश्मीर प्रदेश में यह सर्वास्तिवादनिकाय **वैभाषिकनिकाय** नाम से प्रसिद्ध था। इस निकाय की **ज्ञानप्रस्थान**ग्रन्थ पर **विभाषा**नामक

व्याख्या थी। इस व्याख्या के रचयिता थे भदन्त वसुमित्र। तथा ज्ञानप्रस्थान के रचयिता थे सर्वास्तिवादी कात्यायनीपुत्र। इस विभाषा का रचनाकाल सम्राट् कनिष्क से परवर्ती रहा है। इस व्याख्या में सर्वास्तिवादी सभी प्रमुख आचार्यों के मत यथास्थान उद्धृत कर दिये गये हैं कि पाठकगण जिस मत को उचित समझें ग्रहण ले। विभाषा का अर्थ ही है—विकल्प। इस विभाषा शास्त्र पर आचार्य वसुबन्धु ने स्वोपज्ञ भाष्यसहित **अभिधर्मकोश** का प्रणयन किया।

वैभाषिकनय—इन वैभाषिकों का मत है कि यह समस्त जगत् विषय एवं विषयभेद से द्विधा विभक्त किया है। विषयिगत विभाग में-पाँच स्कन्ध, बारह आयतन एवं अठारह धातुओं का परिगणन है। इसी तरह विषयगत विभाग भी संस्कृत एवं असंस्कृत धर्म-भेद से दो प्रकार का है। वहाँ संस्कृत धर्म अस्थायी, अनित्य, गतिमान् एवं साश्रव है; तथा असंस्कृत धर्म शाश्वत, नित्य निश्चल एवं अनाश्रव (निर्विकार) है।

वैभाषिकों के मत में-सभी वस्तुएँ चार क्षणमात्र स्थायी रह पाती हैं। उन चार क्षणों में पहला उत्पत्तिक्षण, दूसरा स्थिति (अस्तित्व) क्षण, तीसरा विलयक्षण एवं चतुर्थ और अन्तिम विनाशक्षण। यही बौद्धों का **क्षणिकवाद** कहलाता है।

वैभाषिकों के मत में—पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु ये चार ही तत्त्व हैं; आकाश को वे तत्त्व नहीं मानते। परमाणुओं के परस्पर संयोग से ही कोई वस्तु अपना आकार ग्रहण करती है। तथा ये सभी वस्तुएं अन्त में परमाणु में ही लीन हो जाती है-ऐसा वे मानते है। वे द्व्यणुक या त्र्यणुक की सत्ता स्वीकार नहीं करते। उनके मत में—परमाणुओं में भी रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श है; परन्तु उनके अतीन्द्रिय होने के कारण साधारण जन को उनका अनुभव नहीं हो पाता। हाँ, उन्हीं परमाणुओं के सङ्घात रूप में उपस्थित होने के बाद इनमें रूपादि का अनुभव होता ही है।

वैभाषिक विज्ञान (मन या चित्त) को ज्ञानग्राहक मानते है। इनका यह चित्त नैयायिकों के आत्मा एवं मन के मिश्रित रूप के समान है। यहाँ वैभाषिकों का यह माना है—विषयों के साथ सम्पृक्त हो कर इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसे चित्त को समर्पित कर वे इन्द्रियां स्वयं उपरत हो जाती हैं। ये इन्द्रियाँ भौतिक तत्त्व सम्भूत नहीं है-यह भी उनका मन्तव्य है।

वस्तुत: वैभाषिकों का यह सर्वास्तिवाद उन विज्ञानवादियों का प्रतिद्वन्द्विमात्र है, जो सब कुछ केवल चित्त है—ऐसा मानते हैं; क्यों कि 'सर्वमस्ति' इस प्रतिज्ञामात्र से किसी का ऐक्य सिद्ध नहीं हो जाता। यह 'सर्व' शब्द कुछ बाह्य पदार्थों का अपने में समावेश कर चरितार्थ हो चुका, तब वह विवक्षित अर्थ को क्या बतायगा! यह बाह्य अर्थ भी, दूसरे दार्शनिकों की तरह, उनकी दृष्टि में चिरानुवृत्त नहीं होता, न अन्यसलक्षण ही है, और न नित्यैकहेतुक है; अपितु क्षणिक है, स्वलक्षण है, तथा स्वपूर्वक्षणलक्षणहेतूपनिबन्धक है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि बौद्ध केवल प्रत्यक्ष एवं अनुमान—दो ही प्रमाण मानते हैं।

२. **सौत्रान्तिकवाद :** इस मत के अनुयायी त्रिपिटक में बुद्धप्रोक्त सूत्रों को ही प्रमाण मानते हैं। ये सौत्रान्तिक भी सर्वास्तिवादी ही है। ये सौत्रान्तिक बाह्य जगत् की सत्ता को अनुमान से प्रमाणित करते हैं, न कि प्रत्यक्ष प्रमाण से। उनकी मान्यता है—"जब सब कुछ क्षणिक है तब किसी को प्रत्यक्ष कैसे सिद्ध किया जा सकता है! जिस क्षण में जो वस्तु किसी के साथ सम्बद्ध होती है, उसमें उसी क्षण परिवर्तन आ जाता है, केवल उसका प्रतिबिम्ब चित्त में रह जाता है। इस प्रतिबिम्ब के आधार पर उसको अनुमान के द्वारा ही जाना जा सकता है।" इनके मत में ज्ञान स्वसंवेदक है। जैसे दीपक अपना ज्ञान स्वयं कराता है (उसके ज्ञान के लिये दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं होती); उसी प्रकार ज्ञान भी स्वयं ही अपना ज्ञान कराता है। ज्ञान की यही संवेदनप्रक्रिया विज्ञानवादियों को भी अभिप्रेत है।

सौत्रान्तिक वैभाषिकों की तरह, ईश्वर या आत्मा की सत्ता नहीं मानते। उनके मत में, जगत्सृष्टि अनादि एवं अनन्त है। इस जगत् का रचयिता कोई नहीं है। ईश्वर द्वारा जगत् की सृष्टि-रचना का खण्डन उन्होंने प्रबलयुक्तियों एव प्रमाणों से किया है। सौत्रान्तिकों के मत में यह समस्त जगत् दुःखसम्पृक्त है। सामान्य लौकिक जन जिस को सुखरूप मानते या अनुभव करते हैं वह भी वस्तुतः दुःखरूप ही है।

सर्वास्तिवाद को मनने वाले ये दोनों ही निकाय (वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक) स्थविर (हीनयान) वाद के ही अन्तर्गत हैं-ऐसी विद्वानों की सम्मति है। परन्तु आचार्य नरेन्द्रदेव अपने **बौद्धधर्मदर्शन** में लिखते हैं—यद्यपि सौत्रान्तिकों का परिगणन हीनयान के ही अन्तर्गत किया जाता है, परन्तु इन (सौत्रान्तिकों) के कुछ मत महायान (योगाचार एवं मध्यमक) मत से भी मेल खाते हैं। अतः यह कहना चाहिये कि यह सौत्रान्तिवाद बौद्ध सिद्धान्तों में संक्रमणावस्था को दयोतित करता है। (बो.ध.द.पृ. १२८)

३. **मध्यमकवाद :** सर्वशून्यवादी 'मध्यमक' जिन्हें माध्यमिक भी कहा जाता है) यह मानते हैं—सभी वस्तुएँ स्वगुणों की समाहर्तामात्र है। ऐसा मानने पर आत्मा स्वगुण चैतन्य से अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता । यदि आत्मा अपने दर्शन-स्पर्शनादि कर्मों से अतिरिक्त है तो क्या ये कर्म भी आत्मा के विना स्वतन्त्र रूप से नहीं हो सकते!

इनके मत में यह समस्त चराचर जगत् शून्य है। यह शून्य क्या है? शून्य कहते है सद् असद् विशिष्ट कोई अनिर्वचनीय परम तत्त्व को। यह परमतत्त्व न भाव है न अभाव।[१] यही इन माध्यमिकों का मध्यममार्ग कहलाता है। यद्यपि शून्यवादप्रतिपादक ग्रन्थों में बीस प्रकार की शून्यताएँ गिनायी गयी हैं। परन्तु ये माध्यमिक शून्य को ही परम तत्त्व मानते हैं। इस परमतत्त्व को तर्क से नहीं तोला जा सकता; क्योंकि यह सदसद्विलक्षण है।

---

१. न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यभयात्मकम्।

चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं, तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥

४. योगाचार (विज्ञानवाद) : आर्य असङ्ग इस (विज्ञान) वाद के प्रथम प्रवाचक रहे, तथा आर्य मैत्रेय इसके प्रतिष्ठापक। प्रसिद्ध **महायानसूत्रालङ्कार**ग्रन्थ इन दोनों की सम्मिलित रचना है। वहाँ मूलकारिका आर्य मैत्रेय की है तथा उनकी टीका (व्याख्या) आर्य असङ्ग ने की है। आर्य असङ्ग का यह दर्शनग्रन्थ समन्वयमूलक है। इसमें वैभाषिकों का पुद्गलनैरात्म्य, सौत्रान्तिकों का क्षणिकवाद तथा आचार्य नागार्जुन आदि माध्यमिकों का शून्यतावाद—ये सभी वाद प्रतिपादित हैं। परन्तु आर्य असङ्ग का यह समन्वय पारमार्थिक विज्ञानवाद है। इस विज्ञानवाद को अद्वयवाद ही मानना चाहिये, जहाँ द्रव्य का अभाव प्रतिपादित किया है।

इस वाद में 'योग' को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। इनकेमत में-योग का आश्रयण कर के ही सम्बोधि प्राप्त की जा सकती है। इस मत में, विज्ञान ही सत्त्व है। यह समस्त दृश्यमान एवं अनुभूयमान आध्यात्मिक एवं भौतिक जगत् विज्ञान पर आधिष्ठित है तथा विज्ञानमय है। यह सर्वात्मक विज्ञान आलयविज्ञान कहलाता है, जो काल एवं स्थिति के भेद से अनन्त भेदों में विभक्त होजाता है। उनकी मान्यता है कि यह समस्त जगत् आलयविज्ञान से ही उत्पन्न होता है, तथा आलयविज्ञान में ही लीन हो जाता है।

इस वाद के अनुसार, **आठ विज्ञान** होते हैं। जैसे—१.चक्षुर्विज्ञान, २. श्रोत्रविज्ञान, ३. घ्राणविज्ञान, ४ जिह्वाविज्ञान, ५. कायविज्ञान, ६ मनोविज्ञान, ७. क्लिष्टमनोविज्ञान ८ एवं आलयविज्ञान।

इस मत में-तीन प्रकार का ज्ञान स्वीकृत है, जैसे—१. परिकल्पित, २. परतन्त्र, तथा ३. परिनिष्पन्न। १. स्वप्नावस्था में प्राप्त ज्ञान **परिकल्पित** कहलाता है; क्योंकि उस ज्ञान की आधार केवल कल्पना होती है। २. तथा जिस (ज्ञान) के लिये कोई पूर्वज्ञान अपेक्षित है वह **परतन्त्र** कहलाता है, जैसे—भावी कल (श्व) के नील ज्ञान में आज (वर्तमान) का नील ज्ञान कारण है। अतः यह श्वस्तन नीलज्ञान परतन्त्र है। वहाँ वर्तमान (इदानीन्तन) नीलज्ञान बीजरूप से अवस्थित रहता है। जब ऐसे बीजज्ञान उत्पन्न नहीं होते तब उन पूर्वज्ञानों का क्षय होने लगता है तब वह ज्ञान **परिनिष्पन्न** कहलाता है।

इनमें, परिकल्पित ज्ञान भ्रान्तिमात्र है, जैसे—रज्जु में सर्पज्ञान। परतन्त्र ज्ञान भी व्यवहारमात्र है, जैसे—रज्जु में रज्जुत्वप्रकार का ज्ञान। हाँ, परिनिष्पन्न ज्ञान पारमार्थिक सत्य है, जैसे—यह समस्त जगत् बुद्धिमय है। यह परिनिष्पन्न ज्ञान योगाभ्यास से प्राप्त किया जा सकता है। संसार में व्यक्तिभेद अविद्यामूलक है। विज्ञान से कर्मसंस्कारों का संयोग ही अविद्या में मूल (कारण) है। अविद्या से ही सुख एवं दुःख का शुभ एवं अशुभ का तथा साधु एवं असाधु का भेद प्रतीत होता है। जिन प्रयत्नों से विज्ञान का शुद्ध रूप विकास को प्राप्त होता है, उसी से मुक्ति (मोक्ष) की कल्पना की जा सकती है।

इस तरह वह इन चारों बौद्धनिकायों दिग्दर्शनमात्र करा दिया गया है, विस्तृत ज्ञान तो इन निकायों के उन उन ग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन से ही हो पायगा।

३. बौद्ध धर्म का वैशिष्ट्य

१. सभी जानते है कि बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म की आडम्बरप्रियता की प्रतिद्वन्द्विता में स्थापित हुआ है। अतएव इस (बौद्ध) धर्म में हिंसाबहुल यज्ञों का पूर्ण विरोध किया गया है।

२. बौद्ध धर्म आचारप्रधान है, अतः इसमें सदाचार के सतत पालन पर विशेष बल दिया गया है।

३. बौद्ध धर्म में निराशावाद का अधिक प्रख्यापन है। बौद्ध मतावलम्बी साधक जीवन को निराशामय एवं दुःखबहुल समझते हैं। अत एव इसमें इस दुःख से मुक्ति पाने के विशेष उपाय (साधनामार्ग) बताये गये हैं।

४. बौद्ध धर्म का कर्मवाद में पूर्ण विश्वास है। इसके मत में मनुष्य को अपने कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है। तथा यह कर्मफल भोगने के लिये उस को विविधजन्मों में आना पडता है।

५. इस धर्म में, मानवमुक्तिहेतु ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं समझी गयी। अत एव भगवान् बुद्ध ने ईश्वरकृत सृष्टिसिद्धान्त के विषय में मौन ही रखा।

६. इस धर्म में ज्ञान एवं भक्ति के अतिरिक्त कर्म एवं सदाचार पर अधिक बल दिया गया है।

४. भारतीय संस्कृति पर बौद्धधर्म का प्रभाव

बौद्ध धर्म में सदाचार पालन पर अधिक बल देने तथा इसकी साधना अपेक्षाकृत सरल होने के कारण भारतीय जनमानस के हृदय पर इसके आध्यात्मिक प्रभाव के साथ साथ व्यावहारिक प्रभाव भी पड़ा। जिसके कारण बौद्धधर्म के अभ्युदयकाल में भारत ने साहित्य एवं कला के क्षेत्र में चतुर्मुख उन्नति की।

१. सरल एवं लोकप्रिय होने के कारण इस धर्म के द्वार सभी के लिये खुले हुए थे। इस धर्म की साधना हिन्दुओं के धार्मिक कर्मकाण्ड के समान जटिल नहीं थी। साथ ही इसमें यह बात महत्त्वपूर्ण थी कि इसमें शील (सदाचार) पालन पर अत्यधिक बल दिया जाता था, जो जनसाधारण के हृदय को सरल साधना के रूप में अनायास ही आकृष्ट करती थी।

२. पालि के समस्त साहित्य का प्रणयन भगवान् बुद्ध के समय के ही आरम्भ हुआ। पालिभाषा में रचित त्रिपिटक का भारतीय साहित्य में अपना विशेष महत्त्व है। साथ ही पालिभाषा का ज्ञान भाषाविज्ञान एवं संसार की प्राचीन भाषाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने में अत्यधिक महत्त्व माना जाता है।

३. कलाओं के माध्यम से चित्रकारों की तूलिका में,मूर्त्तिकारों की छेनी में एवं नर्तक की मुद्रा में भी भारतीय संस्कृति के विशिष्ट परिवर्तन का प्रभाव बौद्धकाल में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अजन्ता एलोरा की चित्रकला, कार्ले आदि की बौद्धगुफाएँ, सांची, भरहुत या

अमरावती तथा मथुरा के स्तूप, सारनाथ का अशोकस्तम्भ आदि बौद्ध काल की भारतीय कला के आदर्श उदाहरण हैं।

४. इस धर्म के सदाचार, लोकसेवा, त्याग आदि ऐसे उच्च आदर्श थे जिनका प्रभाव भारतीय जनमानस पड़ना स्वाभाविक था। महायानमतावलम्बी बौद्धों ने तो स्वार्थ (निर्वाण) को महत्त्व न देकर प्राणिमात्र का दुःख दूर करना एवं उन (साधरण जन) की निर्वाणप्राप्ति में सहयोग करना अपने जीवन का लक्ष्मय मान रखा था।

बौद्ध धर्म की इन बातों का तत्कालीन भारतीय संस्कृति पर ऐसा अमिट प्रभाव पड़ा था जो आज भी स्पष्ट दिकायी देता है।

सम्राट् अशोक के समय बौद्धधर्म अपने चरम उत्कर्ष पर था। भारत तथा विश्व में बौद्धधर्म के प्रचार का अधिकतम श्रेय सम्राट् अशोक को ही जाता है। उन्होंने अपने पुत्र महेन्द्र एवं पुत्री सङ्घमित्रा को प्रव्रज्या दिलवा कर बौद्धधर्म के प्रचार हेतु सिंहल द्वीप (श्रीलङ्का) भेजा था।

चीन, जापान, कोरिया, मध्य एशिया, स्याम (थाइलैण्ड), जावा, सुमात्रा, बर्मा (म्यांमार), अफगानिस्तान, ईरान, आदि देशों में भारतीय संस्कृति का पवित्र ध्वज बौद्ध धर्मावलम्बियों ने ही फहराया था।

५. बौद्ध धर्म के साथ हिन्दू धर्म की समानता तथा विषमता

१. दोनों ही (हिन्दू बौद्ध) धर्म कर्मवाद एं पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं।

२. दोनों ही धर्मों का साध्य है—जन्म जरा व्याधि एवं मृत्यु से छुटकारा पाना।

३. हिन्दू धर्म ईश्वरवादी है, पर भगवान् बुद्ध इस विषयमें मौन रहे।

४. हिन्दू धर्म में सृष्टि से सम्बद्ध नाना धारणायें हैं, परन्तु भगवान् बुद्ध मौन हैं।

५. हिन्दू धर्म में भक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि आरम्भ में बौद्धधर्म में भक्ति का कोई स्थान नहीं था, वे केवल सत्कर्म एवं सदाचार पर ही बल देते रहे; परन्तु आगे चलकर, महायानशाखा के उद्भव के बाद, अवतारवाद, मूर्तिपूजा एवं पौराणिक गाथाओं का बौद्धों में भी आरम्भ हो गया।

६. पालिभाषा का उद्गम

आर्यभाषा : किसी विशिष्ट जनसमूह द्वारा स्वाभिलषित मनोभावों को प्रकट करने के लिये प्रयुक्त (उच्चरित) पदसमूह या वाक्यसमूह को **भाषा** कहते हैं। यह भाषा दो प्रकार की होती है-पहली **साहित्यिक भाषा** (जो साहित्य लिखने में प्रयुक्त की जाय) व्याकरण आदि नियमों से परिपुष्ट होती है। दूसरी है—**कथ्य भाषा** (साधारण बोलचाल की भाषा) यह अपेक्षाकृत व्याकरण आदि नियमों से श्लथ (दुर्बल) रहती है।

इनमें से जो भाषा अति प्राचीन काल से भारतीय जनों की कथ्य भाषा थी, जिसमें

भगवान् बुद्ध या महावीर आदि प्राचीन सन्तों ने अपने पवित्र सिद्धान्तों का जनता को उपदेश किया, जिस भाषा को बौद्ध और जैन विद्वानों ने विविधविषयक विपुल साहित्य की रचना द्वारा समृद्ध किया और जिस भाषा में काव्यनिर्माण कर महाकवियों ने अपनी अनुपम प्रतिभा का परिचय दिया, संस्कृत भाषा के नाटकों में भी जिस भाषा का प्रचुर प्रयोग दिखायी देता है, या जिस भाषा से वर्तमान भारतीय भाषाओं की उत्पत्ति हुई है और जो वर्तमान में भारत के विभन्न प्रान्तों में बोली जाती है, उन सब भाषाओं का साधारण नाम है—**प्राकृत**। ये सभी भाषाएं प्राकृत के ही भेद के रूप में मानी जाती हैं। देश या काल की भिन्नता के कारण इनमें यह भेद आया है। इसीलिये आज भी इन भाषाओं के साथ विद्वानों द्वारा प्राकृत शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे—अर्धमागधी प्राकृत, पालि प्राकृत, पैशाची प्राकृत, शौरसेनी प्राकृत, महाराष्ट्री प्राकृत, अप्रभंश प्राकृत हिन्दी प्राकृत आदि।

भाषाततत्त्वविदों ने आधुनिक कथ्य भाषाओं को पाँच भागों में बाँटा है—१. आर्य, २. द्राविड, ३. मुण्डा, ४. मन-ख्मेर और ५ तिब्बत चीना।

१. वर्तमान मराठी, बंगला, उडिया, विहारी, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, सिन्धी, व काश्मीरी आदि भाषाएँ आर्यभाषा से ही उत्पन्न मानी जाती हैं। पारसी, अंग्रेजी, जर्मन आदि अनेक आधुनिक यूरोपीय भाषाओं की भी आर्यभाषा ही जननी है। भाषागत सादृश्य को प्रमाण मानकर भाषतत्त्वविदों की यह मान्यता है कि वर्तमान में विच्छिन्न और बहुदूरवर्ती आर्यभाषाभाषी समस्त जातियाँ और उक्त यूरोपीय भाषाभाषी सभी आर्यजातियाँ एक ही आर्यवंश से उत्पन्न हुई हैं।

२. तमिल, तेलगु आदि भाषाएँ द्राविड के अन्तर्गत मानी जाती हैं।

३. कोल, सन्थाली आदि भाषाएँ मुण्डा भाषा में अन्तर्भूत हैं।

४. खासी जयन्ती पहाडियों के निवासियों की भाषा मन-ख्मेर भाषा है। और

५. भूटानी या नागालैण्ड आदि प्रदेशों की भाषाएँ तिब्बत-चीन-कुल से सम्बद्ध है।

(आर्यभाषा को छोड़कर) ये बाद में गिनायी गयी चारों भाषाएँ अनार्यभाषा कहलाती हैं, क्यों कि इन भाषाओं का आर्यों से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। यह कितने आश्चर्य की बात है कि ये अनार्य भाषाएँ भारत के ही एक कोने दक्षिण एवं उत्तर और पूर्व में बोली जाती हैं, जबकि सुदूरवर्ती देशों की जर्मन, अंग्रेजी आदि भाषाओं के साथ हमारी भाषा का वंशगत ऐक्य सिद्ध हो गया है! अस्तु।

ये सब कथ्य भाषाएँ आज जिस रूप में प्रचलित हैं, पहले भी इसी रूप में प्रचलित नहीं थी; क्यों कि भाषाओं का रूप देश-कालभेद से निरन्तर बदलता रहता है। देश, काल या व्यक्तिगत उच्चारण के भेद से भाषा में परिवर्तन आना अनिवार्य है। यह परिवर्तन क्रमशः होने के कारण तत्काल ध्यान में नहीं आता, परन्तु पूर्वकाल की भाषा से संरक्षित आदर्श के साथ तुलना करने पर बाद में यह अनायास जाना जा सकता है। प्राचीन काल की जिन भारतीय

भाषाओं का साहित्य आज भी सुरक्षित है, वे हैं—वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पालि भाषा, अशोक एवं उसके बाद की लिपि की भाषा और प्राकृतभाषा-समूह। ये सभी भाषाएँ आर्यभाषा के अन्तर्गत मानी जाती है।

परिणति-क्रम : ये प्राचीन आर्यभाषाएँ किस युग में, किस रूप में, परिवर्तित होकर वर्तमान आर्यभाषाओं का रूप ग्रहण कर गयीं इस पर भी संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है।

वेदों की भाषा ही क्रमशः परिमार्जित होती हुई ब्राह्मण, उपनिषद् एवं यास्क के व्याकरण द्वारा नियन्त्रित होकर लौकिक संस्कृत में परिणत हुई है। पाणिनि आदि के पदप्रभृति नियमरूप संस्कार प्राप्त करने के कारण यह संस्कृत कहलायी। मुख्य रूप से 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग इसी भाषा के अर्थ में किया जाता था। बाद में वैदिक भाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण वेदभाषा के अर्थ में संस्कृत शब्द का प्रयोग होने लगा। आचार्य पाणिनि के बाद संस्कृत में कोई विशेष उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हो पाया।

वैदिक युग में जो प्रादेशिक प्राकृत भाषाएं कथ्य रूप में प्रचलित थी, उनमें परवर्ती काल में अनेक परिवर्तन हुए। जिनमें ऋ, लृ आदि स्वरों का, शब्दों के अन्तिम व्यञ्जनों का, संयुक्त व्यञ्जनों का, तथा विभक्ति एवं वचन-समूह का लोप या रूपान्तर मुख्य है। इन परिवर्तनों से ये कथ भाषाएं प्रचुर परिमाण में रूपान्तरित हुई। इस तरह द्वितीय स्तर की प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति हुई। द्वितीय स्तर की ये प्राकृत भाषाएं बौद्ध और जैन धर्म के प्रचार के समय से ईसा की नवीं शताब्दी तक बहुत प्रचलित रहीं। भगवान् बुद्ध ने तो अपने शिष्यों को स्पष्टतः इन कथ्य भाषाओं में ही लिखने-पढने-बोलने का आदेश दिया था। इस तरह ये कथ्य भाषाएँ भी साहित्यिक भाषा का रूप धारण करने लगी। पलस्वरूप, पूर्वमगध में प्रचलित लोकभाषा से बौद्ध धर्म-ग्रन्थों की **पालिभाषा** उद्भूत हुई और पश्चिम मगध एवं शूरसेन देश के मध्यवर्ती प्रदेश में प्रचलित कथ्य भाषा से जैन-धर्म-ग्रन्थों की **अर्धमागधी प्राकृत** उत्पन्न हुई। ईसा से २५० वर्ष पूर्व सम्राट् अशोक ने भगवान् बुद्ध के उपदेशों के, भिन्न भिन्न प्रदेशों में वहाँ की प्राकृत भाषाओं में, शिलालेख खुदवाये। इन शिलालेखों में द्वितीय स्तर की प्राकृत भाषाओं के उदाहरण विद्यमान हैं। इस स्तर की भाषाओं में चतुर्थी विभक्ति का, सब विभक्तियों के द्विवचन का, आख्यात की अधिकांश विभक्तियों का लोप होने पर भी विभक्तियों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में था। अतः इस स्तर की भाषाएं 'विभक्तिबहुल' कही जाती है।

उक्त प्राकृत भाषा-समूह में पालिभाषा के साथ संस्कृत का अधिक सादृश्य देखा जाता है। अत एव उक्त द्वितीय स्तर की प्राकृत भाषाओं के समूह में पालिभाषा सर्वापेक्षया पुरातन ज्ञात होती है।

पालिभाषा का उत्पत्तिस्थान : इस विषय में विद्वानों का मतभेद है। बौद्ध विद्वान् इस

भाषा को मागधी कहते हैं और इसका उत्पत्तिस्थान मगध देश मानते हैं। परन्तु इस भाषा का मागधी प्राकृत के साथ कोई सादृश्य नहीं है। कुछ विद्वान् पैशाची-प्राकृत के साथ इस भाषा का सादृश्य मानकर पैशाची के उत्पत्ति-प्रदेश (विन्ध्य के दक्षिण या भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश का कोण) को ही इसका उत्पत्तिस्थान मानते हैं। यदि गुजरात स्थित गिरनार के शिलालेख का साक्ष्य माना जाय तो पालिभाषा का उत्पत्तिस्थान भारत का पश्चिम प्रान्त या मध्यदेश होना चाहिये। वहीं से यह भाषा श्रीलंका (सींहल) देश की ओर बढी है।

पैशाची के साथ पालिभाषा का सादृश्य सिद्ध करने के लिये कुछ व्यञ्जनों के समान परिवर्तन को सामने रख सकते हैं। जैसे-क, ग, च, ज, त, र, श, ष, स, न, ट्ट, र्थ, स् इन व्यञ्जनों का संस्कृत से परिवर्तन जहाँ पालि और पैशाची में समान है, वहाँ शौरसेनी या मागधी में वह बात नहीं। अत: भारत का पश्चिमी प्रान्त ही पालिभाषा का उत्पत्ति-स्थान है। वहाँ से वह कोसल, मगध आदि प्रदेशों में पहुँची और वहीं से युवराज महिन्द द्वारा त्रिपिटक के रूप में सींहल (श्रीलङ्का) देश ले जायी गयी।

बौद्ध धर्म-ग्रन्थों की भाषा : पालिभाषा एक विशाल साहित्य और विश्व के एक महत्त्वपूर्ण धर्मदर्शन को अपने में आत्मसात् किये हुए है। अत: आज यह विश्व में एक साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित है। यद्यपि थेरवादी बौद्धों का पूरा त्रिपिटक (बुद्धवचन), उसकी अट्ठकथाएँ, एवं उसका सम्पूर्ण अनुयोगी साहित्य पालिभाषा में है, तो भी भगवान् बुद्ध के बाद से ईसा की छठी शताब्दी तक बौद्ध विद्वान् त्रिपिटक के ग्रन्थों ही पालि नाम से अभिहित करते थे।

वर्तमान में कुछ विद्वानों ने पालि शब्द को संस्कृत के **पंक्ति** शब्द से मान और उसका अर्थ किया बुद्धवचन के पाठ की पंक्ति।

कुछ ने सीधे **पाठ** शब्द से पालि की निष्पत्ति मान ली।

कुछ ने **पर्याय** शब्द के अपभ्रंश से पालि की रचना कर डाली।

कुछ **प्राकृत** शब्द को पालि का मूल मानते है।

कुछ विद्वान् पा या पाल धातु से औणादिक प्रत्ययों द्वारा पालि की निष्पत्ति मानते हैं।

और कुछ विद्वान **पल्लि** शब्द से पालि शब्द का उद्भव मानते हैं। अपने अपने ग्रन्थों में विद्वानों ने बडे घटाटोप के साथ इन सभी मतों का स्थापन किया है।

परन्तु इन सभी मतों पर सब विद्वान् एकमत नहीं हैं।

हमारी तो मान्यता यह है कि यदि अन्य शब्दों से पालि की कल्पना करनी है तो **पल्लि** शब्द से पालि की कल्पना सबसे अधिक सहजबोध्य है। क्योंकि आरम्भ में पालि का नाम पल्लि प्राकृत रहा होगा। पल्लि का अर्थ है ग्राम। (पल्लि शब्द वैदिक युग की प्राकृत भाषा से संस्कृत में आया है:। प्राकृत का अर्थ है—प्राकृत (साधरण जन) की भाषा। पूरे शब्द का अर्थ हुआ—ग्राम में प्रयुक्त सामान्य बोलचाल की भाषा। अर्थात् जिसे उस समय के अधिक से

अधिक लोग बोलते थे, उससे अपना व्यवहार चलाते थे। यह अर्थ मानने से ही **अनुजानामि, भिक्खवे, सकाय निरुत्तिया परियापुणितुं**—इस बुद्धोपदेश के 'सकाय निरुत्तिया' वाक्यांश का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि भगवान् चाहते थे कि उनके उपदेशों का प्रचार-प्रसार ऐसी भाषा में हो जिसको अधिक से अधिक लोग बोलते हों, समझते हों। तभी उनके उपदेशों का अधिक प्रचार होगा और वे उपदेश पारम्पर्येण चिरस्थायी हो सकेंगे। भगवान् के सभी शिष्य संस्कृत में निष्णात विद्वान् हों, ऐसा तो था नहीं।

फिर उस समय पालि केवल ग्रामों की ही भाषा थी-ऐसा कहना भी सर्वांशत: उचित नहीं, अपितु प्रदेशविशेष के ग्रामों की तरह नगरों के जनसाधारण की भी यही भाषा थी। परन्तु सम्भवत: हुआ यह है कि संस्कृत के अनन्य भक्त ब्राह्मणों द्वारा पालि भाषा के प्रति और उसमें अभिहित बुद्धोपदेशों के प्रति अपनी स्वाभाविक घृणा का बोधन करने के लिये इस भाषा को यह नाम दे दिया गया। (जैसे आज भी अपने विरोधी किसी विद्वान् को हम घृणावश 'गँवार' कह बैठते हैं।) बाद में इस नाम का अधिक प्रचार होने के कारण बौद्धों ने भी मागधी के स्थान पर यही नाम स्वीकार कर लिया। जैसे स्थविरवादी बौद्धों ने दूसरों द्वारा उनके मत के लिये द्वेषवश प्रयुक्त 'हीनयान' शब्द को स्वीकार कर लिया था। और क्योंकि बुद्ध के सभी उपदेश इसी भाषा में थे, अत: आगे चलकर बौद्धों ने श्रद्धातिरेक से बुद्धवचनों को ही 'पालि' कहना आरम्भ कर दिया।

संस्कृतभाषा की स्थिति : यह तो स्पष्ट है कि संस्कृत कभी जनसाधारण की भाषा नहीं रही, अपि तु साहित्यिक भाषामात्र थी। या अधिक से अधिक ब्राह्मणवर्ग एवं उससे सम्पृक्त क्षत्रियवर्ग की भाषा मानी जा सकती है। यह बात बाल्मीकि रामायण के एक प्रसंग से सवर्था स्पष्ट हो जाती है। रामदूत हनुमान् जब अशोकवाटिका में सीता के सामने पहुँचे तो उनके सामने यह प्रश्न उठा कि वे सीता से किस भाषा में बात करें? यदि संस्कृत में बात करते हैं तो सीता उन्हें मायावी रावण (जो कि ब्राह्मण होने के कारण संस्कृत भाषा का पारङ्गत था) ही न समझ बैठे। अत: उन्होंने सीता से जनसाधारण की भाषा में बात करना उचित समझा। आदिकवि ने हनुमान् के इन मनोभावों को यों प्रकट किया है—

अहं ह्यतितनुश्चैव, वानरश्च विशेषत:।
वाचं चोदाहरिष्यामि, मानुषीमिह संस्कृताम्॥ १७॥
यदि वाचं प्रदास्यामि, द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां, सीता भीता भविष्यति॥
वानरस्य विशेषेण, कथं स्यादिह भफाषणम्॥ १८॥
अवश्यमेव वक्तव्यं, मानुषं वाक्यमर्थवत्।
मया सान्त्वयितुं शक्या, नान्यथेयमनिन्दिता॥ १९॥

(बा.रा., सु. का., ३० सर्ग)

इससे स्पष्ट है कि उस समय भी जनसाधारण सामान्य आपसी व्यवहार किसी संस्कृतेतर भाषा से करता था। आज भी संस्कृत का बड़े से बड़ा विद्वान् अपने परिवार में अपनी मातृभाषा ही बोलता है। दूसरे, क्या गाँव की भाषा ही साधारण नागरिक आज भी अपने व्यवहार में नहीं लाते!

इन सब तर्कों के आधार पर पल्लि शब्द से ही पालि की निष्पत्ति मानना अधिक जीवनमय लगता है।

रह गयी बात लंका में पालि को मागधी कहने की। इसका उत्तर यह है कि श्रीलंका में मगध देश के युवराज महिन्द द्वारा त्रिपिटक ले जाये जाने कारण वहाँ के विद्वानों ने भ्रमवश इस भाषा को ही मागधी समझ लिया। वहीं से यह यह नाम चल पड़ा और कई शताब्दियों तक यह भ्रम बना रहा। यह भ्रम इतना बद्धमूल हो चुका था कि सातवीं, नौवीं शताब्दी तक के बौद्ध विद्वानों ने भी पालि का यही नाम स्वीकार कर रखा था।

७. पालिसाहित्य

स्थविरवादी (हीनयानी) बौद्धधर्म का समस्त साहित्य पालिभाषा में ही लिखा हुआ (संगृहीत) मिलता है। तत्कालीन बौद्धग्रन्थों का प्रणयन, भारतवर्ष में ही नहीं, लङ्का तथा वर्मा एवं एशिया महाद्वीप के अन्य देशों में भी, पालिभाषा में ही हुआ। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि बौद्धों के धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त अन्य साहित्य का प्रणयन या संग्रह पालि भाषा में अल्पमात्र ही हुआ है।

इस तरह पालिसाहित्य ईसापूर्व चौथी-पाँचवीं शताब्दी से आरम्भ होकर आज तक होता आ रहा है। इस समग्र साहित्य को १. त्रिपिटक या २. त्रिपिटकेतर साहित्य के रूप में विभक्त किया गया है। अतः हम भी पहले त्रिपिटक साहित्य की ही चर्चा करेंगे।

(क) त्रिपिटक :

त्रिपिटक का शब्दिक अर्थ है—तीन पिटारी। अर्थात् तीन पिटकों में संग्रहकारों (सङ्गीतिकारों) ने उस पालिसाहित्य को रखा है जो भगवान् बुद्ध द्वारा साक्षात् प्रोक्त है। इस साहित्य को प्रत्येक बौद्धमतावलम्बी वही महत्त्व एवं पूजा स्थान देता है जो हिन्दू वेदों को तथा ईसाई बाइबिल को देते हैं।

भगवान् बुद्ध ने ८० वर्ष की आयु में महापरिनिर्वाण प्राप्त किया था। इन्होंने बोधिप्राप्ति (३५ वर्ष की आयु) के बाद महापरिनिर्वाण (४५ वर्ष) तक निरन्तर जिज्ञासु जनता को अनुकम्पापूर्वक जो भी धर्मोपदेश किया वह सब अक्षरशः इस त्रिपिटक में संगृहीत है। इसी में सङ्घशासन तथा भिक्षु-भिक्षुणियों की जीवनचर्या से सम्बद्ध नियम भी संगृहीत हैं।

महासङ्गीति : परन्तु भगवान् बुद्ध ने स्वयं किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की। अपितु, उनके महापरिनिर्वाण के पश्चात्, उनके शिष्यों ने, बौद्ध विद्वानों के सान्निध्य में, जिसे उनकी

भाषा में महासङ्गीति कहा जाता है, बुद्धप्रोक्त उन सभी उपदेशों का अक्षरशः यथाविधि संग्रह किया। आज तक समय समय पर ऐसी छह महासङ्गीतियों हो चुकी हैं। परन्तु प्रथम तीन सङ्गीतियों में ही इन उपदेशों का अन्तिम निर्धारण हो चुका था। इन सङ्गीतियों में निर्धारित बुद्धोपदेश-संग्रह को 'त्रिपिटक' नाम दिया गया।

इनमें प्रथम सङ्गीति, बुद्ध के महापरिनिर्वाण के तत्काल बाद, राजगृह में हुई। द्वितीय सङ्गीति, भगवान् के महापरिनिर्वाण के एक सौ वर्ष वाद, वैशाली में हुआ। तथा तृतीय सङ्गीति, सम्राट् अशोक के शासनकाल में पाटलिपुत्र में हुई। इस सम्मेलन में त्रिपिटक की इयत्ता के विषय में निर्णय हुआ, वही आज तक सभी बौद्धमतावलम्बियों का मान्य है।

तीन पिटक : त्रिपिटक के अन्तर्गत (समाहित) तीन पिटकों के क्रमशः ये नाम हैं—१. विनयपिटक, २. सुत्तपिटक एवं ३. अभिधम्मपिटक। यहाँ **विनय** से तात्पर्य है—(क) सङ्घशासन के सञ्चालन हेतु नियम एवं अनुशासनविधि तथा (ख) भिक्षु एवं भिक्षुणियों की जीवनचर्याविधि के नियम। इन्हीं दोनों बातों का विनयपिटकमें विस्तृत वर्णन मिलता है। **सुत्त** का तात्पर्य है—सिद्धान्त। इस पिटक में बौद्धानुमत छोटे बडे सभी सिद्धान्तों का संवादपद्धति में वर्णन है। तथा अभिधम्मपिटक के **अभिधम्म** से तात्पर्य है—बौद्धानुमत धर्म की साधना। अतः इस पिटक में इसी पद्धति का विस्तृत वर्णन है।

१. विनयपिटक : इस पिटक को संग्रहकारों ने तीन भागों में विभक्त किया है, जैसे—(१) विभङ्ग, (२) खन्धक एवं (३) परिवार।

(१) **विभङ्ग** को ही 'पातिमोक्ख' भी कहते हैं। इसमें भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों के लिये, जीवनचर्या को अनुशासित रखने हेतु छोटे बडे नियम वर्णित हैं। जिनकी सङ्ख्या विद्वानों ने २२७ निर्धारित की है। प्रत्येक मास की अमावस्या तथा पूर्णिमा को उपोसथ व्रत रखते हुए सङ्घ एकत्र होकर, इस पातिमोक्ख का पाठ सुनता है, तथा किसी भिक्षु से इन नियमों में शिथिलता आयी हो तो वह उसके लिये सार्वजनिक रूप से क्षमायाच्ञा करता हुआ पश्चात्ताप करता है।

(२) **खन्धक** में दो ग्रन्थ हैं—१. महावग्ग एवं २. चुल्लवग्ग।

१ **महावग्ग** में ये दश खन्धक हैं—१. महास्कन्धक, २. उपोसथखन्धक, ३. वस्सूपनायिकाखन्धक, ४. पवारणाखन्धक, ५. चम्मक्खन्धक, ६. भेसज्जखन्धक, ७. कठिनक्खन्धक, ८. चीवरक्खन्धक, ९. चम्पेय्यक्खन्धक, एवं १० कोसम्बिकक्खन्धक।

२. **चुल्लवग्ग**—यह भी खन्धक ग्रन्थ ही कहलाता है। इसके प्रथम नौ प्रकरणों सङ्घानुशासन, प्रायश्चित्त, भिक्षुओं के कर्तव्य, तथा पातिमोक्ख से सम्बद्ध बाते हैं दशम प्रकरण में भिक्षुणियों के लिये कर्तव्यपालनविधि बतायी गयी है। ११ तथा १२वें प्रकरण में राजगृह एवं वैशाली की संगीतियों का वर्णन है।

(३) विनयपिटक के अन्तर्गत तृतीय पुस्ततक का नाम **परिवार** है। इसमें उन्नीस वर्ग है, जिनमें विनयपिटक में संगृहीत बातों का संक्षिप्त वर्णन है।

२ सुत्तपिटक : इस पिटक में पाँच विशालकाय ग्रन्थों का संग्रह है इन्हें निकाय भी कहते हैं। वे हैं—१. दीघनिकाय, २. मज्झिमनिकाय, ३. संयुत्तनिकाय, ४. अङ्गुत्तरनिकाय एवं ५. खुद्दकनिकाय। यह पाँचवाँ निकाय भी अपने आप में पन्द्रह छोटे बडे ग्रन्थों का समूह है।

१. **दीघनिकाय** : यह ग्रन्थ तीन वर्गो में विभक्त है—१. सीलक्खन्धवग्ग, २. महावग्ग एवं ३. पाथिकवग्ग। **प्रथम सीलक्खन्धवग्ग में** १३ बड़े बड़े सुत्त हैं, जैसे— १. ब्रह्मजालसुत्त, २. सामञ्ञफल०, ३. अम्बट्ठ०, ४. सोणदण्ड०, ५. कूटदन्त०, ६. महालि०, ७. जालिय०, ८. कस्सपसीहनाद०, ९. पोट्ठपाद०, १०. सुभ०, ११. केवट्ट०, १२. लोहिच्च० एवं १३. तेविज्जसुत्त। **द्वितीय महावग्ग** में १० सूत्र हैं, जैसे— १. महापदानसुत्त, २. महानिदान०, ३. महापरिनिब्बान०, ४. महासुदस्सन०, ५. जनवसभ०, ६. महागोविन्द०, ७. महासमय०, ८. सक्कपञ्ह०, ९. महासतिपदान० एवं १० पायासिसुत्त। **तृतीय पाथिक वग्ग में** ११ सूत्र हैं, जैसे- १. पाथिकसुत्त, २. उदुम्बरिकसीहनाद०, ३. चक्कवत्तिसीहनाद०, ४. अग्गञ्ञ०, ५. सम्पसादनिय०, ६. पासादिक०, ७. लक्खण०, ८. सिंगालोवाद०, ९. आटानाटिय, १० सङ्गीति एवं ११. दसुत्तरधम्मसुत्त।

इस तरह इस निकाय में १३+१०+११=३४ बडे बडे सूत्र है। इसी लिये इसका नाम 'दीघनिकाय' पड़ा है। इन सूत्रों में अनेक सूत्र बौद्धमत में महत्त्वपूर्ण माने गये हैं, जैसे—१. महापरिनिर्वाणसूत्र। इसमें भगवान् बुद्ध के अन्तिम जीवन, अन्तिम उपदेश तथा उनके महापरिनिर्वाण का प्रामाणिक वर्णन है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मजालसुत्त, महानिदानसुत्त, महासतिपट्ठानसुत्त, एवं आटानाटिय तथा सङ्गीतिसुत्त और दसुत्तरसुत्त भी प्रमुख हैं। दीघनिकाय के सभी सूत्रों में किसी न किसी प्रमुख बौद्धसिद्धान्त की विशद चर्चा है।

२. मज्झिमनिकाय : इस निकाय में बौद्ध धर्म से सम्बद्ध अनेक संवाद वर्णित हैं। इनमें आर्यसत्यचतुष्टय, कर्मसिद्धान्त, तृष्णा की निस्सारता, निर्वाण, आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग, समाधि, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि का यथाप्रसङ्ग वर्णन किया गया है। अनेकों गाथाओं एवं उपमाओं के आधार से धार्मिक विषय का यथासम्भव स्पष्टीकरण किया गया है।

इस निकाय में मध्यम आकार वाले १५२ सूत्र हैं, जो १. मूलपण्णासक, २. मज्झिम पण्णासक एवं ३. उपरिपण्णासक—इन तीन भागों में ५०-५० की संख्या में विभक्त है।

इस निकाय का, संग्रहकारों ने वर्गभेद से भी विभाजन किया है, जैसे— १. मूलपरियायवग्ग, २. सीहनादवग्ग, ३. ओपम्मवग्ग, ४. महायमकवग्ग, ५. चूळ-यमकवग्ग, ६. गहपतिवग्ग, ७. भिक्खुवग्ग, ८. परिब्बाजकवग्ग, ९. राजवग्ग, १०. ब्राह्मणवग्ग, ११. देवदहवग्ग, १२ अनुपदवग्ग, १३. सुञ्ञतावग्ग, १४. विभङ्गवग्ग, एवं १५.

भाषा में महासङ्गीति कहा जाता है, बुद्धप्रोक्त उन सभी उपदेशों का अक्षरश: यथाविधि संग्रह किया। आज तक समय समय पर ऐसी छह महासङ्गीतियों हो चुकी हैं। परन्तु प्रथम तीन *सङ्गीतियों* में ही इन उपदेशों का अन्तिम निर्धारण हो चुका था। इन सङ्गीतियों में निर्धारित बुद्धोपदेश-संग्रह को 'त्रिपिटक' नाम दिया गया।

इनमें प्रथम सङ्गीति, बुद्ध के महापरिनिर्वाण के तत्काल बाद, राजगृह में हुई। द्वितीय सङ्गीति, भगवान् के महापरिनिर्वाण के एक सौ वर्ष वाद, वैशाली में हुआ। तथा तृतीय सङ्गीति, सम्राट् अशोक के शासनकाल में पाटलिपुत्र में हुई। इस सम्मेलन में त्रिपिटक की इयत्ता के विषय में निर्णय हुआ, वही आज तक सभी बौद्धमतावलम्बियों का मान्य है।

तीन पिटक : त्रिपिटक के अन्तर्गत (समाहित) तीन पिटकों के क्रमश: ये नाम हैं— १. विनयपिटक, २. सुत्तपिटक एवं ३. अभिधम्मपिटक। यहाँ **विनय** से तात्पर्य है— (क) सङ्घशासन के सञ्चालन हेतु नियम एवं अनुशासनविधि तथा (ख) भिक्षु एवं भिक्षुणियों की जीवनचर्याविधि के नियम। इन्हीं दोनों बातों का विनयपिटकमें विस्तृत वर्णन मिलता है। **सुत्त** का तात्पर्य है—सिद्धान्त। इस पिटक में बौद्धानुमत छोटे बडे सभी सिद्धान्तों का संवादपद्धति में वर्णन है। तथा अभिधम्मपिटक के **अभिधम्म** से तात्पर्य है—बौद्धानुमत धर्म की साधना। अत: इस पिटक में इसी पद्धति का विस्तृत वर्णन है।

१. विनयपिटक : इस पिटक को संग्रहकारों ने तीन भागों में विभक्त किया है, जैसे— (१) विभङ्ग, (२) खन्धक एवं (३) परिवार।

(१) **विभङ्ग** को ही 'पातिमोक्ख' भी कहते हैं। इसमें भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों के लिये, जीवनचर्या को अनुशासित रखने हेतु छोटे बडे नियम वर्णित हैं। जिनकी सङ्ख्या विद्वानों ने २२७ निर्धारित की है। प्रत्येक मास की अमावस्या तथा पूर्णिमा को उपोसथ व्रत रखते हुए सङ्घ एकत्र होकर, इस पातिमोक्ख का पाठ सुनता है, तथा किसी भिक्षु से इन नियमों में शिथिलता आयी हो तो वह उसके लिये सार्वजनिक रूप से क्षमायाच्ञा करता हुआ पश्चात्ताप करता है।

(२) **खन्धक** में दो ग्रन्थ हैं—१. महावग्ग एवं २. चुल्लवग्ग।

१ **महावग्ग** में ये दश खन्धक हैं—१. महास्कन्धक, २. उपोसथखन्धक, ३. वस्सूपनायिकाखन्धक, ४. पवारणाखन्धक, ५. चम्मक्खन्धक, ६. भेसज्जखन्धक, ७. कठिनक्खन्धक, ८. चीवरक्खन्धक, ९. चम्पेय्यक्खन्धक, एवं १० कोसम्बिकक्खन्धक।

२. **चुल्लवग्ग**—यह भी खन्धक ग्रन्थ ही कहलाता है। इसके प्रथम नौ प्रकरणों सङ्घानुशासन, प्रायश्चित्त, भिक्षुओं के कर्तव्य, तथा पातिमोक्ख से सम्बद्ध बाते हैं दशम प्रकरण में भिक्षुणियों के लिये कर्तव्यपालनविधि बतायी गयी है। ११ तथा १२वें प्रकरण में राजगृह एवं वैशाली की संगीतियों का वर्णन है।

(३) विनयपिटक के अन्तर्गत तृतीय पुस्ततक का नाम **परिवार** है। इसमें उन्नीस वर्ग है, जिनमें विनयपिटक में संगृहीत बातों का संक्षिप्त वर्णन है।

२ सुत्तपिटक : इस पिटक में पाँच विशालकाय ग्रन्थों का संग्रह है इन्हें *निकाय* भी कहते हैं। वे हैं—१. दीघनिकाय, २. मज्झिमनिकाय, ३. संयुत्तनिकाय, ४. अङ्गुत्तरनिकाय एवं ५. खुद्दकनिकाय। यह पाँचवाँ निकाय भी अपने आप में पन्द्रह छोटे बडे ग्रन्थों का समूह है।

१. **दीघनिकाय :** यह ग्रन्थ तीन वर्गो में विभक्त है—१. सीलक्खन्धवग्ग, २. महावग्ग एवं ३. पाथिकवग्ग। **प्रथम सीलक्खन्धवग्ग में** १३ बड़े बड़े सुत्त हैं, जैसे—१. ब्रह्मजालसुत्त, २. सामञ्ञफल०, ३. अम्बट्ठ०, ४. सोणदण्ड०, ५. कूटदन्त०, ६. महालि०, ७. जालिय०, ८. कस्सपसीहनाद०, ९. पोट्ठपाद०, १०. सुभ०, ११. केवट्ट०, १२. लोहिच्च० एवं १३. तेविज्जसुत्त। **द्वितीय महावग्ग** में १० सूत्र हैं, जैसे—१. महापदानसुत्त, २. महानिदान०, ३. महापरिनिब्बान०, ४. महासुदस्सन०, ५. जनवसभ०, ६. महागोविन्द०, ७. महासमय०, ८. सक्कपञ्ह०, ९. महासतिपदान० एवं १० पायासिसुत्त। **तृतीय पाथिक वग्ग में** ११ सूत्र हैं, जैसे- १. पाथिकसुत्त, २. उदुम्बरिकसीहनाद०, ३. चक्कवत्तिसीहनाद०, ४. अग्गञ्ञ०, ५. सम्पसादनिय०, ६. पासादिक०, ७. लक्खण०, ८. सिंगालोवाद०, ९. आटानाटिय, १० सङ्गीति एवं ११. दसुत्तरधम्मसुत्त।

इस तरह इस निकाय में १३+१०+११=३४ बडे बडे सूत्र है। इसी लिये इसका नाम 'दीघनिकाय' पड़ा है। इन सूत्रों में अनेक सूत्र बौद्धमत में महत्त्वपूर्ण माने गये हैं, जैसे—१. महापरिनिर्वाणसूत्र। इसमें भगवान् बुद्ध के अन्तिम जीवन, अन्तिम उपदेश तथा उनके महापरिनिर्वाण का प्रामाणिक वर्णन है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मजालसुत्त, महानिदानसुत्त, महासतिपट्ठानसुत्त, एवं आटानाटिय तथा सङ्गीतिसुत्त और दसुत्तरसुत्त भी प्रमुख हैं। दीघनिकाय के सभी सूत्रों में किसी न किसी प्रमुख बौद्धसिद्धान्त की विशद चर्चा है।

२. मज्झिमनिकाय : इस निकाय में बौद्ध धर्म से सम्बद्ध अनेक संवाद वर्णित हैं। इनमें आर्यसत्यचतुष्टय, कर्मसिद्धान्त, तृष्णा की निस्सारता, निर्वाण, आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग, समाधि, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि का यथाप्रसङ्ग वर्णन किया गया है। अनेकों गाथाओं एवं उपमाओं के आधार से धार्मिक विषय का यथासम्भव स्पष्टीकरण किया गया है।

इस निकाय में मध्यम आकार वाले १५२ सूत्र हैं, जो १. मूलपण्णासक, २. मज्झिम पण्णासक एवं ३. उपरिपण्णासक—इन तीन भागों में ५०-५० की संख्या में विभक्त है।

इस निकाय का, संग्रहकारों ने वर्गभेद से भी विभाजन किया है, जैसे—१. मूलपरियायवग्ग, २. सीहनादवग्ग, ३. ओपम्मवग्ग, ४. महायमकवग्ग, ५. चूळ-यमकवग्ग, ६. गहपतिवग्ग, ७. भिक्खुवग्ग, ८. परिब्बाजकवग्ग, ९. राजवग्ग, १०. ब्राह्मणवग्ग, ११. देवदहवग्ग, १२ अनुपदवग्ग, १३. सुञ्ञतावग्ग, १४. विभङ्गवग्ग, एवं १५.

सळायतनवग्ग। इस प्रकार इसमें पञ्चदश (१५) भेद से वर्गविभाजन है। उक्त सभी वर्गो में प्राय: दश दश सूत्रों का वर्णन है।

३. संयुत्तनिकाय : यह सुत्तपिटक का तीसरा ग्रन्थ है। प्रथम ग्रन्थ **दीघनिकाय** ग्रन्थ में दीर्घ आकार वाले सूत्रों का, द्वितीय ग्रन्थ **मज्झिमनिकाय** में मध्यम आकार वाले सूत्रों का संग्रह करने के बाद अब इस ग्रन्थ में भगवत्प्रोक्त अवशिष्ट छोटे बडे सूत्रों का संग्रह किया गया है। इन सूत्रों का यहाँ संख्याक्रम से **२९४५** के रूप में परिगणन है, इनका विभाजन यहाँ अनेक प्रकार से हुआ है।

प्रथम विभाजन : यह ग्रन्थ सर्वप्रथम **पाँच वर्गों** की दृष्टि से विभाजित किया गया है। वे पाँच वर्ग ये है—१. सगाथवर्ग, निदानवर्ग, ३. स्कन्धवर्ग, ४. षडायतनवर्ग एवं ५. महावर्ग।

द्वितीय विभाजन : संग्रहकारों ने ग्रन्थ के सरल विवेचन को ध्यान में रखते हुए इस ग्रन्थ का **संयुक्त** के रूप में भी विभाजन किया है। यह ग्रन्थ **देवतासंयुक्त** आदि ५६ संयुक्तों के माध्यम से भी विभाजित किया गया। विस्तारभय से हम यहाँ सभी संयुक्तों को नामनिर्देशपूर्वक नहीं लिख पा रहे हैं। इन संयुक्तों की विशेषता यह है कि जिस संयुक्त का वर्णन हो रहा हो उसमें उसी से सम्बद्ध विषय की चर्चा मिलेगी। वहाँ अन्य विषयों की चर्चा करना अप्रासङ्गिक समझा गया।

तृतीय विभाजन : इस ग्रन्थ का तृतीय विभाजन **सूत्रों की** दृष्टि से किया गया है। यहाँ एक सूत्र में एक ही विषय का वर्णन है, अनेक विषयों का एक साथ नहीं।

साथ ही, प्रत्येक सूत्र के आरम्भ में सामान्यत: संक्षेप में उस स्थान, काल, परिस्थिति एवं व्यक्ति विशेष का नाम का भी निर्देश कर दिया है कि भगवान् ने कहाँ कब किन परिस्थितियों में किस व्यक्ति को उस सूत्र का प्रवचन किया। इस पद्धति से जिज्ञासु पाठक एवं अनुसन्धाता को उस सूत्र के कालनिर्धारण में बहुत सहायता मिलेगी।

फिर कोई जिज्ञासु अपनी जिज्ञासा गाथा (पद्य) के माध्यम से प्रकट करता है तो भगवान् भी उसका उत्तर गाथा में ही देते हैं। इस पद्धति से संवाद में प्राञ्जलता आ जाती है।

इस पञ्चविध वर्गविभाजन को कुछ अधिक स्पष्ट यों समझ लें-संयुक्तनिकाय में सूत्रों की सङ्ख्या २९४५ है, जो पांच वर्गों में एवं छप्पन (५६) संयुक्तों में इस प्रकार विभक्त है—

१. सगाथ वर्ग	११ संयुक्त	२७१ सूत्र
२. निदानवर्ग	१० संयुक्त	२९६ सूत्र
३. स्कन्धवर्ग	१३ संयुक्त	७१६ सूत्र
४. षडायतनवर्ग	१० संयुक्त	३८ सूत्र
५. महावर्ग	१२ संयुक्त	१२२४ सूत्र
सङ्कलन	**५६ संयुक्त**	**२९४५ सूत्र**

यहाँ प्रथम **सगाथवर्ग** में उन्हीं सूत्रों का संग्रह है जिनमें वहाँ आये विषयों का विवेचन गाथाओं में है। जैसे—सगाथवर्ग के देवतासंयुक्त एवं देवपुत्रसंयुक्त में प्रत्येक विषय का विवेचन गाथाओं के माध्यम से हुआ है, अत: वैसे सभी सूत्रों का संग्रह सगाथवर्ग में ही हुआ है। द्वितीय **निदानवर्ग** में सभी प्रकार के भवकरणबोधक प्रतीत्यसमुत्पाद आदि सूत्रों का संग्रह किया गया है। तृतीय **स्कन्धवर्ग** में परिगणित सभी सूत्रों में पाँचों—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान—इन स्कन्धों का विस्तृत विवरण है। चतुर्थ **षडायतनवर्ग** में चक्षुरायतन, श्रोत्रायतन आदि छह आयतनों का विस्तृत निरूपण है। तथा अन्तिम **महावर्ग में** आर्यसत्यचतुष्टय, आर्यअष्टाङ्गिमार्ग, सात बोध्यङ्ग, चार स्मृत्युपस्थान, इन्द्रिय, बल आदि बौद्ध दर्शन के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन है। इस प्रकार इस समग्र त्रिपिटक में संयुक्तनिकाय ग्रन्थ का विशिष्ट स्थान है।

४. अङ्गुत्तरनिकाय : इस निकाय का विभाजन (व्याख्यान) सर्वथा सङ्ख्याबद्ध है। इसमें सर्वप्रथम वे सूत्र व्याख्यात हैं, जिनमें एक सङ्ख्या वाले धर्मों का वर्णन है। इसे **एककनिपात** कहा गया है। फिर दो सङ्ख्या वाले धर्मों का व्याख्यान है, इसे **दुकनिपात** कहा गया है। इसी तरह **एकादसकनिपात** तक समझना चाहिये। यों यह महान् ग्रन्थ ग्यारह (११) निपातों (समूहों) में वर्णित हुआ है। इसका विभाजन इस प्रकार है—

१. एककनिपात
२. दुकनिपात
३. तिकनिपात
४. चतुक्कनिपात
५. पञ्चकनिपात
६. छक्कनिपात
७. सत्तकनिपात
८. अट्ठकनिपात
९. नवकनिपात
१०. दसकनिपात
११. एकादसक निपात

बौद्धधर्म में व्याख्यात विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों के यथातथ ज्ञानप्राप्तिहेतु इस ग्रन्थ का अध्ययन प्रत्येक बौद्धमतावलम्बी के लिये अत्यावश्यक है। सचाई यह है इधर उधर बौद्धग्रन्थों में प्रयुक्त हजारों शब्दों का धर्मानुकूल अर्थ इस एक अङ्गुत्तरनिकाय से ही जाना जा सकता है। अत: इसका पठन प्रत्येक बौद्धमतावलम्बी को आवश्यक है।

५. खुद्दकनिकाय : इसमें सुत्तपिटक के छोटे-बड़े आकार के १५ ग्रन्थों का समूह संगृहीत है। इसमें ये ग्रन्थ परिगणित हैं—

१. **खुद्दकपाठ :** इसमें बौद्धधर्म के आरम्भिक जिज्ञासुओं के लिये शिक्षा है।

२ **धम्मपद :** इसकी ४२३ गाथाओं में अधिकांश में नैतिक शिक्षा वर्णित है।

३ **उदान :** इसमें भवान् बुद्ध द्वारा प्रकट किये स्वाभाविक आध्यात्मिक हृदयोद्गार हैं।

४. **इतिवुत्तक :** इसमें भी भगवान् बुद्ध के ही कुछ उपदेश वर्णित हैं।

५. **सुत्तनिपात** : इसमें भगवान् बुद्ध की शिक्षाएँ तथा उन के द्वारा शिष्यों को दिये गये उत्तर निहित हैं।

६. **विमानवत्थु** : इसमें देवलोकवासी बौद्धों के आध्यात्मिक उद्गार वर्णित है।

७. **पेतवत्थु** : इसमें प्रेतयोनियों के प्राणियों का वर्णन है।

८. **थेरगाथा** : इसमें क्षीणाश्रव भिक्षुओं द्वारा प्रोक्त आध्यात्मिक गाथाएँ वर्णित हैं।

९. **थेरीगाथा** : इसमें भिक्षुणियों द्वारा प्रोक्त आध्यात्मिक गाथाएँ उद्धृत हैं।

१०. **जातक** : इसमें भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्मों का वृत्तान्त गाथाओं में वर्णित है।

११. **निद्देस** : यह ग्रन्थ दो भागों में है। प्रथम **महानिद्देस** में सुत्तनिपात के अट्ठकवग्ग की व्याख्या है। तथा द्वितीय **चुल्लनिद्देस** में सुत्तनिपात के ही पारायणवग्ग की व्याग्ख्या निहित है। बौद्ध परम्परा में ये दोनों व्याख्याग्रन्थ सारिपुत्र द्वारा रचित बताये जाते हैं।

१२. **पटिसम्भिदामग्ग** : इसमें अर्हत् किस प्रकार ज्ञान प्राप्त कर पाता है—इसका वर्णन है।

१३. **अपदान** : इसमें बौद्ध अर्हत् भिक्षुओं द्वारा कृत महान् कार्यों का वर्णन है।

१४. **बुद्धवंस** : भगवान् बुद्ध द्वारा अभ्यस्त दश पारमिताओं का वर्णन।

१५. **चरियापिटक** : इसमें भगवान् बुद्ध की जीवनचर्याओं का वर्णन है।

इस तरह, खुद्दकनिकाय के इन पन्द्रह ग्रन्थों का सामान्य परिचय दे दिया गया, विस्तृत वर्णन उन उन ग्रन्थों को देखने से ही ज्ञात हो पायगा।

३. अभिधम्मपिटक : यह पिटक पालिसाहित्य का तृतीय मुख्य भाग है। अभिधर्म का अर्थ है उच्चतर या विशिष्ट धर्म। वस्तुतः यह उच्चता या विशिष्टता धर्म की नहीं है क्योंकि धर्म तो सर्वत्र एकरस ही है, किन्तु तीनों पिटकों में, उनके नाना वर्गीकरणओं के कारण, यह नाना रूप होगया है। जो धम्म विनयपिटक में संयम रूप है, सुत्तपिटक में उपदेश रूप है, वहीं यहाँ अभिधम्म में तत्त्वरूप है। इसका कारण अधिकारियों का तारतम्य ही है। प्रस्थानभेद से इस धर्म के स्वरूप में भी भेद हो गया है। किन्तु यह भेद केवल वर्णनशैली में है, आदेशना विधि में नहीं। सुत्तपिटक सबके लिये सुगम है, क्योंकि वहाँ बुद्धवचन अपने यथार्थ रूप में है। अभिधम्मपिटक में उन्ही बुद्धमन्तव्यों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण किया गया है, तात्त्विक और मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से उन्हें गणनाबद्ध किया गया है। अतः जहाँ सुत्तपिटक का निरूपण जनसाधारण के लिये उपयोगी है, वहाँ अभिधम्मपिटक की सूचियों एवं परिभाषाओं में वही साधक रुचि ले सकते हैं, जिन्हें बौद्धतत्त्वदर्शन को अपने अध्यायन का विशेष विषय बनाया है। अभिधम्मपिटक धम्म की अधिक गम्भीता में उतरता है तथा अधिक साधनसम्पन्न जिज्ञासुओं के लिये ही उसका प्रणयन हुआ है—ऐसा बौद्ध परम्परा आरम्भ से ही मानती आ रही है।

इस अभिधम्मपिटक में अभिधम्म के प्रतिपादक सात ग्रन्थ हैं-१. धम्मसङ्गणि, २. विभङ्ग, ३. धातुकथा, ४. पुग्गलपञ्ञत्ति, ५. यमक, ६. पट्ठान एवं कथावत्थु।

इनमें १. प्रथम **धम्मसङ्गणि** सम्पूर्ण अभिधम्मपिटक का आधारभूत ग्रन्थ है।

तथा २. **विभङ्ग** विषयवस्तु की दृष्टि से उसी (धम्मसङ्गणि) पर आधृत ग्रन्थ है। अत: यों कहा जा सकता है कि विभङ्ग धम्मसङ्गणि का पूरक ग्रन्थ है।

तथा स्वयं (विभङ्ग) ३. **धातुकथा** का आधारग्रन्थ है। इस प्रकार विभङ्ग धातुकथा एवं धम्मसङ्गणि के साथ मध्यस्थतर करता है।

४. **पुग्गलपञ्ञत्ति** (पुद्गलप्रज्ञप्ति) इस समस्त शब्द का अर्थ है—पुद्गलों (व्यक्तियों) से सम्बद्ध ज्ञान या उनकी पहचान। इस ग्रन्थ में पुद्गल के नाना भेद बताये गये हैं। विषयशैली या वर्णनप्रणाली की दृष्टि से इस ग्रन्थ का अभिधर्म की अपेक्षा सुत्तपिटक में परिगणन अधिक उपयुक्त होता; क्योंकि यह व्यक्ति का निर्देश, धर्मों के साथ उनके सम्बन्ध की दृष्टि से नहीं किया गया है, अपितु अङ्गुत्तरनिकाय की शैली पर बुद्धवचनों का आश्रय लेते हुए, या उनको अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से, या उनकी व्याख्या के कारण, या उनके गुण कर्म विभाग के अनुसार व्यक्तियों के नाना स्वरूपों को वर्गबद्ध किया है, जो मूल बुद्धधर्म के नैतिक दृष्टिकोण को समझने के लिये अतिमहत्त्वपूर्ण हैं। इस समस्त ग्रन्थ में दश अध्याय हैं। समग्र वर्णन प्रश्नोत्तर शैली में है।

५. **कथावत्थु** : सम्राट् अशोक के समय तक बौद्ध धर्म में, सङ्घभेद के कारण, १८ निकाय हो चुके थे। मोग्गलिपुत्ततिस्स ने स्थविरवाद के अतिरिक्त १७ निकायों के मत का खण्डन करते हुए यह ग्रन्थ (कथावत्थुप्पकरण) लिखा, तथा सम्राट् अशोक के समय हुई तृतीय महासङ्गीति ने इस ग्रन्थ को अभिधम्म का एक ग्रन्थ घोषित कर दिया।

इस ग्रन्थ में सब मिलाकर विरोधी निकायों के २१६ सिद्धान्तों का खण्डन है। यह ग्रन्थ २३ प्रकरणों में विभक्त है।

६. **यमक** : यमक का अर्थ है—युगल (जुडवाँ या जोडा)। इस यमक प्रकरण में सभी प्रश्न युगल रूप में रखे गये हैं। प्रश्नों के अनुकूल या विपरीत स्वरूपों का यह युग्म बनाना इस ग्रन्थ में आदि से अन्त तक है, अत: इसका 'यमक' नाम उचित ही है। इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है—अभिधम्म में प्रयुक्त शब्दावली की निश्चित व्याख्या। अत: इस ग्रन्थ का अभिधर्मदर्शन के लिये वही उपयोग एवं महत्त्व है जो एक निश्चित पारिभाषिक शब्दकोष का किसी पूर्ण दर्शनप्रणाली के लिये होता है।

यह ग्रन्थ दश अध्यायों में विभक्त है। जिनमें निर्दिष्ट विषयों के साथ धर्मों के सम्बन्ध दिखाना ही इसका लक्ष्य है। अध्यायों के विषय उनके नामों से ही स्पष्ट हो जाते है, जैसे— मूल यमक, खन्धयमक, आयतनयमक इत्यादि॥

७. **पट्ठान** : प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त का विस्तार के साथ समग्र विवेचन ही सम्पूर्ण

पट्ठान में किया गया है। किन्तु सुत्तपिटक की अपेक्षा पट्ठान की विवेचनपद्धति में एक विशे
है। जैसा कि प्रतीत्यसमुत्पाद के वर्णन से स्पष्ट है। प्रतीत्यसमुत्पाद की कारण-कार्य परम्पर
१२ कड़ियाँ है, जो एक से दूसरे प्रत्ययों के आधार पर जुड़ी हुई हैं। सुत्तपिटक में इन कड़ि
की व्याख्या मिलती है, परन्तु पट्ठान में इन कड़ियों की व्याख्या पर अधिक बल न देकर
प्रत्ययों पर बल दिया गया है जिनके आश्रय से वे उत्पन्न होती हैं या निरुद्ध होती हैं।

पट्ठान में इस प्रकार के २४ प्रत्ययों का विवेचन किया गया है। यही उसकी एकम
विषयवस्तु है। जैसा कि इसके नाम (पच्चयपट्ठान) से स्पष्ट है। **पट्ठान** प्रत्ययों का स्थान
है।

आकार एवं महत्त्व की दृष्टि से पट्ठान अभिधम्मपिटक का एक महान् ग्रन्थ है
विषयगत महत्त्व में उसका स्थान धम्मसङ्गणि के समनन्तर ही है।

ग्रन्थ को अधोलिखित चार भागों में बाँटकर विवेचन किया गया है—

१. **अनुलोम पट्ठान** : धर्मों के पारस्परिक प्रत्ययसम्बन्धों का विधानात्मक अध्ययन।

२. **पच्चनिय पट्ठान** : धर्मों के पारस्परिक प्रत्ययसम्बन्धों का निषेधात्मक अध्ययन।

३. **अनुलोम-पच्चनिय पट्ठान** : धर्मों पारस्परिक प्रत्ययसम्बन्धों का विधि-निषेधात्मक अध्ययन।

४. **पच्चनिय-अनुलोम पट्ठान** : धर्मों के पारस्परिक प्रत्ययसम्बन्धों का निषेध-विध्यात्मक अध्ययन।

उपर्युक्त चार भागों में विधानात्मक आदि अध्ययनक्रम से २४ प्रत्ययों का सम्बन्ध धर्मों के साथ दिखाया है। प्रत्येक भाग में यह अध्ययन क्रम छह प्रकार से प्रयुक्त हुआ है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह अध्ययनक्रम उपर्युक्त चार भागों से प्रत्येक छह छह उपविभागों में और भी बँटा हुआ है। जैसे—

१. तिकपट्ठान, २. दुकपट्ठान, ३. दुक-तिक पट्ठान, ४. तिक-दुकपट्ठान, ५. तिक-तिकपट्ठान, एवं ६. दुक-दुकपट्ठान।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण ग्रन्थ चौबीस भागों में बँटा हुआ है, जिनमें से प्रत्येक 'पट्ठान' कहलाता है। अर्थात् इस पट्ठान महाप्रकरण में सब मिलकर चौबीस प्रत्ययस्थान हैं। इसमें इन्हीं चौबीस प्रत्ययों का वर्णन है॥

इस तरह त्रिपिटक के समस्त ग्रन्थों का साधारण परिचय लिखा गया।

(ख) त्रिपिटकेतर (अनुपिटक) साहित्य

पालितिपिटक एवं अट्ठकथा साहित्य के सङ्कलन के बीच बौद्धों के तीन महत्त्वशाली ग्रन्थ अन्य भी हैं, जिनके नाम हैं—१. **नेत्तिप्पकरण**, २. **पेटकोपदेस** एवं ३. **मिलिन्दपञ्ह**।

१. **नेत्तिप्पकरण** : इस ग्रन्थ को नेति या नेत्तिगन्थ भी कहते हैं यह ग्रन्थ सद्धम्म को

समझने के लिये मार्गदर्शन का कार्य करता है। नेत्ति (=नेत्री) का अर्थ है-मार्गदर्शिका। वस्तुतः बुद्धवचन इतने सरल और हृदयस्पर्शी हैं कि उनको समझने के लिये किसी मार्गदर्शन की विशेष आवश्यकता नहीं। एकान्तचिन्तन एवं बुद्धोपदेश—इन दोनों के बीच किसी मध्यस्थ की आवश्यक ही नहीं थी, परन्तु दार्शनिकों का पण्डितवाद (प्रज्ञावाद) बुद्ध-धर्म में भी आ गया। यहाँ भी सरल बुद्धोपदेशों का वर्गीकरण हो गया। उसका नियमबद्ध ज्ञान प्राप्त करने के लिये शास्त्रीय नियम बना दिये गये। उसके मन्तव्यों को समझने के लिये उसे सूचीबद्ध किया गया। अभिधम्मपिटक में इस प्रवृत्ति के प्रथम लक्षण दिखायी देते हैं। उसी का प्रत्यावर्तन हमें नेत्तिप्पकरण एवं पेटकोपदेस जैसे ग्रन्थों में मिलता है।

नेत्तिप्पकरण का तिपिटक के बुद्धवचनों से वही सम्बन्ध है जो यास्ककृत **निरुक्त** का वेदों के साथ है। परन्तु वैदिक भाषा के प्रति प्राचीन हो जाने के कारण, निरुक्त की सार्थकता हो सकती है, किन्तु बुद्धवचनों के अतिसरल होने के कारण उन पर निरुक्तिपरक ग्रन्थ पालिसाहित्य में अपनी जड़ नहीं जमा पाये। आज केवल नेत्तिप्पकरण एवं पेटकोपदेश-ये दो ही निरुक्तिपरक ग्रन्थ मिलते हैं; परन्तु इनसे भी बुद्धवचनों को समझने में अधिक सरलता आ गयी हो-ऐसा नहीं कहा जा सकता। इनमें भी केवल त्रिपिटक के पाठ तथा उसके तात्पर्यनिर्णयसम्बन्धी नियमों या युक्तियों का शास्त्रीय विवेचन ही किया है।

नेत्तिप्पकरण का विषय—१६ हार (गुँथे हुए विषयों की बड़ी मालाएँ), ५ नय (तात्पर्यनिर्णय के लिये युक्तियाँ), तथा १८ मूलपदों (मुख्य नैतिक विषयों) की व्याख्या करना ही है।

विषय की दृष्टि से बुद्धोपदेशों को कितने भागों में बाँटा जा सकता है—इसका भी निरूपण इस ग्रन्थ में है।

रचना काल : इस नेत्तिप्पकरण की, ईस्वी सन् के आरम्भ काल में, किसी कच्चान नामक भिक्षु ने रचना की थी—ऐसा इतिहासकारों का मानना है। ईसा की पाँचवी शताब्दी से आचार्य धर्मपाल ने इस ग्रन्थ पर अट्ठकथा भी लिखी थी।

२. पेटकोपदेस : यह ग्रन्थ भी नेत्तिप्पकरण के समान ही विषयवस्तु वाला है। जो बातें नेत्तिप्पकरण में दुरूह रह गयी है उनको इसमें स्पष्ट रूप से समझा दिया गया है। पेटकोपदेश की मुख्य विशेषता यही है कि यहाँ विषयविन्यास आर्यसत्यचतुष्टय की दृष्टि से किया गया है, जो बुद्धशासन का मूल उपादान है।

इस ग्रन्थ के रचयिता भी कोई कच्चान नामक भिक्षु ही माने जाते हैं। इसका रचना-काल भी वही है जो नेत्तिप्पकरण का है।

३. मिलिन्दपञ्ह : यह ग्रन्थ अनुपिटक पालिसाहित्य का शिरोमणिभूत है। इसके रचयिता भदन्त नागसेन स्थविर माने गये हैं। यह ईस्वी द्वितीय या प्रथम शताब्दी पूर्व की रचना

पट्ठान में किया गया है। किन्तु सुत्तपिटक की अपेक्षा पट्ठान की विवेचनपद्धति में एक विशेषता है। जैसा कि प्रतीत्यसमुत्पाद के वर्णन से स्पष्ट है। प्रतीत्यसमुत्पाद की कारण-कार्य परम्परा में १२ कड़ियाँ है, जो एक से दूसरे प्रत्ययों के आधार पर जुड़ी हुई हैं। सुत्तपिटक में इन कड़ियों की व्याख्या मिलती है, परन्तु पट्ठान में इन कड़ियों की व्याख्या पर अधिक बल न देकर उन प्रत्ययों पर बल दिया गया है जिनके आश्रय से वे उत्पन्न होती हैं या निरुद्ध होती हैं।

पट्ठान में इस प्रकार के २४ प्रत्ययों का विवेचन किया गया है। यही उसकी एकमात्र विषयवस्तु है। जैसा कि इसके नाम (पच्चयपट्ठान) से स्पष्ट है। **पट्ठान** प्रत्ययों का स्थान ही है।

आकार एवं महत्त्व की दृष्टि से पट्ठान अभिधम्मपिटक का एक महान् ग्रन्थ है। विषयगत महत्त्व में उसका स्थान धम्मसङ्गणि के समनन्तर ही है।

ग्रन्थ को अधोलिखित चार भागों में बाँटकर विवेचन किया गया हैं—

१. **अनुलोम पट्ठान** : धर्मों के पारस्परिक प्रत्ययसम्बन्धों का विधानात्मक अध्ययन।

२. **पच्चनिय पट्ठान** : धर्मों के पारस्परिक प्रत्ययसम्बन्धों का निषेधात्मक अध्ययन।

३. **अनुलोम-पच्चनिय पट्ठान** : धर्मों पारस्परिक प्रत्ययसम्बन्धों का विधि-निषेधात्मक अध्ययन।

४. **पच्चनिय-अनुलोम पट्ठान** : धर्मों के पारस्परिक प्रत्ययसम्बन्धों का निषेध-विध्यात्मक अध्ययन।

उपर्युक्त चार भागों में विधानात्मक आदि अध्ययनक्रम से २४ प्रत्ययों का सम्बन्ध धर्मों के साथ दिखाया है। प्रत्येक भाग में यह अध्ययन क्रम छह प्रकार से प्रयुक्त हुआ है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह अध्ययनक्रम उपर्युक्त चार भागों से प्रत्येक छह छह उपविभागों में और भी बँटा हुआ है। जैसे—

१. तिकपट्ठान, २. दुकपट्ठान, ३. दुक-तिक पट्ठान, ४. तिक-दुकपट्ठान, ५. तिक-तिकपट्ठान, एवं ६. दुक-दुकपट्ठान।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण ग्रन्थ चौबीस भागों में बँटा हुआ है, जिनमें से प्रत्येक 'पट्ठान' कहलाता है। अर्थात् इस पट्ठान महाप्रकरण में सब मिलकर चौबीस प्रत्ययस्थान हैं। इसमें इन्हीं चौबीस प्रत्ययों का वर्णन है॥

इस तरह त्रिपिटक के समस्त ग्रन्थों का साधारण परिचय लिखा गया।

(ख) त्रिपिटकेतर (अनुपिटक) साहित्य

पालितिपिटक एवं अट्ठकथा साहित्य के सङ्कलन के बीच बौद्धों के तीन महत्त्वशाली ग्रन्थ अन्य भी हैं, जिनके नाम हैं—१. **नेत्तिप्पकरण**, **२. पेटकोपदेस** एवं ३. **मिलिन्दपञ्ह**।

१. नेत्तिप्पकरण : इस ग्रन्थ को नेति या नेत्तिगन्थ भी कहते हैं यह ग्रन्थ सद्धम्म को

समझने के लिये मार्गदर्शन का कार्य करता है। नेत्ति (=नेत्री) का अर्थ है-मार्गदर्शिका। वस्तुतः बुद्धवचन इतने सरल और हृदयस्पर्शी हैं कि उनको समझने के लिये किसी मार्गदर्शन की विशेष आवश्यकता नहीं। एकान्तचिन्तन एवं बुद्धोपदेश—इन दोनों के बीच किसी मध्यस्थ की आवश्यक ही नहीं थी, परन्तु दार्शनिकों का पण्डितवाद (प्रज्ञावाद) बुद्ध-धर्म में भी आ गया। यहाँ भी सरल बुद्धोपदेशों का वर्गीकरण हो गया। उसका नियमबद्ध ज्ञान प्राप्त करने के लिये शास्त्रीय नियम बना दिये गये। उसके मन्तव्यों को समझने के लिये उसे सूचीबद्ध किया गया। अभिधम्मपिटक में इस प्रवृत्ति के प्रथम लक्षण दिखायी देते हैं। उसी का प्रत्यावर्तन हमें नेत्तिप्पकरण एवं पेटकोपदेस जैसे ग्रन्थों में मिलता है।

नेत्तिप्पकरण का तिपिटक के बुद्धवचनों से वही सम्बन्ध है जो यास्ककृत **निरुक्त** का वेदों के साथ है। परन्तु वैदिक भाषा के प्रति प्राचीन हो जाने के कारण, निरुक्त की सार्थकता हो सकती है, किन्तु बुद्धवचनों के अतिसरल होने के कारण उन पर निरुक्तिपरक ग्रन्थ पालिसाहित्य में अपनी जड़ नहीं जमा पाये। आज केवल नेत्तिप्पकरण एवं पेटकोपदेश-ये दो ही निरुक्तिपरक ग्रन्थ मिलते हैं; परन्तु इनसे भी बुद्धवचनों को समझने में अधिक सरलता आ गयी हो-ऐसा नहीं कहा जा सकता। इनमें भी केवल त्रिपिटक के पाठ तथा उसके तात्पर्यनिर्णयसम्बन्धी नियमों या युक्तियों का शास्त्रीय विवेचन ही किया है।

नेत्तिप्पकरण का विषय—१६ हार (गुँथे हुए विषयों की बड़ी मालाएँ), ५ नय (तात्पर्यनिर्णय के लिये युक्तियाँ), तथा १८ मूलपदों (मुख्य नैतिक विषयों) की व्याख्या करना ही है।

विषय की दृष्टि से बुद्धोपदेशों को कितने भागों में बाँटा जा सकता है—इसका भी निरूपण इस ग्रन्थ में है।

रचना काल : इस नेत्तिप्पकरण की, ईस्वी सन् के आरम्भ काल में, किसी कच्चान नामक भिक्षु ने रचना की थी—ऐसा इतिहासकारों का मानना है। ईसा की पाँचवी शताब्दी से आचार्य धर्मपाल ने इस ग्रन्थ पर अट्ठकथा भी लिखी थी।

२. पेटकोपदेस : यह ग्रन्थ भी नेत्तिप्पकरण के समान ही विषयवस्तु वाला है। जो बातें नेत्तिप्पकरण में दुरूह रह गयी है उनको इसमें स्पष्ट रूप से समझा दिया गया है। पेटकोपदेश की मुख्य विशेषता यही है कि यहाँ विषयविन्यास आर्यसत्यचतुष्टय की दृष्टि से किया गया है, जो बुद्धशासन का मूल उपादान है।

इस ग्रन्थ के रचयिता भी कोई कच्चान नामक भिक्षु ही माने जाते हैं। इसका रचना-काल भी वही है जो नेत्तिप्पकरण का है।

३. मिलिन्दपञ्ह : यह ग्रन्थ अनुपिटक पालिसाहित्य का शिरोमणिभूत है। इसके रचयिता भदन्त नागसेन स्थविर माने गये हैं। यह ईस्वी द्वितीय या प्रथम शताब्दी पूर्व की रचना

है—ऐसा प्रायः सभी इतिहासकार मानते हैं। इस ग्रन्थ में सम्राट् मिलिन्द (मिनान्ड्र) एवं भदन्त नागसेन का बौद्ध मत के सम्बन्ध में विस्तृत संवाद है।

(यह ग्रन्थ इस बौद्धभारती ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुका है। अतः इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में सभी कुछ ज्ञातव्य इस ग्रन्थ की भूमिका में देखें।)

८. पालिसाहित्य के अन्य वर्गीकरण

१. **पाँच निकाय :** सम्पूर्ण बुद्धवचन **पाँच निकायों में** भी विभाजित किया गया है। इनमें चार निकाय तो पूर्वोक्त सुत्तपिटक के समान ही हैं, परन्तु पांचवें खुद्दकनिकाय में उक्त खुद्दकपाठ आदि १५ ग्रन्थों के साथ साथ, विनयपिटक एवं अभिधम्मपिटक समस्त ग्रन्थों को भी संगृहीत कर दिया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह विभाजन प्रथम (पूर्वोक्त) विभाजन के समान स्वाभाविक नहीं लगता।

२. **नौ अङ्ग :** सम्पूर्ण बुद्धवचन का नौ (९) अङ्गों के रूप में भी एक वर्गीकरण उपलब्ध है। उन अङ्गों के नाम ये हैं—१. सुत्त, २. गेय्य, ३. वेय्याकरण, ४. गाथा, ५. उदान, ६. इतिवुत्तक, ७. जातक, ८. अब्भुतधम्म एवं ९. वेदल्ल। इनका क्रमशः स्पष्टीकरण यों समझिये—

१. **सुत्त** (सूत्र) = सामान्यतः बुद्धोपदेश। दीघनिकाय, सुत्तनिपात आदि ग्रन्थों में गद्य में कहे गये भगवान् के सभी उपदेश 'सुत्त' कहलाते हैं।

२. **गेय्य** (गेय) = वही गद्य पद्य मिश्रित अंश गेय्य (गाने योग्य) कहलाते हैं।

३. **वेय्याकरण** (व्याकरण) = विवरण या विवेचन। जैसे अभिधम्मपिटक का समस्त अंश।

४. **गाथा** (श्लोक) = छन्दोबद्ध (श्लोकों में) कहे गये भगवान् के उपदेश। जैसे—धम्मपद।

५. **उदान** = भगवान् बुद्ध के श्रीमुख से अकस्मात् (सहसा) निकले भावमय हर्षोद्गार।

६. **इतिवुत्तक** (इत्युक्तक) = 'ऐसा तथागत ने कहा', 'ऐसा कहा गया' शीर्षक से लिखे गये भगवान् के धर्मोपदेश।

७. **जातक** = भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्मों से सम्बद्ध कथाएँ।

८. **अब्भुतधम्म** (अद्भुतधर्म) = इस अङ्ग में उन सूत्रों का परिगणन है जिनमें भगवान् के आश्चर्यमय चरित्र या योगसम्बन्धी विभूतियों का वर्णन है।

९. **वेदल्ल** = वेदनिश्रित या ज्ञान पर आधृत। वेदल्ल भगवान् के वे उपदेश कहलाते हैं जो प्रश्नोत्तर-शैली में लिखे गये हैं। जैसे—मज्झिमनिकाय के चूळवेदल्लसुत्त तथा महावेदल्लसुत्त। इनमें परिपश्नात्मक शैली में उपदेश किया गया है। सम्भवतः यही देखकर कोशकारों ने 'वेदल्ल' शब्द का अर्थ परिप्रश्नात्मक शैली किया है।

यह नौ अङ्गों में विभाजन की बात मिलिन्दपञ्ह, बुद्धघोष की अट्ठकथा आदि ग्रन्थों से प्रमाणित है।

३. चौरासी हजार धर्मस्कन्ध : प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ **महावंस** के पञ्चम परिच्छेद (पृ० ७७-८०) में उल्लिखित सम्राट् अशोक एवं मोग्गलिपुत्त तिस्सत्थेर के संवाद को प्रमाण मानते हुए बौद्धपरम्परा समग्र बुद्ध-उपदेशों को ८४००० धर्मस्कन्धों के रूप में भी विभक्त मानती थी। इन्हीं धर्मस्कन्धों पर अपनी अतिशायिनी श्रद्धा प्रकट करने हेतु सम्राट् अशोक ने भी बौद्धों के लिये, ९६ करोड़ धन खर्च कर, ८४००० विहार बनवाये थे॥

इस प्रकार पिटकसाहित्य का साधारण परिचय पूर्ण हुआ।

९. अट्ठकथा साहित्य

इसके बाद चतुर्थ ईसा शताब्दी से ११वीं शताब्दी तक बुद्धघोषयुग कहलाया, जिसमें आचार्य बुद्धघोष आदि बौद्धविद्वन्मण्डली द्वारा समग्र त्रिपिटक पर अर्थकथाएँ (अट्ठकथाएँ) लिखी गयीं। जिनमें आचार्य बुद्धघोष द्वारा **धम्मपद** पर लिखी **अट्ठकथा** भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें आचार्य ने प्रत्येक गाथा के अवतरणक्रम में उस गाथा का स्थान, उपदेश्य पुद्गल, उससे सम्बद्ध अवतरणकथा—सभी कुछ विस्तार से दिया है। इससे गाथाओं की प्रामाणिकता स्पष्ट द्योतित हो गयी है। यह **धम्मपदट्ठकथा** आज **हिन्दी अनुवाद के साथ** 'बौद्ध आकर ग्रन्थमाला, महात्मा गान्धी काशी विद्यापीठ, वाराणसी' से प्रकाशित हो रही है। जिज्ञासुजन इसे पढकर अपने आध्यात्मिक ज्ञान में अवश्य वृद्धि करें।



उत्तरपीठिका

धम्मपद

धम्मपद का शाब्दिक अर्थ : 'धम्मपद' एक संज्ञावाचक पदसमूह है। यह पालिसाहित्य में त्रिपिटक के तीन पिटकों में **सुत्तपिटक** के अन्तर्गत **खुद्दकनिकाय** के पन्द्रह (१५) ग्रन्थों में द्वितीय ग्रन्थ का नाम (संज्ञा) है। इस 'धम्मपद' में दो शब्द अन्तर्भूत हैं—एक 'धम्म' एवं दूसरा 'पद'। 'धम्म' शब्द संस्कृत भाषा के 'धर्म' शब्द का अपभ्रंश रूप है। यद्यपि बौद्ध एवं आर्ष साहित्य में 'धर्म' के अनेक अर्थ किये गये हैं, परन्तु यहाँ इसका सरल परन्तु सर्वसम्मत अर्थ 'सदाचार' (सज्जनों के पालनीय एवं नित्य करणीय कर्तव्य) ही समझना चाहिये। उधर 'पद' शब्द का शास्त्र में दो अर्थों में प्रयोग है—उनमें १. पहला अर्थ है—मार्ग; जैसे—'आकासे व पदं नत्थि' (ध०प०, गा० २५५), या 'पमादो मच्चुनो पदं' (ध०प०, गा० २१)। अत: इस प्रमाण के आधार पर, 'पद' का अर्थ यहाँ 'मार्ग' माना जाय तो 'धम्मपद' का अर्थ होगा—**धर्म का मार्ग**। २. परन्तु इसी ग्रन्थ में 'पद' शब्द एक अन्य अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। वह अर्थ है—किसी का वचन या वाणी। जैसे यहाँ (इसी ग्रन्थ में) एक गाथा पढने को मिलती है—'को धम्मपदं सुदेसितं कुसलो पुप्फमिवप्पचेस्सति' (ध०प०, गा० ४४), यहाँ 'धम्मपद' का स्पष्ट एवं सुगम अर्थ है—धर्मसम्पृक्तवचन, या धर्मसम्पृक्त वाणी। इस धम्मपद ग्रन्थ में भगवान् बुद्ध के सदाचारसम्बन्धी उपदेश—वचन या वाणी सर्वत्र उद्धृत हैं अत: इसका '**धर्मवचन**' या '**धर्मवाणी**'— यह अर्थ भी उचित ही लगता है!

धम्मपद का प्रतिपाद्य विषय : भगवान् बुद्ध के धर्मसम्बद्ध तथा सदाचारसम्बद्ध वचन ही इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य (वर्णनीय) विषय है। इसमें कथित प्रत्येक गाथा भगवान् बुद्ध ने किसी जिज्ञासु साधक भिक्षु या उपासक या श्रोता को, उसके ऐकान्तिक हित को ध्यान में रखकर ही कही है। इस ग्रन्थ में सभी गाथाएँ बुद्धप्रोक्त हैं, किसी अन्य द्वारा प्रोक्त नहीं हैं।

धम्मपद का रचनाकाल : यों तो यह साधारण सी बात है कि जब यह ग्रन्थ बुद्धप्रोक्त है, तब भगवान् बुद्ध का जीवनकाल ही इस ग्रन्थ का भी मान्य रचनाकाल माना जाय; परन्तु ऐसे विचार विमर्श के पीछे एक अन्य सत्य भी छिपा हुआ है, जिसके कारण विद्वानों को इस विषय पर गम्भीरता से विचार करना पड़ा है। बात यह है कि भगवान् बुद्ध के समय इस देश में लेखनकला के प्रति उपेक्षाभाव अधिक था, उसका ज्ञान होते हुए भी लोग उसका अधिक उपयोग नहीं करते थे, अपि तु उनका किसी भी वचन को कण्ठस्थ करने पर ही अधिक बल रहता था। इसलिये उस समय बौद्धों में भी यही परम्परा थी कि भगवान् बुद्ध जो कुछ भी उपदेश करते थे उसको उनके सम्मुख बैठे भिक्षु, आनन्द आदि शिष्य, भगवान् बुद्ध के श्रीमुख से निकलते ही, कण्ठस्थ कर लेते थे। तथा समय समय पर उसका पुन: पुन: अभ्यास करते रहते थे, इस कारण उसके विस्मरण या विलुप्त होने का भय नहीं रह जाता था। इसीलिये

भगवान् बुद्ध के समय तक आर्यावर्त में समग्र वैदिक साहित्य, समग्र संस्कृत साहित्य, समस्त बौद्ध एवं जैन साहित्य भी स्मृतिपरम्परा से ही सुरक्षित था। उस समय के ऋषि, महर्षि एवं श्रमण (सन्त) 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति' की पुण्यपाठ की परम्परा को मानने वाले तथा अपने धर्म एवं गुरु के प्रति श्रद्धालु और विश्वासी थे, अतः उनसे पाठ में प्रमाद की कल्पना करना कठिन ही है; परन्तु मानव-स्वभाव विस्मरणशील रहा है, यह देखते हुए पाश्चात्त्य विद्वानों ने यह 'रचना वाला' प्रश्न उठाया। उनका भी इस प्रश्न में 'धम्मपद भगवान् बुद्ध द्वारा प्रोक्त नहीं है'—ऐसा विचार नहीं है, अपि तु वे कहना चाहते हैं—क्या भगवान् बुद्ध ने जो कुछ कहा वही सब कुछ वर्तमान में उपलब्ध धम्मपद में है? या उसमें से, भिक्षुओं के स्मृतिप्रमाद के कारण कुछ निकल गया, तथा कुछ अपनी तरफ से उन्होंने मिला दिया? अतः वे विचार करते हैं कि वर्तमान में उपलब्ध यह धम्मपद कब से इस रूप में है? भगवान् बुद्ध के समय से ही? या बाद में इसके रूप में परिवर्तन परिवर्द्धन होते गये? ऐसा विचार करना कुछ अनुचित भी नहीं है।

१. **प्रो० मैक्समूलर का मत** —आरम्भ में त्रिपिटक ही नहीं, सभी बौद्धग्रन्थ मौखिक परम्परा में ही उपलब्ध थे। बहुत समय (चार शताब्दियों के) बाद सिंहलद्वीप के सम्राट् वट्टगामणि अभय के शासनकाल में, उनके आदेश से, त्रिपिटक के सभी ग्रन्थ लिपिबद्ध हुए। सिंहलद्वीप में (पाँचवीं शताब्दी में) रचित **महावंस** ग्रन्थ में इसका विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। सिंहलद्वीप के इस सम्राट् का शासनकाल ८८ से ७६ ईसापूर्व माना गया है।

२. **दूसरा मत**—त्रिपिटक के सभी ग्रन्थों का सङ्कलन भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के तत्काल बाद राजगृह में आयोजित भिक्षुओं की प्रथम महासङ्गीति में ही कर लिया गया था। इस मत का वर्णन भी **चुल्लवग्ग** (विनयपिटक के खन्धक भाग का द्वितीय ग्रन्थ) में विस्तार से उपलब्ध है। वे (द्वितीय मतानुयायी) कहते हैं—द्वितीय (कालाशोक के समय) एवं तृतीय (सम्राट् अशोक के समय सम्पन्न) महासङ्गीतियों में उक्त सङ्कलन को केवल पूर्णता ही प्रदान की गयी।

उक्त दोनों मतों के निष्कर्ष रूप में यही बात सिद्ध होती है कि समग्र त्रिपिटक का सङ्कलन ४७७ ईसापूर्व वर्ष में ही हो गया, भले ही वह मौखिक पद्धति से क्यों न हुआ हो। आगे चलकर (चार शताब्दी बाद) वट्टगामणि अभय के आदेश से (चतुर्थ सङ्गीति के माध्यम से) उसी को लिपिबद्ध रूप प्रदान किया गया। संक्षेप में, यह माना जा सकता है कि इस धम्मपद का (४२३ गाथावाला) यह रूप ईसापूर्व प्रथम शताब्दी से आज २००० ईस्वी तक समान रूप से उपलब्ध है।

अवान्तर साक्ष्य : परन्तु यह इक्कीस सौ वर्ष का कार्यकाल बहुत लम्बा है। इसको प्रमाणित करने के लिये बौद्ध साहित्य के तत्कालीन प्रामाणिक ग्रन्थों का साक्ष्य भी मिलना चाहिये। वह साक्ष्य इस प्रकार है—

१. बौद्ध साहित्य में **मिलिन्दपञ्हपालि** एक प्राचीनतम एवं सुविख्यात ग्रन्थ है। इसकी रचना ईसा की प्रथम शताब्दी में मानी जाती है। इसमें अनेक स्थानों पर धम्मपद ग्रन्थ का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है।

२. **सुत्तनिपात** के अट्ठकवग्ग अंश पर **महानिद्देस** तथा पारायणवग्ग अंश पर **चुल्लनिद्देस** दो **व्याख्याग्रन्थ** त्रिपिटक खुद्दकनिकाय में संगृहीत है। इन दोनों ही व्याख्याग्रन्थों में ऐसे वाक्यांश उपलब्ध हैं जो केवल धम्मपद में ही उपलब्ध होते हैं। इस प्रमाण के आधार पर भी धर्मपद की इतने दीर्घकाल की एकरूपता सिद्ध की जा सकती है।

३. बौद्धपरम्परा ऐसा मानती है कि **सम्राट् अशोक** ने धम्मपद का अप्रमादवर्ग (द्वितीयवर्ग) का विद्वान् भिक्षुओं के श्रीमुख से साक्षाद् उद्ग्रहण किया था। यह तभी सम्भव है जब सम्राट् की उत्पत्ति से पूर्व ही धम्मपद का प्रचार प्रसार रहा हो। जब कि इस सम्राट् का शासनकाल ईसापूर्व तृतीय शताब्दी माना जाता है। इस आधार पर भी कहा जा सकता है कि वह धम्मपद ईसापूर्व तृतीय शताब्दी से पहले भी अपने इसी रूप में उपलब्ध रहा।

धम्मपद के रचनाकार : धम्मपद के रचयिता भगवान् बुद्ध ही है—यही बौद्ध परम्परा की मान्यता है। आचार्य बुद्धघोष **धम्मपदट्ठकथा** के आरम्भ में अनुबन्धचतुष्टय के साथ धम्मपद के रचयिता के विषय में लिखते हैं—

"तं तं कारणमागम्म, धम्माधम्मेसु कोविदो।
सम्पत्तसद्धम्मपदो, **सत्था धम्मपदं सुभं**॥
देसेसि, करुणावेग-समुस्साहितमानसो।
यं वे देवमनुस्सानं पीतिपामोज्जवड्ढनं॥" (ध०प०अ०, मङ्गलगाथा)

इससे सिद्ध होता है कि बौद्धपरम्परा की विद्वन्मण्डली भगवान् बुद्ध को ही धम्मपद का रचयिता मानती है।

भगवान् ने धम्मपद की देशना गद्य में की थी, या पद्य में ? यहाँ कुछ तथाकथित विद्वानों की मान्यता है कि भगवान् ने धम्मपद की सभी गाथाओं का उपदेश प्रथमत: गद्य के मूल रूप में ही दिया था, परन्तु कण्ठस्थकारी भिक्षुओं ने अपनी स्मृति की सुविधा के लिये उस गद्य को पद्य रूप देकर उसे पद्य (गाथा) रूप में ही कण्ठस्थ कर लिया! कैसी अविवेकपूर्ण बात है! क्या यही स्मृति की सुविधा वाली बात भगवान् बुद्ध जिज्ञासुओं के लिये उपयुक्त नहीं समझते थे। फिर समग्र त्रिपिटक प्रमाण है कि आनन्द जैसे श्रद्धालु भिक्षुओं ने भगवान् के मत के विरुद्ध एक भी अक्षर या शब्द कहने का साहस नहीं किया! जो भिक्षु बार बार यही कहते थे—"भगवम्मूलका नो भन्ते! धम्मा, भगवन्नेत्तिका, भगवम्पटिसरणा.... भगवतो सुत्वा भिक्खू धारेस्सन्ति", उनके विषय में यह कल्पना करना कि भिक्षुओं ने भगवदुक्त गद्य को पद्य में परिवर्तित कर लिया होगा—यह अपनी बुद्धि का दिवालियापन

दिखाने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। ऐसे ये तथाकथित विद्वान् भारतीय गुरुशिष्य-परम्परा के उच्चतम आदर्श को हृदयङ्गम ही नहीं कर पाये। आज भी भारत में कोई शिष्य अपने गुरु द्वारा कथित वचनों में परिवर्तन करने का दुष्कृत नहीं कर सकता!

अथ च, क्या भगवान् स्वयं इस 'स्मृति की सुविधा' वाली बात को नहीं जानते थे कि यह संक्षिप्त उपदेश स्मृतिसुविधार्थ गद्य की अपेक्षा पद्य में करना—जिज्ञासु एवं कण्ठस्थकारी भिक्षु—दोनों के लिये सुविधाजनक होगा! फिर वे गद्य में उपदेश कर कण्ठस्थकारी भिक्षुओं के लिये उसे पद्य में परिवर्तन करने का कार्य क्यों छोड़ते!

या फिर क्या भगवान् पद्य में बोलना नहीं जानते थे कि आनन्द आदि भिक्षुओं को यह कष्ट उठाना पड़ा। इस कल्पना से परम्परा में ऐसी उच्छृङ्खलता फैल जायगी कि किसी के रोकने से भी नहीं रुकेगी! और सुत्तनिपात एवं संयुत्तनिकाय आदि ग्रन्थों में पठित हजारों गाथाओं के विषय में भी यही कल्पना होने लगेगी। अत: शास्त्ररक्षार्थ एवं परम्परारक्षार्थ ऐसी आधारहीन कल्पनाओं पर विचार करना सर्वथा अनुचित है।

धम्मपद किस ग्रन्थसमूह का अङ्ग है? बौद्ध परम्परा में तीन ग्रन्थसमूह मान्य हैं— विनयपिटक, सुत्तपिटक एवं अभिधम्मपिटक। इनमें पाँच सुत्तपिटक के ग्रन्थ हैं— १. दीघनिकाय, २. मज्झिमनिकाय, ३. संयुत्तनिकाय, ४. अङ्गुत्तरनिकाय एवं ५. खुद्दक-निकाय। इस अन्तिम **खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत** छोटे बड़े १५ ग्रन्थ परिगणित हैं। इनमें **द्वितीय ग्रन्थ धम्मपद** माना गया है।

धम्मपद की वर्णनपद्धति

१. वर्ग : धम्मपद के वर्ण्यविषय को संग्रहकारों ने यमकवर्ग, अप्रमादवर्ग आदि वर्गभेद से २६ वर्गों में विभक्त किया है, जिनकी सूची आगे (यथास्थान) देखी जा सकती है।

२. गाथाएँ : वर्गभेद से विभाजित कर ४२३ गाथाएँ इस ग्रन्थ में वर्णित हैं, जिनका उपदेश भगवान् ने जिज्ञासुओं को समय समय पर दिया था।

धम्मपद की बुद्धघोषरचित अट्ठकथा—इन सभी ४२३ गाथाओं की व्याख्या आचार्य बुद्धघोष ने स्वरचित **धम्मपदट्ठकथा** में सिंहल देश में भारत से गयी प्राचीन अट्ठकथाओं के आधार पर पालिभाषा में आज से १६०० वर्ष पूर्व की थी। हर्ष का विषय है कि यह धम्मपदट्ठकथा—सरल हिन्दीअनुवाद के साथ—आज भारत में भी (बौद्धआकर ग्रन्थमाला, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी-२२१००२ से) प्रकाशित हो रही है। अनुसन्धाताओं एवं जिज्ञासुओं के लिये यह अवश्य पठनीय है।

भगवान् बुद्ध ने जिस स्थान पर, जिस उपदेश्य पुद्गल को, जिसके सम्बन्ध, जिस स्थिति में, जिस गाथा का उपदेश किया था—यह सब कुछ इस धम्मपदट्ठकथा में आचार्य ने क्रमश: विस्तारपूर्वक लिखा है, जिससे पाठकों का एतद्विषयक सर्वविध सन्देह निवृत्त हो

जाता है। साथ ही प्रत्येक गाथा की प्रासङ्गिक अवतरणकथा भी लिख दी हैं। ये अवतरण कथाएँ सङ्ख्या में ३०५ हैं।

धम्मपद से सम्बद्ध उपदेश-स्थल

भगवान् बुद्ध ने इस धम्मपद में कथित सभी उपदेश किसी एक स्थान पर या किसी एक ही समय में नहीं किये थे; क्योंकि वे बोधिप्राप्त्यनन्तर किसी एक स्थान पर किसी निश्चित समय तक नहीं विराजे। अतः उनके उपदेशस्थल भी भिन्न भिन्न रहे हैं। इन उपदेशस्थलों के ज्ञान का पाठक को यह लाभ होगा कि वह धर्मपदोक्त गाथाओं का स्थूल रूप से समय-निर्धारण करना चाहेगा तो कर सकेगा। सभी गाथाओं का उपदेशस्थल आचार्य बुद्धघोष ने अपनी धम्मपदट्ठकथा में क्रमशः लिख दिया है। उस लेख पर सन्देह का कोई कारण नहीं है; क्योंकि आचार्य ने यह सब परम्परा को भली भाँति सुन समझ कर ही लिखा है; जबकि आचार्य के समय तक उक्त भिक्षुपरम्परा दृढतया व्यवस्थित थी।

भगवान् बुद्ध ने उक्त सभी गाथाएँ अपने शिष्यों को, उपासकों को, अन्य सम्प्रदाय के तीर्थिकों को, या साधारण जनता को यथासमय जिन स्थलों पर दो है उनमें सर्वप्रथम स्थान श्रावस्ती के जेतवन महाविहार का आता है, क्योंकि भगवान् अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में जेतवन में ही रहने लग गये थे। वे इस काल में वृद्धावस्था के कारण चारिका भी कम ही करते थे। अन्तिम २५ वर्षावास भी उन्होंने श्रावस्ती-जेतवन में ही पूर्ण किये थे। अतः इस काल में जिज्ञासुजन जेतवन में ही आ जाते थे, वहीं उन्हें भगवान् यथानुकूल उपदेश करते थे। श्रावस्ती के बाद राजगृह के वेणुवन का नाम आता है, भगवान् बोधिप्राप्त्यनन्तर एक लम्बे समय तक, केन्द्रबिन्दु के रूप में, वहाँ समय समय पर साधनाहेतु विराजमान रहते थे। अतः यह वेणुवन भी धम्मपद की बहुत गाथाओं का उपदेशस्थल रहा है। इन दो स्थानों के अतिरिक्त श्रावस्ती के पूर्वाराम, वैशाली के महावन की कूटागारशाला, कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम, कोशलदेश, आळवी, वेणुग्राम, हिमवन्त प्रदेश की अरण्यकुटी, या सुंसुमारगिरि के भेसकळावन के नाम भी उपदेशस्थल के रूप में परिगणित हैं। इन सबका विस्तार पाठकों को इसी ग्रन्थ में उल्लिखित गाथाओं के शीर्षकों में पढ़ने को मिल सकता है। हमने ये शीर्षक आचार्य बुद्धघोष की अट्ठकथा के अनुसार लगाये हैं, अतः इनमें शङ्का या सन्देह की कोई सम्भावना नहीं करनी चाहिये।

धम्मपद-गाथाओं से सम्बद्ध कथास्थल—वास्तविकता यह है कि इस धम्मपद ग्रन्थ की गाथाएँ पठनमात्र से पाठक उसकी गम्भीरता नहीं समझ पायेंगे, जब तक कि वे उस गाथा का प्रसङ्ग, स्थान या उपदेश्य पुद्गल के विषय में न जान लें। एतदर्थ हमने भी प्रत्येक गाथा के आरम्भ में शीर्षक के अन्तर्गत उक्त गाथा के प्रसङ्ग, स्थान तथा उपदेश्य पुद्गल का नाम-सङ्केत कर दिया है, परन्तु इतने से प्रत्येक पाठक की जिज्ञासा या उत्सुकता शान्त हो जायगी, ऐसा हम नहीं मानते। इसके लिये वैसे पाठक को आचार्यश्री की अट्ठकथा का

आश्रयण लेना ही होगा; क्योंकि वहाँ गाथा के सम्बन्ध में उक्त सभी बातें विस्तार से वर्णित हैं। साथ ही गाथाओं की आचार्य द्वारा की गयी विस्तृत व्याख्या भी उपलब्ध है। धम्मपद के गम्भीर अध्ययन के लिये अट्ठकथा को भी प्रत्यक्षतः पढ़ना अत्यावश्यक है—ऐसा हमारा मानना है। अस्तु।

धम्मपद का प्रतिपाद्य

धम्मपद में वर्णित विषयवस्तु—विद्वज्जन बौद्धधर्म को आचारप्रधान धर्म मानते हैं। इस धर्म में नैतिक सदाचार को, जिसे यहाँ 'शील' कहा गया है, विशेष महत्त्व दिया गया। अतः इस धम्मपद ग्रन्थ में भी नैतिक सदाचार को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। तथा उन सभी बातों का यहाँ वर्णन मिलता है जो इस सदाचार की वृद्धि में सहायक हैं, या जिनके अनुसार चलने से मनुष्य अपने जीवन के प्रधान लक्ष्य—स्वदुःखविनाश प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।

इसके साथ साथ इस ग्रन्थ में बौद्ध धर्म की अन्य विशेषताओं का वर्णन भी यथास्थान उपलब्ध होता है; जैसे—मनुष्य का जीवन नैराश्यमय है, समस्त संसार दुःखों से परिप्लुत है, दुःख क्यों होते हैं? इन दुःखों से मुक्त होने का क्या उपाय है? दुःखों से मुक्त होने की स्थिति क्या है? उस स्थिति का नाम क्या है?—आदि बातों का वर्णन भी यथास्थान इस ग्रन्थ में उपलब्ध है। इसमें एक स्थान पर कहा गया है—

को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति।
अन्धकारेन ओनद्धा पदीपं न गवेसथ!॥ (गाथा सं० १४६)

इस दुःख एवं अन्धकार को दूर करने के लिये बौद्ध धर्मदर्शन ने स्वसिद्धान्त ख्यापित किये हैं। धम्मपद में भी इनका वर्णन या संकेत यथाप्रसङ्ग मिलता है।

बौद्धधर्म की यह मान्यता है कि मानव जीवन नैराश्यमय है। इसमें हर्ष या आनन्द एवं उल्लास की अल्पमात्र भी सम्भावना नहीं है। मानव शरीर धारण करना ही दुःख को आमन्त्रण देना है। धम्मपद में कहा है—

''नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो कलि।
नत्थि खन्धादिसा दुक्खा, नत्थि सन्ति परं सुखं''॥

(ध०प०, गा० २०२)

पुनश्च एक स्थान पर शरीर के विषय में यह भी लिखा है—

''परिजिण्णमिदं रूपं, रोगनिड्डं पभङ्गुरं।
भिज्जति पूतिसन्देहो, मरणन्तं हि जीवितं''॥ (ध०प०, गा० १४८)

शरीर का यही वर्णन आगे भी मिलता है—

''अट्ठीनं नगरं कतं, मंसलोहितलेपनं।

यत्थ जरा च मच्चु च, मानो मक्खो च ओहितो''॥

(ध०प०, गा० १५०)

'पुनः पुनः जन्म दुःखद है'—इस पर भगवान् कहते हैं—

''अनेकजातिसंसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं''॥

(ध०प०, गा० १५३)

भगवान् ने सांसारिक प्रीति, स्नेह, आसक्ति, कामना, तृष्णा—सभी को दुःखपूर्ण बताया है। (द्र०—२१३ से २१६ तक की गाथाएँ)

यहाँ (धम्मपद में) असदाचारी की दुर्गति भी विस्तृत रूप से वर्णित है। जैसे जल की एक एक बूँद से भी समय आने पर कोई घट भर जाता है; उसी तरह अल्प पाप भी एक दिन विशाल राशि में परिणित हो जाता है—

''मापमञ्ञेथ पापस्स 'न मं तं आगमिस्सति'!
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भोपि पूरति।
बालो पूरति पापस्स, थोकथोकं पि आचिनं''॥

(ध०प०, गा० १२१)

ऐसे नैराश्यमय एवं दुःखपूर्ण जीवन के निराकरणहेतु बौद्धधर्म चार आर्यसत्यों की साधना ही एकमात्र मार्ग बताता है—

''दुक्खं दुक्खसमुप्पादं, दुक्खस्स च अतिक्कमं।
अरियं चट्ठङ्गिकं मग्गं, दुक्खूपसमगामिनं॥
एतं खो सरणं खेमं, एतं सरणमुत्तमं।
एतं सरणमागम्म, सब्बदुक्खा पमुच्चति''॥

(ध०प०, गा० १९१-१९२)

बौद्ध धर्म का ध्येय है—दुःखों की सदा के लिये शान्ति। इसी अवस्था को यहाँ 'निर्वाण' कहा गया है। भगवान् निर्वाण को ही परम सुख सिद्ध करते हैं। उनका उपदेश है—

''जिघच्छापरमा रोगा, सङ्खारपरमा दुखा।
एतं ञत्वा यथाभूतं, निब्बानं परमं सुखं''॥

(ध०प०, गा० २०३)

इसी निर्वाण को बौद्ध दर्शन में **योगक्षेम** भी कहा जाता है; जैसे—

''ते झायिनो साततिका, निच्चं दळ्हपरक्कमा।
फुसन्ति धीरा निब्बानं, योगक्खेमं अनुत्तरं''॥

(ध०प०, गा० २३)

मन ही मनुष्य के सभी दुःखों का कारण है—प्राणियों की सभी प्रवृत्तियाँ मन से ही आरब्ध होती हैं। यदि मन अशुभ चिन्तक है तो मनुष्य का आचरण पापमय होगा। और उस आचरण का परिणाम दुःखमय ही होगा। इसीलिये धम्मपद कहता है—

''मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा वे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं व वहतो पदं''॥

(ध०प०, गा० १)

चित्त का कठिनता से दमन हो पाता है—

''दुन्निग्गहस्स लहुनो यत्थकामनिपातिनो।
चित्तस्स दमथो साधु चित्तं दन्तं सुखावहं''॥

(ध०प०, गा०)

तृष्णाग्रस्त पुरुष बन्धे खरगोश के समान संसार में चक्र लगाता रहता है—

तसिणाय पुरक्खता पजा, परिसप्पन्ति ससो व बाधितो।

कहने का तात्पर्य यह है कि मन के असंयत होने पर मनुष्य में तृष्णा आदि की वृद्धि होती है, इसीलिये मनुष्य दुःखग्रस्त होता रहता है। (द्र०-गाथा-२१२ से २१६)

दुःखनिरोध का उपाय : अष्टाङ्गिक मार्ग—इस समस्त सांसारिक दुःख से मुक्ति का उपाय भगवान् ने अष्टाङ्गिक मार्ग ही बताया है—

''मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो, सच्चानं चतुरो पदा।
विरागो सेट्ठो धम्मानं, द्विपदानं च चक्खुमा''॥

(ध०प०, गा० २७३)

बौद्धों के मत में **अष्टाङ्गिक मार्ग** यह है—१. सम्यग्दृष्टि, २. सम्यक्सङ्कल्प, ३. सम्यग्वचन, ४. सम्यक्कर्मान्त, ५. सम्यगाजीव, ६. सम्यग्व्यायाम, ७. सम्यक्स्मृति, एवं ८. सम्यक्समाधि। इन आठ नियमों के पालन से अवश्य ही मनुष्य का दुःखक्षय हो जायगा।

धम्मपद के उपदेशों का निष्कर्ष

१. सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध का सर्वोत्कृष्ट उपदेश संक्षेप में इस प्रकार समझना चाहिये—

सब्बपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदापनं, एतं बुद्धान सासनं॥

(ध०प०, गा० १८३)

२. तृष्णा ही सब दुःखों का कारण है, अतः तृष्णा एवं लोभ का क्षय करना चाहिये—

तण्हाक्खयरतो होति, सम्मासम्बुद्धसावको ॥ (ध०प०, गा० १८७)

३. मनुष्य को प्रमाद नहीं करना चाहिये—

सञ्ञतस्स च धम्मजीविनो,अप्पमत्तस्स यसो' भिवड्ढति।

(ध०प०, गा० २४, २६ एवं २७)

४. काय, वाक् एवं मन से क्रोध का त्याग करना चाहिये—

"कायप्पकोपं रक्खेय्य, कायेन संवुतो सिया...
वचीपकोपं रक्खेय्य, वाचाय संवुतो सिया...
मनोपकोपं रक्खेय्य, मनसा संवुतो सिया।
मनोदुच्चरितं हित्वा, मनसा सुचरितं चरे" ॥

(ध०प०, गा० २३१-२३३)

५. कठोर वचन नहीं बोलना चाहिये—

"मा वोच फरुसं कञ्चि, वुत्ता पटिवदेय्यु तं।
दुक्खा हि सारम्भकथा, पटिदण्डा कुसेय्यु तं" ॥

(ध०प०, गा० १३३)

६. दूसरे के दोष नहीं देखने चाहिये—

"न परेसं विलोमानि, न परेसं कताकतं।
अत्तनो व अवेक्खेय्य, कतानि अकतानि च" ॥

(ध०प०, गा० ५०)

७. सज्जनों का अपकार न करे—

"यो अप्पदुट्ठस्स नरस्स दुस्सति, सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स।
तमेव बालं पच्चेति पापं, सुखुमो रजो पटिवातं व खित्तो" ॥

(ध०प०, गा० १२५)

८. साधक अपनी इन्द्रियों को संयत रखे—

"यस्सिन्द्रियानि समथङ्गतानि, अस्सा यथा सारथिना सुदन्ता।
पहीनमानस्स अनासवस्स, देवा पि तस्स पिहयन्ति तादिनो" ॥

(ध०प०, गा० ९४)

९. साधक राग, द्वेष, मान एवं दम्भ से दूर रहे—

"यस्स रागो च दोसो च, मानो मक्खो च पातितो।
सासपोरिव आरग्गा, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं" ॥

(ध०प०, गा० ४०७)

१०. साधक मनुष्य को सदैव धैर्यवान्, कर्मठ, व्रती एवं मेधावी होना चाहिये—

"धीरं च पञ्ञं च बहुस्सुतं च, धोरय्हसीलं वतवन्तमरियं।
तं तादिसं सप्पुरिसं सुमेधं, भजेथ नक्खत्तपथं व चन्दिमा"॥
(ध०प०, गा० २०८)

११. वृद्धजनों के सम्मुख नतमस्तक रहने से साधक के चार गुणों में वृद्धि होती है—

"अभिवादनसीलिस्स, निच्चं वुड्ढापचायिनो।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति, आयु वण्णो सुखं बलं"॥
(ध०प०, गा० १०९)

१२. मनुष्य स्वावलम्बी बने—

"अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया।
अत्तना हि सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं॥
(ध०प०, गा० १६०)

१३. मनुष्य स्वयं अपना स्वामी है, वह आत्मसंयमी बने—

"अत्ता हि अत्तनो नाथो, अत्ता हि अत्तनो गति।
तस्मा संयमयत्तानं, अस्सं भद्रं व वाणिजो"॥

१४. साधक मिथ्या मार्ग का अवलम्बन न करे—

"हीनं धम्मं न सेवेय्य, पमादेन न संवसे।
मिच्छादिट्ठिं न सेवेय्य, न सिया लोकवड्ढनो"॥
(ध०प०, गा० १६७)

१५. 'संसार की सभी वस्तुएँ अनित्य हैं'—यह भावना रखे—

"'सब्बे सङ्खारा अनिच्चा' ति, यदा पञ्ञाय पस्सति। ...
'सब्बे सङ्खारा दुक्खा' ति, यदा पञ्ञाय पस्सति। ...
'सब्बे धम्मा अनत्ता' ति, यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया"॥
(ध०प०, गा० २७७-२७९)

१६. मनुष्य सदा रत्नत्रय की शरण में रहे—

"यो च बुद्धं च धम्मं च सङ्घं च सरणङ्गतो।
चत्तारि अरियसच्चानि, सम्मप्पञ्ञाय पस्सति"॥
(ध०प०, गा० १९०)

१७. निर्वाणप्राप्ति में ईश्वरभक्ति अपेक्षित नहीं—

"अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया।
अत्तना हि सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं"॥
(ध०प०, गा० १६०)

१८. निर्वाणप्राप्त साधक का माहात्म्य—

"मातरं पितरं हन्त्वा, राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा, अनीघो याति ब्राह्मणो"॥

(ध०प०, गा० २९४)

"गम्भीरपञ्ञं मेधाविं, मग्गामग्गस्स कोविदं।
उत्तमत्थमनुप्पत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

(ध०प०, गा० ४०३)

"चन्दं व विमलं सुद्धं विप्पसन्नमनाविलं।
नन्दीभवपरिक्खीणं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

(ध०प०, गा० ४१३)

"यो इमं पलिपथं दुग्गं, संसारं मोहमच्चगा।
तिण्णो पारङ्गतो झायी, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

(ध०प०, गा० ४१४)

"पुब्बेनिवासं यो वेदि, सग्गापायं च पस्सति।
अथो जातिक्खयं पत्तो, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं"॥

(ध०प०, गा० ४२३)

इत्यादि।

बौद्धों में धम्मपद की अत्युत्कृष्ट मान्यता—यद्यपि कहने के लिये तो संग्रहकारों ने आकार की दृष्टि से धम्मपद का संग्रह खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत लघु ग्रन्थों में किया है, परन्तु (आकारदृष्ट्या छोटा होने पर भी) प्रत्येक बौद्ध के हृदय में इसके प्रति अत्यधिक पूजनीय भाव है; क्योंकि इसमें बौद्ध धर्म के सभी सिद्धान्तों का समावेश मिलता है। चार आर्यसत्य एवं आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग के साथ साथ विविध सदाचारों के पालन का भी दृढता से भगवान् का आदेश है। इसका समीचनतया अध्ययन करने पर हम बौद्ध धर्म की समस्त रूपरेखा हृदयङ्गम कर सकते हैं। साथ ही इसमें वर्णित सदाचारविधि के पालन से साधक अगणित सांसारिक दुःखों से छुटकारा पा सकते हैं। कोई नहीं कह सकता कि इसके निरन्तर पाठमात्र से दुःखसन्तप्त कितने मानवों का उद्धार हो चुका है! तथा यह आज भी ऐसे लोगों का उद्धार करने में समर्थ है।

हमारा यह दृढ विश्वास है कि इस लघु ग्रन्थ के प्रतिदिन श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से मानव मात्र का कल्याण अवश्य हो सकता है। वर्तमान भौतिकवादी काल में तो भगवान् के ये बहुजनकल्याणकारी वचन प्रत्येक पुरुष के लिये, भले ही वह पुरुष किसी भी देश का वासी हो, किसी भी जाति का हो, किसी भी आयु का हो, सभी के लिये अधिक से अधिक कल्याणकर हो सकते हैं। आज से प्रायः २२०० वर्ष पूर्व सम्राट् अशोक ने इस ग्रन्थ के केवल

प्रारम्भिक अंश का ही विद्वानों से श्रद्धापूर्वक श्रवण किया था, उसी पर आचरण के प्रभाव-प्रताप से अपने समय में उसने इतने लोकोपकारी कार्य किये एवं आदर्श शासन किया कि उसका नाम इतिहास के पृष्ठों पर आज भी स्वर्णाक्षरों में अङ्कित है। इसमें एकमात्र यही कारण प्रतीत होता है कि भगवान् बुद्ध ने इस ग्रन्थ में दुःखी मानव के कल्याणहेतु सरलतम साधना-पद्धतियाँ एकत्र कर दी हैं।

अतएव इस ग्रन्थ का बौद्धों के हृदय में वही आदर, श्रद्धा तथा पूजा भाव है जो किसी हिन्दू का वेद या गीता के प्रति तथा किसी ईसा-मतावलम्बी का बाइविल के प्रति, या किसी पारसी का अवेस्ता के प्रति होता है। इस तरह हम कह सकते हैं कि विद्वानों में इस धम्मपद ग्रन्थ का साहित्यिक एवं धार्मिक—दोनों ही स्तरों पर समान महत्त्व माना गया है। ऐसे ग्रन्थ संसार में अङ्गुलिगणनीय ही हैं।



इस धम्मपदपालि के सम्पादन में सहयोगी ग्रन्थ

इस ग्रन्थ के सम्पादन में अधोलिखित प्रामाणिक ग्रन्थों से सहयोग लिया गया—

१. **धम्मपदपालि** [N.] *राजकीय पालि प्रकाशन मण्डल, नालन्दा, विहार* १९५९

२. **धम्मपद** [B.] (बर्मी लिपि संस्करण)
छट्ठसङ्गायन प्रकाशन, बर्मा १९५६

३. **धम्मपद** [R.] (रोमन संस्करण)
पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन १८८५

४. **धम्मपद अट्ठकथा,** बर्मी लिपि (पठम भाग)
छट्ठसङ्गायन प्रकाशन, बर्मा १९५८

५. **धम्मपद अट्ठकथा,** बर्मी लिपि (दुतिय भाग)
छट्ठसङ्गायन प्रकाशन, बर्मा १९५८

६. **धम्मपद अट्ठकथा,** रोमन संस्करण (पठम भाग)
पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन १९७०

७. **धम्मपद अट्ठकथा,** रोमन संस्करण (दुतिय भाग)
पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन १९७०

८. **धम्मपद अट्ठकथा,** रोमन संस्करण (ततिय भाग)
पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन १९७०

९. **धम्मपद अट्ठकथा,** रोमन संस्करण (चतुत्थ भाग)
पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन १९७०

१०. **दि धम्मपद,** (अनुवादक—प्रो० एफ्. मैक्समूलर)
'दि सेक्रेड बुक्स आफ् दि ईस्ट' १९६५



धम्मपदम्हि

गाथानं देसनाक्कमो



THE PĀLI ALPHABET IN DEVNĀGARĪ AND ROMAN CHARACTERS

VOWELS

अ = a आ = ā इ = i ई = ī उ = u ऊ = ū ए = e ओ=o

CONSONANTS WITH VOWEL "A"

क ka	ख kha	ग ga	घ gha	ङ ṅa
च ca	छ cha	ज ja	झ jha	ञ ña
ट ṭa	ठ ṭha	ड ḍa	ढ ḍha	ण ṇa
त ta	थ tha	द da	ध dha	न na
प pa	फ pha	ब ba	भ bha	म ma
य ya	र ra	ल la	व va	स sa
	ह ha	ळ ḷa	अं aṁ	

VOWELS IN COMBINATION

क ka	का kā	कि ki	की kī	कु ku	कू kū	के ke	को ko
ख kha	खा khā	खि khi	खी khi	खु khu	खू khū	खे khe	खो kho

CONJUNCT-CONSONANTS

क्क	kka	ञ्च	ñca	द्व	dva	म्ब	mba
क्ख	kkha	ञ्छ	ñcha	ध्य	dhya	म्भ	mbha
क्य	kya	ञ्ज	ṅja	ध्व	dhva	म्म	mma
क्र	kra	ञ्झ	ṅjha	न्त	nta	म्य	mya
क्ल	kla	ट्ट	ṭṭa	न्त्व	ntva	म्ह	mha
क्व	kva	ट्ठ	ṭṭha	न्थ	ntha	य्य	yya
ख्य	khya	ड्ड	ḍḍa	न्द	nda	य्ह	yha
ख्व	khva	ड्ढ	ḍḍha	न्द्र	ndra	ल्ल	lla
ग्ग	gga	ण्ट	ṇṭa	न्ध	ndha	ल्य	lya
ग्घ	ggha	ण्ठ	ṇṭha	न्न	nna	ल्ह	lha
ग्य	gya	ण्ड	ṅḍa	न्य	nya	व्ह	vha
ग्र	gra	ण्ण	ṇṇa	न्ह	nha	स्त	sta
ङ्क	ṅka	ण्ह	ṇha	प्प	ppa	स्त्र	stra
ङ्ख	ṅkha	त्त	tta	प्फ	ppha	स्न	sna
ङ्ग	ṅga	त्थ	ttha	प्य	pya	स्य	sya
ङ्घ	ṅgha	त्व	tva	प्ल	pla	स्स	ssa
च्च	cca	त्य	tya	ब्ब	bba	स्म	sma
च्छ	ccha	त्र	tra	ब्भ	bbha	स्व	sva
ज्ज	jja	द्द	dda	ब्य	bya	ह्म	hma
ज्झ	jjha	द्ध	ddha	ब्र	bra	ह्व	hva
ञ्ञ	ñña	द्य	dya	म्प	mpa	ळ्ह	ḷha
ञ्ह	ñha	द्र	dra	म्फ	mpha		

ा = ā ि = i ी = ī ु = u ू = ū े = e ो = o

1	2	3	4	5	6	7	8	9	0
१	२	३	४	५	६	७	८	९	०

सुत्तपिटके

खुद्दकनिकाये

धम्मपदपालि

[हिन्दीभाषानुवादसहिता]

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

धम्मपदपालि

१. यमकवग्गो पठमो

१. चक्खुपालत्थेरं आरब्भ

मनोपुब्बङ्गमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया। [N.19,B.13,R.2]
मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति, चक्कं व वहतो पदं॥ १॥

२. मट्ठकुण्डलिं आरब्भ

मनोपुब्बङ्गमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पसन्नेन, भासति वा करोति वा।
ततो नं सुखमन्वेति, छाया व अनपायिनी॥ २॥

पूजनीय भगवान् सम्यक्सम्बुद्ध को प्रणाम

धर्मपदपालि

१. यमकवर्ग प्रथम

१. चक्षुष्पाल स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१. (क) मनुष्य की सभी प्रवृत्तियों एवं चेष्टाओं (कर्मों) के आरम्भ (उत्पत्ति) में **मन** (की भावना) ही **पूर्वगामी** (आगे आगे चलनेवाला=प्रधान) होता है। (ख) मन ही उन कर्मों के उत्पादक धर्मों का प्रधान (=श्रेष्ठ) है, अत: वे धर्म **मन:श्रेष्ठ** कहलाते हैं। (ग) एवं जैसे मट्टी से बने पात्र 'मृण्मय' (मृत्पात्र) कहलाते हैं तथा दारु (काष्ठ) से बने पात्र 'दारुमय' कहलाते हैं; उसी तरह इन धर्मों के मन से बने (उत्पन्न) होने के कारण (ये धर्म) **मनोमय** कहलाते हैं।

मनुष्य दूषित मन से जो कुछ भी बोलता है या करता है, इन (३ मन:कर्म, ४ वाक्कर्म तथा ३ कायकर्म, यों) दश (१०) अकुशल कर्मों से उत्पन्न दु:ख उस मनुष्य का उसी तरह अनुगमन (पीछा) करता है, जैसे किसी बैलगाड़ी का चक्र गाड़ी में जुते हुए बैलों के पैरों का अनुगमन करता रहता है॥

२. मृष्टकुण्डली स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

२. (क) मनुष्य की सभी प्रवृत्तियों एवं चेष्टाओं (कर्मों) के आरम्भ (उत्पत्ति) में **मन**

३. तिस्सत्थेरं आरब्भ

अक्कोच्छि मं अवधि मं, अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं उपनय्हन्ति, वेरं तेसं न सम्मति॥ ३॥

अक्कोच्छि मं अवधि मं, अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं नुपनय्हन्ति, वेरं तेसूपसम्मति॥ ४॥

४. कालयक्खिनिं आरब्भ

न हि वेरेन वेरानि, सम्मन्तीध कुदाचनं। [B.14]
अवेरेन च सम्मन्ति, एस धम्मो सनन्तनो॥ ५॥

(की भावना) ही **पूर्वगामी** (आगे आगे चलनेवाला=प्रधान) होता है। (ख) मन उन कर्मों के उत्पादक धर्मों का प्रधान (श्रेष्ठ) है, अत: वे धर्म **मन:श्रेष्ठ** कहलाते हैं। (ग) एवं जैसे मट्टी से बने पात्र 'मृण्मय' पात्र एवं दारु (काष्ठ) से बने पात्र 'दारुमय' पात्र कहलाते हैं; उसी तरह इन धर्मों का मन से उत्पाद होने के कारण ये **मनोमय** कहलाते हैं।

मनुष्य अपने अलोभ आदि गुणों से सम्पृक्त, श्रद्धासम्पन्न मन से प्रेरित होकर वाणी द्वारा जो कुछ भी बोलता है या शरीर द्वारा चेष्टा करता है; इन दश (३ मानसिक, ४ वाचिक एवं ३ कायिक) कुशल कर्मों से उत्पन्न सुख उसका उसी प्रकार पीछा करता रहता है, जैसे निरन्तर साथ रहने वाली मनुष्य की छाया उसका पीछा किया करती है॥

३. तिष्य स्थविर को : : **श्रावस्ती के जेतवन में**

३. जो गृहस्थ या प्रव्रजित अपने मन में—'उसने मुझको अपमानित किया', 'उसने मुझको मारा', 'उसने मुझको धोखा देकर पराजित किया', 'उसने मेरी अमूल्य वस्तुएँ अपहृत कर लीं'—ऐसी बातों की गाँठ बाँध लेते हैं, उनके ये पारस्परिक वैर, फिर भले ही वे नये हों या पुराने, छोटे हों या बड़े, इस जन्म के हों या पूर्व जन्म के; शान्त नहीं हुआ करते॥

४. जो गृहस्थ या प्रव्रजित अपने मन में—'उसने मुझको अपमानित किया', 'उसने मुझको मारा', 'उसने मुझको धोखे से पराजित किया', 'उसने मेरी अमूल्य वस्तुएँ छीन लीं'—ऐसी बातों की गाँठ बाँध कर नहीं रखते (बहुत समय तक इन्हें स्मरण नहीं रखते) उनके वे पारस्परिक (छोटे बड़े, नये पुराने, ऐहलौकिक या पारलौकिक—सभी प्रकार के) वैर शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं॥

४. कालयक्षिणी को : : **श्रावस्ती के जेतवन में**

५. जैसे मैला वस्त्र मलिन जल से कथमपि स्वच्छ नहीं हो पाता, उसी तरह वैर करने से पुराने वैर शान्त नहीं हुआ करते। (इसके विपरीत—) जैसे मलिन वस्त्र यदि स्वच्छ जल से धोया जाय तो वह स्वच्छ हो जाता है; उसी तरह, पुराने से पुराने वैर (विरोध) को क्षमा एवं मैत्रीरूपी अवैर से (उस का मूलत: समीक्षण एवं प्रत्यवेक्षण करने से) शान्त किया जा सकता

१. यमकवग्गो पठमो

५. कोसम्बकभिक्खू आरब्भ

परे च न विजानन्ति, मयमेत्थ यमामसे।
ये च तत्थ विजानन्ति, ततो सम्मन्ति मेधगा॥ ६॥

६. महाकालत्थेरं आरब्भ

सुभानुपस्सिं विहरन्तं, इन्द्रियेसु असंवुतं।
भोजनम्हि चामत्तञ्ञुं, कुसीतं हीनवीरियं।
तं वे पसहति मारो, वातो रुक्खं व दुब्बलं॥ ७॥
[N.18,R.4]
असुभानुपस्सिं विहरन्तं, इन्द्रियेसु सुसंवुतं।
भोजनम्हि च मत्तञ्ञुं, सद्धं आरद्धवीरियं।
तं वे नप्पसहति मारो, वातो सेलं व पब्बतं॥ ८॥

यही पुराने सन्तों का बताया हुआ मार्ग (उपाय) है। इसे सनातन धर्म कहा जाता है।
ीन बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध एवं क्षीणास्रव भिक्षु (अर्हत्) भी इसी मार्ग का अनुसरण करते रहे •

श्रावस्ती के जेतवन में
कौशाम्बीवासी भिक्षुओं को : :

६. (विवेकी पुरुषों के अतिरिक्त) दूसरे लोग (जैसे ये कौशाम्बिवासी कलहप्रिय
) नहीं समझते कि एक न एक दिन सभी को विनष्ट (मृत्युभाव को प्राप्त) होना है।
के विपरीत) जो बुद्धिमान्, विवेकी, पण्डितजन इस (उपर्युक्त) बात को समझते हैं,
क वर्तमान कलह (=मेधग) शान्त हो जाते हैं; फिर वे भले ही छोटे हों या बड़े, सामान्य
या गम्भीर, नये हों या पुराने॥ •

श्वेतव्य नगर के शिंशपावन में
महाकाल स्थविर को : :

७. अपने शरीर के हाथ, पैर, मुख आदि अवयवों में शुभ ही शुभ (अच्छाई) देखने
ला, अपनी चक्षु आदि छह इन्द्रियों पर संयम न रखने वाला, भोजन के पर्येषण (खोज),
ण एवं उपभोग में मात्रा (परिमाण) को न जानने वाला, या भोजन की धार्मिकता एवं
धार्मिकता को न जानने वाला, कामभोग हिंसा क्रोध मिथ्या तर्कवितर्क के प्रपञ्च में फँसा
ने वाला (=कुसीत), चारों ईर्यापथों में सामर्थ्य न रखने वाला भिक्षु मार से उसी तरह
जित हो जाता है, जैसे वायु का प्रबल झोंका किसी नदी या झरने के किनारे पर खड़े दुर्बल
क्ष को गिरा देता है। अर्थात् ऐसे दुर्बल साधक को क्लेशरूप मार पराजित कर देता है॥ •

८. इसके विपरीत, अपने शरीर-हाथ पैर केश लोम नख आदि में अशुभ देखने वाला,
पनी छहों इन्द्रियों में संयम रखने वाला, भोजन के पर्येषण आदि में मात्रा (परिमाण) का
न रखने वाला, लौकिक तथा लोकोत्तर श्रद्धा से युक्त, ईर्यापथों में परिपूर्ण सामर्थ्य वाला
क्षु मार से उसी तरह पराजित नहीं होता, जैसे प्रबल से प्रबल वायु का झोंका (वेग) विशाल

७. देवदत्तं आरब्भ

अनिक्कसावो कासावं, यो वत्थं परिदहिस्सति।
अपेतो दमसच्चेन, न सो कासावमरहति॥ ९॥
यो च वन्तकसावस्स, सीलेसु सुसमाहितो।
उपेतो दमसच्चेन, स वे कासावमरहति॥ १०॥

८. सारिपुत्तत्थेरं आरब्भ

असारे सारमतिनो, सारे चासारदस्सिनो।
ते सारं नाधिगच्छन्ति, मिच्छासङ्कप्पगोचरा॥ ११॥
सारं च सारतो ञत्वा, असारं च असारतो।
ते सारं अधिगच्छन्ति, सम्मासङ्कप्पगोचरा॥ १२॥

चट्टानों वाले पर्वत को कुछ भी हानि नहीं पहुँचा पाता। अर्थात् ऐसे सामर्थ्यशाली साधक के अन्तर्मन में उत्पन्न छोटी या बड़ी दुर्भावनाएँ उसे उसकी साधना से किसी तरह भी विचलित नहीं कर सकतीं॥ ●

७. देवदत्त के काषायलाभ को : : श्रावस्तीनगर के जेतवन में

९. जो पुरुष राग द्वेष, काम क्रोध आदि कषायों (मलों=दोषों) से युक्त है, वह भिक्षूपयोगी काषायवस्त्रों के पहनने ओढने आदि का अधिकारी नहीं माना जाता। तथा जो इन्द्रियदमन एवं सत्यभाषण आदि गुणों से रहित है, दूर है, परित्यक्त है, उसे भी काषाय वस्त्र पहनने का अधिकार नहीं है॥ ●

१०. इसके विपरीत, जो पुरुष (पुद्गल) राग द्वेष, काम क्रोध आदि दोषों (कषायों) से रहित हो चुका है, उन्हें त्याग चुका है, चार मार्गों की साधना द्वारा उन दोषों से सदा के लिये सर्वथा दूर हो चुका है, तथा चतुर्विध शीलाचार परिशुद्धि में सतत सावधान रहता है, इन्द्रियदमन एवं सत्यभाषण आदि गुणों से सर्वथा सम्पन्न है, वही (ऐसा पुरुष ही) उस निर्मल काषाय वस्त्र के धारण का अधिकारी है॥ ●

८. सञ्जय परिव्राजक के अनागमन को : : राजगृह के वेणुवन में

११. (चार प्रत्यय एवं दशवस्तु सम्बन्धी मिथ्यादृष्टियों का आधार लेकर की जाने वाली धर्मदेशना 'असार' कहलाती है; तथा इसके विपरीत, दशवस्तुक सम्यग्दृष्टियों के आधार पर की गयी धर्मदेशना 'सार' कहलाती है। यों उक्त) 'असार' को 'सार' मानने वाले तथा 'सार' को 'असार' मानने वाले साधक 'सार' को कभी नहीं प्राप्त कर सकते; क्योंकि वे कामवितर्कादि के कारण उत्पन्न मिथ्यादृष्टि से साधना करते हुए शीलसार, समाधिसार, प्रज्ञासार, विमुक्तिसार, विमुक्तिज्ञानदर्शनसार, परमार्थसार एवं निर्वाण को कथमपि अधिगत नहीं कर सकते॥ ●

९. नन्दत्थेरं आरब्भ

यथा अगारं दुच्छन्नं, वुट्ठी समतिविज्झति।
एवं अभावितं चित्तं, रागो समतिविज्झति॥ १३॥
यथा अगारं सुच्छन्नं, वुट्ठी न समतिविज्झति। [B.15]
एवं सुभावितं चित्तं, रागो न समतिविज्झति॥ १४॥

१०. चुन्दसूकरिकं आरब्भ

इध सोचति पेच्च सोचति, पापकारी उभयत्थ सोचति।
सो सोचति सो विहञ्ञति, दिस्वा कम्मकिलिट्ठमत्तनो॥ १५॥

११. धम्मिकोपासकं आरब्भ

इध मोदति पेच्च मोदति, कतपुञ्ञो उभयत्थ मोदति।
सो मोदति सो पमोदति, दिस्वा कम्मविसुद्धिमत्तनो॥ १६॥

---

१२. इसके विपरीत, जो पण्डितजन उन शीलसार आदि के विषय में 'यही सार है'—ऐसा जान लेते हैं, तथा पूर्वोक्त 'असार' के विषय में भी 'यही असार है'—ऐसा तत्त्वतः जान लेते हैं, वे पण्डितजन नैष्कर्म्यसङ्कल्प आदि के आधार पर सम्यक्सङ्कल्प होकर साधना करते हुए अन्त में, पूर्वोक्त शीलसार आदि को ग्रहण करने में समर्थ हो पाते हैं॥ ●

९. नन्द स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१३. जैसे कोई तृणाच्छादित कुटी, जो बीच बीच में कुछ छिद्र छोड़ कर छायी गयी हो तो वह वर्षा का आघात नहीं सह सकती, उसी तरह, अभावित (भावना=साधना रहित) चित्त रागादि विकारों के आघात को नहीं सहन कर पाता॥ ●

१४. परन्तु, इसके विपरीत, जैसे किसी भले प्रकार से छायी हुई पर्णकुटी में वर्षा का जल प्रविष्ट नहीं हो पाता; उसी तरह साधना द्वारा परिपुष्ट निर्मल चित्त पर रागादि विकारों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता॥ ●

१०. चुन्द शौकरिक को : : राजगृह के वेणुवन में

१५. विविधपापकर्मा पुरुष, मरते समय, यही सोचता है कि मैं जीवनपर्यन्त पापकर्म ही करता रहा, यह उसका 'कर्मविषयक' चिन्तन हुआ। तथा वह अपने 'कर्मविपाक' को, मरने के बाद परलोक में जाने पर सोचता है कि मैं अपने उन कुकर्मों के कारण आज यह दुर्गति भोग रहा हूँ—यह हुआ उसका 'कर्मविपाकचिन्तन'। इस तरह वह यहाँ भी और वहाँ (मरने के बाद) भी—दोनों ही स्थानों पर अपने कुकर्मों के विषय में सोचता है॥ ●

११. किसी धार्मिक उपासक को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१६. नानाविध कुशल कर्मों का कर्ता पुरुष 'मैने यहाँ जन्म ग्रहण कर पुण्यकर्म ही किये, पापकर्म नहीं किये'—यों अपने कर्मों के विषय में चिन्तन करता हुआ प्रसन्न (मुदित)

३. तिस्सत्थेरं आरब्भ

अक्कोच्छि मं अवधि मं, अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं उपनय्हन्ति, वेरं तेसं न सम्मति॥ ३॥
अक्कोच्छि मं अवधि मं, अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं नुपनय्हन्ति, वेरं तेसूपसम्मति॥ ४॥

४. कालयक्खिनिं आरब्भ

न हि वेरेन वेरानि, सम्मन्तीध कुदाचनं। [B.14]
अवेरेन च सम्मन्ति, एस धम्मो सनन्तनो॥ ५॥

(की भावना) ही **पूर्वगामी** (आगे आगे चलनेवाला=प्रधान) होता है। (ख) मन उन कर्मों के उत्पादक धर्मों का प्रधान (श्रेष्ठ) है, अत: वे धर्म **मन:श्रेष्ठ** कहलाते हैं। (ग) एवं जैसे मट्टी से बने पात्र 'मृण्मय' पात्र एवं दारु (काष्ठ) से बने पात्र 'दारुमय' पात्र कहलाते हैं; उसी तरह इन धर्मों का मन से उत्पाद होने के कारण ये **मनोमय** कहलाते हैं।

मनुष्य अपने अलोभ आदि गुणों से सम्पृक्त, श्रद्धासम्पन्न मन से प्रेरित होकर वाणी द्वारा जो कुछ भी बोलता है या शरीर द्वारा चेष्टा करता है; इन दश (३ मानसिक, ४ वाचिक एवं ३ कायिक) कुशल कर्मों से उत्पन्न सुख उसका उसी प्रकार पीछा करता रहता है, जैसे निरन्तर साथ रहने वाली मनुष्य की छाया उसका पीछा किया करती है॥ ●

३. तिष्य स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

३. जो गृहस्थ या प्रव्रजित अपने मन में—'उसने मुझको अपमानित किया', 'उसने मुझको मारा', 'उसने मुझको धोखा देकर पराजित किया', 'उसने मेरी अमूल्य वस्तुएँ अपहृत कर लीं'—ऐसी बातों की गाँठ बाँध लेते हैं, उनके ये पारस्परिक वैर, फिर भले ही वे नये हों या पुराने, छोटे हों या बड़े, इस जन्म के हों या पूर्व जन्म के; शान्त नहीं हुआ करते॥ ●

४. जो गृहस्थ या प्रव्रजित अपने मन में—'उसने मुझको अपमानित किया', 'उसने मुझको मारा', 'उसने मुझको धोखे से पराजित किया', 'उसने मेरी अमूल्य वस्तुएँ छीन लीं'—ऐसी बातों की गाँठ बाँध कर नहीं रखते (बहुत समय तक इन्हें स्मरण नहीं रखते) उनके वे पारस्परिक (छोटे बड़े, नये पुराने, ऐहलौकिक या पारलौकिक—सभी प्रकार के) वैर शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं॥ ●

४. कालयक्षिणी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

५. जैसे मैला वस्त्र मलिन जल से कथमपि स्वच्छ नहीं हो पाता, उसी तरह वैर करने से पुराने वैर शान्त नहीं हुआ करते। (इसके विपरीत—) जैसे मलिन वस्त्र यदि स्वच्छ जल से धोया जाय तो वह स्वच्छ हो जाता है; उसी तरह, पुराने से पुराने वैर (विरोध) को क्षमा एवं मैत्रीरूपी अवैर से (उस का मूलत: समीक्षण एवं प्रत्यवेक्षण करने से) शान्त किया जा सकता

५. कोसम्बकभिक्खू आरब्भ

परे च न विजानन्ति, मयमेत्थ यमामसे।
ये च तत्थ विजानन्ति, ततो सम्मन्ति मेधगा॥ ६॥

६. महाकालत्थेरं आरब्भ

सुभानुपस्सिं विहरन्तं, इन्द्रियेसु असंवुतं।
भोजनम्हि चामत्तञ्ञुं, कुसीतं हीनवीरियं।
तं वे पसहति मारो, वातो रुक्खं व दुब्बलं॥ ७॥
असुभानुपस्सिं विहरन्तं, इन्द्रियेसु सुसंवुतं। [N.18,R.4]
भोजनम्हि च मत्तञ्ञुं, सद्धं आरद्धवीरियं।
तं वे नप्पसहति मारो, वातो सेलं व पब्बतं॥ ८॥

है—यही पुराने सन्तों का बताया हुआ मार्ग (उपाय) है। इसे सनातन धर्म कहा जाता है। (प्राचीन बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध एवं क्षीणास्रव भिक्षु (अर्हत्) भी इसी मार्ग का अनुसरण करते रहे हैं)॥ ●

५. कौशाम्बीवासी भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

६. (विवेकी पुरुषों के अतिरिक्त) दूसरे लोग (जैसे ये कौशाम्बिवासी कलहप्रिय भिक्षु) नहीं समझते कि एक न एक दिन सभी को विनष्ट (मृत्युभाव को प्राप्त) होना है। (इसके विपरीत) जो बुद्धिमान्, विवेकी, पण्डितजन इस (उपर्युक्त) बात को समझते हैं, उनके वर्तमान कलह (=मेधग) शान्त हो जाते हैं; फिर वे भले ही छोटे हों या बड़े, सामान्य हों या गम्भीर, नये हों या पुराने॥ ●

६. महाकाल स्थविर को : : श्वेतव्य नगर के शिंशपावन में

७. अपने शरीर के हाथ, पैर, मुख आदि अवयवों में शुभ ही शुभ (अच्छाई) देखने वाला, अपनी चक्षु आदि छह इन्द्रियों पर संयम न रखने वाला, भोजन के पर्येषण (खोज), ग्रहण एवं उपभोग में मात्रा (परिमाण) को न जानने वाला, या भोजन की धार्मिकता एवं अधार्मिकता को न जानने वाला, कामभोग हिंसा क्रोध मिथ्या तर्कवितर्क के प्रपञ्च में फँसा रहने वाला (=कुसीत), चारों ईर्यापथों में सामर्थ्य न रखने वाला भिक्षु मार से उसी तरह पराजित हो जाता है, जैसे वायु का प्रबल झोंका किसी नदी या झरने के किनारे पर खड़े दुर्बल वृक्ष को गिरा देता है। अर्थात् ऐसे दुर्बल साधक को क्लेशरूप मार पराजित कर देता है॥ ●

८. इसके विपरीत, अपने शरीर-हाथ पैर केश लोम नख आदि में अशुभ देखने वाला, अपनी छहों इन्द्रियों में संयम रखने वाला, भोजन के पर्येषण आदि में मात्रा (परिमाण) का ज्ञान रखने वाला, लौकिक तथा लोकोत्तर श्रद्धा से युक्त, ईर्यापथों में परिपूर्ण सामर्थ्य वाला भिक्षु मार से उसी तरह पराजित नहीं होता, जैसे प्रबल से प्रबल वायु का झोंका (वेग) विशाल

७. देवदत्तं आरब्भ

अनिक्कसावो कासावं, यो वत्थं परिदहिस्सति।
अपेतो दमसच्चेन, न सो कासावमरहति॥ ९॥
यो च वन्तकसावस्स, सीलेसु सुसमाहितो।
उपेतो दमसच्चेन, स वे कासावमरहति॥ १०॥

८. सारिपुत्तत्थेरं आरब्भ

असारे सारमतिनो, सारे चासारदस्सिनो।
ते सारं नाधिगच्छन्ति, मिच्छासङ्कप्पगोचरा॥ ११॥
सारं च सारतो ञत्वा, असारं च असारतो।
ते सारं अधिगच्छन्ति, सम्मासङ्कप्पगोचरा॥ १२॥

चट्टानों वाले पर्वत को कुछ भी हानि नहीं पहुँचा पाता। अर्थात् ऐसे सामर्थ्यशाली साधक के अन्तर्मन में उत्पन्न छोटी या बड़ी दुर्भावनाएँ उसे उसकी साधना से किसी तरह भी विचलित नहीं कर सकतीं॥ ●

७. देवदत्त के काषायलाभ को : : श्रावस्तीनगर के जेतवन में

९. जो पुरुष राग द्वेष, काम क्रोध आदि कषायों (मलों=दोषों) से युक्त है, वह भिक्षूपयोगी काषायवस्त्रों के पहनने ओढने आदि का अधिकारी नहीं माना जाता। तथा जो इन्द्रियदमन एवं सत्यभाषण आदि गुणों से रहित है, दूर है, परित्यक्त है, उसे भी काषाय वस्त्र पहनने का अधिकार नहीं है॥ ●

१०. इसके विपरीत, जो पुरुष (पुद्गल) राग द्वेष, काम क्रोध आदि दोषों (कषायों) से रहित हो चुका है, उन्हें त्याग चुका है, चार मार्गों की साधना द्वारा उन दोषों से सदा के लिये सर्वथा दूर हो चुका है, तथा चतुर्विध शीलाचार परिशुद्धि में सतत सावधान रहता है, इन्द्रियदमन एवं सत्यभाषण आदि गुणों से सर्वथा सम्पन्न है, वही (ऐसा पुरुष ही) उस निर्मल काषाय वस्त्र के धारण का अधिकारी है॥ ●

८. सञ्जय परिव्राजक के अनागमन को : : राजगृह के वेणुवन में

११. (चार प्रत्यय एवं दशवस्तु सम्बन्धी मिथ्यादृष्टियों का आधार लेकर की जाने वाली धर्मदेशना 'असार' कहलाती है; तथा इसके विपरीत, दशवस्तुक सम्यग्दृष्टियों के आधार पर की गयी धर्मदेशना 'सार' कहलाती है। यों उक्त) 'असार' को 'सार' मानने वाले तथा 'सार' को 'असार' मानने वाले साधक 'सार' को कभी नहीं प्राप्त कर सकते; क्योंकि वे कामवितर्कादि के कारण उत्पन्न मिथ्यादृष्टि से साधना करते हुए शीलसार, समाधिसार, प्रज्ञासार, विमुक्तिसार, विमुक्तिज्ञानदर्शनसार, परमार्थसार एवं निर्वाण को कथमपि अधिगत नहीं कर सकते॥ ●

९. नन्दत्थेरं आरब्भ

यथा अगारं दुच्छन्नं, वुट्ठी समतिविज्झति।
एवं अभावितं चित्तं, रागो समतिविज्झति॥ १३॥
यथा अगारं सुच्छन्नं, वुट्ठी न समतिविज्झति। [B.15]
एवं सुभावितं चित्तं, रागो न समतिविज्झति॥ १४॥

१०. चुन्दसूकरिकं आरब्भ

इध सोचति पेच्च सोचति, पापकारी उभयत्थ सोचति।
सो सोचति सो विहञ्ञति, दिस्वा कम्मकिलिट्ठमत्तनो॥ १५॥

११. धम्मिकोपासकं आरब्भ

इध मोदति पेच्च मोदति, कतपुञ्ञो उभयत्थ मोदति।
सो मोदति सो पमोदति, दिस्वा कम्मविसुद्धिमत्तनो॥ १६॥

---

१२. इसके विपरीत, जो पण्डितजन उन शीलसार आदि के विषय में 'यही सार है'—ऐसा जान लेते हैं, तथा पूर्वोक्त 'असार' के विषय में भी 'यही असार है'—ऐसा तत्त्वतः जान लेते हैं, वे पण्डितजन नैष्कर्म्यसङ्कल्प आदि के आधार पर सम्यक्सङ्कल्प होकर साधना करते हुए अन्त में, पूर्वोक्त शीलसार आदि को ग्रहण करने में समर्थ हो पाते हैं॥ ●

९. नन्द स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१३. जैसे कोई तृणाच्छादित कुटी, जो बीच बीच में कुछ छिद्र छोड़ कर छायी गयी हो तो वह वर्षा का आघात नहीं सह सकती, उसी तरह, अभावित (भावना=साधना रहित) चित्त रागादि विकारों के आघात को नहीं सहन कर पाता॥ ●

१४. परन्तु, इसके विपरीत, जैसे किसी भले प्रकार से छायी हुई पर्णकुटी में वर्षा का जल प्रविष्ट नहीं हो पाता; उसी तरह साधना द्वारा परिपुष्ट निर्मल चित्त पर रागादि विकारों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता॥ ●

१०. चुन्द शौकरिक को : : राजगृह के वेणुवन में

१५. विविधपापकर्मा पुरुष, मरते समय, यही सोचता है कि मैं जीवनपर्यन्त पापकर्म ही करता रहा, यह उसका 'कर्मविषयक' चिन्तन हुआ। तथा वह अपने 'कर्मविपाक' को, मरने के बाद परलोक में जाने पर सोचता है कि मैं अपने उन कुकर्मों के कारण आज यह दुर्गति भोग रहा हूँ—यह हुआ उसका 'कर्मविपाकचिन्तन'। इस तरह वह यहाँ भी और वहाँ (मरने के बाद) भी—दोनों ही स्थानों पर अपने कुकर्मों के विषय में सोचता है॥ ●

११. किसी धार्मिक उपासक को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१६. नानाविध कुशल कर्मों का कर्ता पुरुष 'मैने यहाँ जन्म ग्रहण कर पुण्यकर्म ही किये, पापकर्म नहीं किये'—यों अपने कर्मों के विषय में चिन्तन करता हुआ प्रसन्न (मुदित)

१२. देवदत्तं आरब्भ

इध तप्पति पेच्च तप्पति, पापकारी उभयत्थ तप्पति।
पापं मे कतं ति तप्पति, भिय्यो तप्पति दुग्गतिं गतो॥ १७॥

१३. सुमनादेविं आरब्भ

इध नन्दति पेच्च नन्दति, कतपुञ्ञो उभयत्थ नन्दति। [N.19, R.6]
पुञ्ञं मे कतं ति नन्दति, भिय्यो नन्दति सुग्गतिं गतो॥ १८॥

१४. द्वे सहायकभिक्खू आरब्भ

बहुं पि चे संहितं भासमानो, न तक्करो होति नरो पमत्तो।
गोपो व गावो गणयं परेसं, न भागवा सामञ्ञस्स होति॥ १९॥ [B.16]

होता है; तथा यह देहत्याग कर स्वकर्मफल के विषय में चिन्तन करते हुए भी प्रसन्न होता है। इस तरह, दोनों ही लोकों में जन्म ग्रहण कर वह प्रसन्न ही होता है। ऐसा यह धार्मिक उपासक स्वकर्मविशुद्धि (पुण्यकर्मसम्पत्ति) देख कर मृत्यु से पूर्व इस लोक में प्रसन्न रहता है, तथा यहाँ देहत्याग कर परलोक में भी अत्यधिक मुदित होता है॥ •

१२. देवदत्त को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१७. नानाविध पापकर्ता पुरुष इस लोक में कर्मों के अनुताप से दौर्मनस्य (असन्तोष) के कारण सन्तप्त रहता है। पुनः वही स्वकर्मफल के अनुताप से अतिकष्टदायक नरक में पतन के कारण सन्तप्त रहता है। कथन का तात्पर्य यह है कि पापी पुरुष उक्त द्विविध (कर्म एवं कर्मविपाक) अनुताप से सन्तप्त रहता है। यहाँ (इस लोक में) 'यह मेरा पापकर्म है'—यह सोच कर सन्तप्त रहता है तथा परलोक (नरक) में जाने पर उस पाप का फल भोगते समय 'यह पाप मैने किया है'—ऐसा सोच कर अत्यधिक दारुण कष्ट से सन्तप्त रहता है॥ •

१३. सुमना देवी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१८. कोई धर्माराधक यहाँ (इस लोक में) अपने शुभकर्मों के सुख से सुखी रहता है तथा परलोक में जाकर स्वकर्मफल के प्रभाव से सुखी रहता है। यों, यह विविध पुण्यकर्मकर्ता दोनों ही स्थानों पर सुखी रहता है। यहाँ यह यों विचार करता हुआ सुखी रहता है कि मैने यहाँ पुण्यकर्म क़िया। फिर परलोक में जाकर यहाँ किये पुण्य के विपाक (फल) के प्रभाव से सौमनस्य (सन्तोषसुख) अनुभव करता हुआ कर्मसुख का उपभोग करता है। इस विपाक प्रभाव से सत्तावन (५७) करोड़ वर्ष तक शुभलोकों में सुखमय जीवनयात्रा करता हुआ, साठ लाख वर्ष तक दिव्य (स्वर्ग) सुख सम्पत्ति का उपभोग करता हुआ तुषित लोक में अतीव प्रसन्न रहता है॥ •

१४. दो साथी भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१९. कोई प्रमादी पुरुष त्रिपिटक के बहुत से बुद्धवचनों का, केवल दूसरों के लिये पारायण करता रहे, परन्तु स्वयं उन बुद्धवचनों का अनुसरण न करे तथा केवल मुर्गे की तरह

अप्पं पि चे संहितं भासमानो, धम्मस्स होति अनुधम्मचारी।
रागं च दोसं च पहाय मोहं, सम्मप्पजानो सुविमुत्तचित्तो।
अनुपादियानो इध वा हुरं वा, स भागवा सामञ्ञस्स होति॥ २०॥

यमकवग्गो निट्ठितो॥

२. अप्पमादवग्गो दुतियो

१. सामावतीपमुखे उपासिके आरब्भ

अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदं।
अप्पमत्ता न मीयन्ति, ये पमत्ता यथा मता॥ २१॥
एवं विसेसतो ञत्वा, अप्पमादम्हि पण्डिता।

शास्त्र में पंख फड़फड़ाता रहे तो उस पुरुष को उस ग्वाले के सदृश ही समझना चाहिये जो दूसरों की गौओं की (जङ्गल में चराने के लिये ले जाता या लाता हुआ) प्रात: सायं गणना करता रहता है। उसे इस आचरण से श्रामण्य (प्रव्रज्या) का फल उसी तरह नहीं मिल पाता जैसे उस गोपालक को उन गौओं का दूध (पीने के लिये) नहीं मिल पाता। ऐसा भिक्षु अपने शिष्यों को तो कर्तव्य का विधि-निषेध बता सकता है, परन्तु स्वयं श्रामण्य-फल प्राप्त करने का अधिकारी नहीं बन पाता॥

२०. (इसके विपरीत—) जो साधक भिक्षु बुद्धवचन (संहिता) का पारायण (स्वाध्याय) भले ही अल्प (एक या दो वर्ग) ही करे; परन्तु उस बुद्धवचन के अनुसार अर्थ एवं धर्म को जानता हुआ, आचरण करता हुआ, प्रथम ध्यान आदि के अभ्यास में सतत प्रयत्नशील रहता है; राग द्वेष मोह का सर्वथा त्याग कर देता है, तथा सम्यक्प्रज्ञायुक्त होकर स्वचित्त को सभी चिन्ताओं से मुक्त रखता है, जो इस लोक या परलोक में किसी प्रकार का उपादान (परिग्रह) स्वीकार नहीं करता, सर्वत्र निरासक्त रहता है; वही साधक श्रामण्य (अर्हत्त्व) प्राप्ति का अधिकारी होता है॥

प्रथम यमकवर्ग सम्पन्न॥

२. अप्रमादवर्ग द्वितीय

१. सामावती आदि उपासिकाओं को : : कौशाम्बी के घोषिताराम में

२१. अप्रमाद (साधना या चर्या में भूल न होना) अमृत का पद (मार्ग) है। तथा प्रमाद मृत्यु (की ओर ले जाने वाले स्थान) का मार्ग है। अप्रमादी (प्रमाद न करने वाले) का (वास्तविक) मरण नहीं होता। (इसके विपरीत—) जो साधक प्रमत्त जीवन व्यतीत करते हैं वे (जीवित रहते हुए भी) मृत के समान हैं॥

अप्पमादे पमोदन्ति, अरियानं गोचरे रता॥ २२॥
ते झायिनो सातितिका, निच्चं दळ्हपरक्कमा।
फुसन्ति धीरा निब्बानं, योगक्खेमं अनुत्तरं॥ २३॥

२. कुम्भघोसकसेट्ठिं आरब्भ

उट्ठानवतो सतीमतो, सुचिकम्मस्स निसम्मकारिनो।
सञ्ञतस्स धम्मजीविनो, अप्पमत्तस्स यसोभिवड्ढति॥ २४॥ [R.8]

३. चूळपन्थकत्थेरं आरब्भ

उट्ठानेनप्पमादेन, संयमेन दमेन च। [B.17]
दीपं कयिराथ मेधावी, यं ओघो नाभिकीरति॥ २५॥

४. बालनक्खत्तसङ्घुट्ठं आरब्भ

पमादमनुयुञ्जन्ति, बाला दुम्मेधिनो जना। [N.20]
अप्पमादं च मेधावी, धनं सेट्ठं व रक्खति॥ २६॥
मा पमादमनुयुञ्जेथ, मा कामरतिसन्थवं।
अप्पमत्तो हि झायन्तो, पप्पोति विपुलं सुखं॥ २७॥

---

२२. जो पण्डित (बुद्धिमान्) जन इस (अप्रमाद) को विशेष रूप से जान कर अप्रमाद में ही आनन्द का अनुभव करते हैं, तथा आर्यजनों की अभिमत ज्ञानसाधना में ही संलग्न रहते हैं॥ ●

२३. जो साधक निरन्तर ध्यानावस्था में स्थित रहते हैं, एतदर्थ सतत उद्योगपरायण रहते हैं, ऐसे वे धैर्यशाली साधक उत्तम, कल्याणमय निर्वाण का स्पर्श करते हुए उसका यथासमय साक्षात्कार कर ही लेते हैं॥ ●

२. कुम्भघोषक श्रेष्ठी को : : राजगृह के वेणुवन में

२४. उत्थानशील, स्मृतिमान्, पवित्र कर्म करने वाले, विचारपूर्वक क्रियाविधि निष्पन्न करने वाले, अपने मन वाणी एवं काय की क्रियाओं को संयत रखने वाले तथा धर्मपूर्वक जीवननिर्वाह करने वाले पुरुष का यश निरन्तर बढ़ता ही रहता है॥ ●

३. चूड़पथिक स्थविर को : : राजगृह के वेणुवन में

२५. बुद्धिमान् पुरुष वीर्यरूप उत्थान, अप्रमाद, संयम एवं दमन—इन क्रियाओं के माध्यम से स्वयं को ऐसा द्वीप (शरणस्थल) बना ले, जिसे (विकाररूप) जलप्रवाह (औघ) उसके अर्हत्त्व को बिखेर (विकीर्ण) न सके॥ ●

४. बालनक्षत्र के अवसर पर : : श्रावस्ती के जेतवन में

२६. मूर्ख एवं दुर्बुद्धि पुरुषों का मन प्रमाद में लगा रहता है; परन्तु बुद्धिमान् पुरुष अप्रमाद की उसी तरह रक्षा करते हैं जैसे कोई व्यापारी अपने धन की रक्षा करता है॥ ●

५. महाकस्सपत्थेरं आरब्भ

पमादं अप्पमादेन, यदा नुदति पण्डितो।
पञ्ञापासादमारुय्ह, असोको सोकिनिं पजं।
पब्बतट्ठो व भूमट्ठे, धीरो बाले अवेक्खति॥ २८॥

६. पमत्तापमत्तसहायके आरब्भ

अप्पमत्तो पमत्तेसु, सुत्तेसु बहुजागरो।
अबलस्सं व सीघस्सो, हित्वा याति सुमेधसो॥ २९॥

७. सक्कं देवराजं (मघमाणवं) आरब्भ

अप्पमादेन मघवा, देवानं सेट्ठतं गतो।
अप्पमादं पसंसन्ति, पमादो गरहितो सदा॥ ३०॥

८. अञ्ञतरभिक्खुं आरब्भ

अप्पमादरतो भिक्खु, पमादे भयदस्सि वा।
संयोजनं अणुं थूलं, डहं अग्गीव गच्छति॥ ३१॥

---

२७. (अत:) प्रमाद में अपना मन न लगाओ। काम एवं वासनाओं से भी अपना परिचय न बढ़ाओ। अप्रमादी पुरुष सद्गुणों का ध्यान करता हुआ ही विपुल सौख्य अधिगत कर पाता है॥ ●

५. महाकाश्यप स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

२८. जब बुद्धिमान् पुरुष अप्रमाद से प्रमाद को दूर कर देता है, तब प्रज्ञारूप प्रासाद (महल) चढ़ कर तथा वीतशोक होकर, शोकमग्न प्रज्ञा को इस प्रकार देखता है जैसे पर्वत पर बैठा हुआ कोई पुरुष भूमि पर खड़े हुए साधारणजनों को देखा करता है॥ ●

६. दो प्रमत्त अप्रमत्त भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

२९. बुद्धिमान् एवं सावधान पुरुष प्रमादियों से अप्रमत्त होकर तथा सोये हुओं से जाग्रत् होकर इसी प्रकार आगे बढ़ जाता है जैसे शक्तिसम्पन्न तथा शीघ्रगामी अश्व दुर्बल अश्वों को पीछे छोड़ कर आगे बढ़ जाता है॥ ●

७. शक्र देवराज (मघ माणव) को : : वैशाली की कूटागारशाला में

३०. देवराज शक्र (इन्द्र) अप्रमाद के बल पर ही सभी देवताओं में श्रेष्ठ बन पाये। (अतएव) बुद्धिमान् पुरुष अप्रमाद गुण की ही प्रशंसा करते हैं। (इसके विपरीत) प्रमाद की तो, क्या मूर्ख क्या बुद्धिमान्—सभी ने निन्दा की है॥ ●

८. अन्यतर भिक्षु को : : श्रावस्ती के जेतवन में

३१. अप्रमादपूर्वक साधना करने वाला भिक्षु, प्रमादक्रिया से भय मानता है। तथा वह उस अप्रमाद के बल पर अपने छोटे से छोटे एवं बड़े से बड़े बन्धनों को, अग्नि की तरह, भस्म करता चलता है॥ ●

९. निगमवासितिस्सत्थेरं आरब्भ

अप्पमादरतो भिक्खु, पमादे भयदस्सि वा।
अभब्बो परिहानाय, निब्बानस्सेव सन्तिके॥ ३२॥

अप्पमादवग्गो निट्ठितो॥

३. चित्तवग्गो ततियो

१. मेघियत्थेरं आरब्भ

फन्दनं चपलं चित्तं, दूरक्खं दुन्निवारयं। [B.18]
उजुं करोति मेधावी, उसुकारो व तेजनं॥ ३३॥
वारिजो व थले खित्तो, ओकमोकतउब्भतो। [R.10]
परिफन्दतिदं चित्तं, मारधेय्यं पहातवे॥ ३४॥

२. अञ्ञतरभिक्खुं आरब्भ

दुन्निग्गहस्स लहुनो, यत्थकामनिपातिनो।
चित्तस्स दमथो साधु, चित्तं दन्तं सुखावहं॥ ३५॥

---

९. निगमवासितिष्य स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

३२. ऐसा अप्रमादरत एवं प्रमाद से भय मानने वाला भिक्षु कभी अपने भिक्षुभाव से पतित हो जाय—यह सम्भव नहीं है। उसको तो निर्वाण के समीप ही पहुँचा हुआ समझना चाहिये॥

३. चित्तवर्ग तृतीय

१. आयुष्मान् मेघिय को : : चालिय पर्वत पर

३३. बुद्धिमान् पुरुष अपने निरन्तर विचलित रहने वाले, चञ्चल, एवं कठिनतया संरक्षित तथा निवारण करने योग्य चित्त को उसी तरह सीधा एवं सरल रखे; जैसे कोई बाण बनाने वाला अपने बनाये हुए बाण को सीधा (तेज=तीक्ष्ण) करता है॥

३४. जैसे जल से निकाल कर स्थल पर फेंकी गयी मछली तड़फड़ाती रहती है; उसी प्रकार, मृत्युबन्धन से छुटकारा पाने के लिये प्राणियों का चित्त चञ्चल (तड़फड़ाता) रहता है॥

२. किसी भिक्षु को : : श्रावस्ती के जेतवन में

३५. जो चित्त बहुत बलपूर्वक निग्रहणीय है, चञ्चल है, इच्छानुसार इधर उधर भागने वाला है, ऐसे चित्त का दमन करना सर्वोत्तम होता है; क्योंकि निगृहीत चित्त ही सुखप्रद होता है॥

३. अञ्ञतरोक्कण्ठितभिक्खुं आरब्भ

सुदुद्दसं सुनिपुणं, यत्थकामनिपातिनं।
चित्तं रक्खेथ मेधावी, चित्तं गुत्तं सुखावहं॥ ३६॥

४. सङ्घरक्खितभागिनेयत्थेरं आरब्भ

दूरङ्गमं एकचरं, असरीरं गुहासयं।
ये चित्तं संयमिस्सन्ति, मोक्खन्ति मारबन्धना॥ ३७॥

५. चित्तहत्थत्थेरं आरब्भ

अनवट्ठितचित्तस्स, सद्धम्मं अविजानतो। [N.21]
परिप्लवपसादस्स, पञ्ञा न परिपूरति॥ ३८॥
अनवस्सुतचित्तस्स, अनन्वाहतचेतसो।
पुञ्ञपापपहीनस्स, नत्थि जागरतो भयं॥ ३९॥

६. पञ्चसतभिक्खू आरब्भ

कुम्भूपमं कायमिमं विदित्वा, नगरूपमं चित्तमिदं ठपेत्वा।
योधेथ मारं पञ्ञावुधेन, जितं च रक्खे अनिवेसनो सिया॥ ४०॥

---

३. किसी उत्कण्ठित भिक्षु को : : श्रावस्ती के जेतवन में

३६. जो कठिनतया देखे जाने योग्य है, अत्यधिक चतुर है, इच्छानुसार इधर उधर दौड़ने वाला है, बुद्धिमान् पुरुष अपने ऐसे चित्त पर निग्रह करे। ऐसा निगृहीत (गुप्त) चित्त ही सुखप्राप्ति का साधन हो सकता है॥ ●

४. सङ्घरक्षितभागिनेय स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

३७. जो मनुष्य इस दूर दूर तक भागने वाले, एकाकी विचरण करने वाले, अशरीरी, हृदयरूप गुहा में स्थित, चित्त पर संयम (निग्रह=निरोध) कर लेंगे वे मारबन्धन से छूट जायँगे॥ ●

५. चित्तहस्त स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

३८. जिस (साधक) का चित्त एक स्थान पर अवस्थित (स्थिर) नहीं है, जो सद्धर्म (की गम्भीरता) को नहीं जानता तथा जिसके मन की शान्ति विनष्ट हो गयी है, उसकी प्रज्ञा परिपूर्ण नहीं कही जा सकती॥ ●

३९. जिसका चित्त मलरहित (अनवश्रुत) है, जिसका चित्त अप्रतिहत (अनन्वाहत) है और जो पुण्य एवं पाप से ऊपर उठ (क्षीणास्रव हो) चुका है, ऐसे सावधान (जाग्रत्) साधक को कहीं से कोई भय नहीं है॥ ●

६. पाँच सौ भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

४०. (अपने) इस शरीर को (मिट्टी के) घट के समान क्षणस्थायी समझ कर, इस

७. पूतिगत्ततिस्सत्थेरं आरब्भ

अचिरं वतयं कायो, पठविं अधिसेस्सति। [B.19]
छुद्धो अपेतविञ्ञाणो, निरत्थं व कलिङ्गरं॥ ४१॥

८. नन्दगोपालकं आरब्भ

दिसो दिसं यं तं कयिरा, वेरी वा पन वेरिनं।
मिच्छापणिहितं चित्तं, पापियो नं ततो करे॥ ४२॥

९. सोरेय्यत्थेरं आरब्भ

न तं माता पिता कयिरा, अञ्ञे वा पि च ञातका।
सम्मापणिहितं चित्तं, सेय्यसो नं ततो करे॥ ४३॥

चित्तवग्गो निट्ठितो॥



चित्त को नगर के समान सुरक्षित बना कर, साधक पुरुष प्रज्ञारूप शस्त्र लेकर मार के साथ युद्ध करे। वह जीते हुए की रक्षा करे, और (संसार में) आसक्तिरहित होकर विचरण करे॥

७. पूतिगात्र तिष्य स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

४१. कुछ ही समय बाद तुम्हारा यह शरीर, क्षुब्ध होकर चेतनाशून्य एवं निरर्थक, शुष्क तथा गलित काष्ठ के समान भूमि पर गिर जायगा॥

८. नन्द गोपालक को : : श्रावस्ती के जेतवन में

४२. शत्रु शत्रु के प्रति, वैरी वैरी के प्रति जो अहित करने में समर्थ नहीं हो पाता, कुपथ में प्रवृत्त (लगा हुआ) उसका चित्त उन शत्रुओं से अधिक उसका अहित कर डालता है॥

९. सौरेय स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

४३. मनुष्य का, उसके माता पिता तथा सम्बन्धिजन जितना हित नहीं कर पाते, उससे अधिक उसका हित सम्यक्प्रणिहित (सन्मार्ग में प्रवृत्त) चित्त सम्पादित कर देता है॥

चित्तवर्ग तृतीय सम्पन्न॥



४. पुप्फवग्गो चतुत्थो

१. पञ्चसतभिक्खू आरब्भ

को इमं पठविं विजेस्सति, यमलोकं च इमं सदेवकं। [R.12]
को धम्मपदं सुदेसितं, कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति॥ ४४॥
सेखो पठविं विजेस्सति, यमलोकं च इमं सदेवकं।
सेखो धम्मपदं सुदेसितं, कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति॥ ४५॥

२. मरीचिकम्मट्ठानिकभिक्खू आरब्भ

फेणूपमं कायमिमं विदित्वा, मरीचिधम्मं अभिसम्बुधानो। [B.20]
छेत्वान मारस्स पपुप्फकानि, अदस्सनं मच्चुराजस्स गच्छे॥ ४६॥

३. विडूडभं आरब्भ

पुप्फानि हेव पचिनन्तं, ब्यासत्तमनसं नरं। [N.22]
सुत्तं गामं महोघो व, मच्चु आदाय गच्छति॥ ४७॥

४. पतिपूजिकं कुमारिं आरब्भ

पुप्फानि हेव पचिनन्तं, ब्यासत्तमनसं नरं।
अतित्तञ्ञेव कामेसु, अन्तको कुरुते वसं॥ ४८॥

---

४. पुष्पवर्ग चतुर्थ

१. पृथ्वीकथाप्रसक्त पाँच सौ भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

४४. इस समय पृथ्वी का तथा देवलोक सहित यमलोक का कौन चयन कर पायगा? यहाँ कौन कुशल साधक सम्यक् प्रकार से उपदिष्ट धर्म के पदों (३७ बोधिपक्षीय धर्मों) का, पुष्पों की भाँति, चयन कर पायगा? ●

४५. शैक्ष्य (साधक) ही इस पृथ्वी का तथा देवलोकसहित यमलोक का चयन कर पायगा। कुशल (साधनाप्रवीण) शैक्ष्य (साधक) ही सम्यक् प्रकार से उपदिष्ट धर्मपदों (३७ बोधिपक्षीय धर्मों) का सम्यक्तया (भली भाँति) चयन कर पायगा॥ ●

२. मरीचिकर्मस्थानिक भिक्षुओं को : : श्रावस्ती में

४६. साधक अपने शरीर को जल के फेन (झाग) के समान समझ कर, तथा मृगमरीचिका के स्वभाव (भ्रमोत्पादक ज्ञान कराने) वाला समझ कर, मार के पुष्पमय बाणों को काट कर, यमराज (मृत्यु की अधिष्ठात्री देवता) की दृष्टि से अदृश्य हो जाय॥ ●

३. कोशलराज विडूडभ को : : श्रावस्ती में

४७. जिस प्रकार नदी का विशाल जलप्रवाह सोये हुए ग्राम को बहा कर ले जाता है, उसी प्रकार कामभोगरूप पुष्पों का चयन करने वाले तथा उन्हीं में आसक्त रहने वाले मनुष्य को मृत्यु पकड़ कर ले जाती है॥ ●

५. मच्छरियकोसेयसेट्ठिं आरब्भ

यथा पि भमरो पुप्फं, वण्णगन्धमहेठयं।
पलेति रसमादाय, एवं गामे मुनी चरे॥ ४९॥

६. पावेय्यकाजीवकं आरब्भ

न परेसं विलोमानि, न परेसं कताकतं।
अत्तनो व अवेक्खेय्य, कतानि अकतानि च॥ ५०॥

७. छत्तपाणिं उपासकं आरब्भ

यथा पि रुचिरं पुप्फं, वण्णवन्तं अगन्धकं।
एवं सुभासिता वाचा, अफला होति अकुब्बतो॥ ५१॥
यथा पि रुचिरं पुप्फं, वण्णवन्तं सगन्धकं।
एवं सुभासिता वाचा, सफला होति कुब्बतो॥ ५२॥

८. विसाखं उपासिकं आरब्भ

यथा पि पुप्फरासिम्हा, कयिरा मालागुणे बहू। [B.21,R.14]
एवं जातेन मच्चेन, कत्तब्बं कुसलं बहुं॥ ५३॥

---

४. किसी पतिपूजिका कुमारी को : : श्रावस्ती में

४८. कामभोगरूप पुष्पों का चयन करने वाले तथा उन्हीं में आसक्त चित्तवाले एवं वासनाओं की पूर्ति से अतृप्त रहने वाले मनुष्य को मृत्यु अपने वश में कर लेती है॥ ●

५. मात्सर्यकौषेय श्रेष्ठी को : : श्रावस्ती में

४९. जैसे कोई भ्रमर पुष्प के सौन्दर्य एवं गन्ध की कुछ भी हानि किये विना, उसका रस लेकर आगे बढ़ जाता है, वैसे ही मुनि (भिक्षु) को ग्राम में विचरण करना चाहिये॥ ●

६. पावेयक आजीवक भिक्षु को : : श्रावस्ती में

५०. मनुष्य दूसरों के दोष या दूसरों द्वारा किये गये अच्छे बुरे कर्मों पर विचार न करे; अपितु उसे केवल स्वयंकृत भले बुरे कर्मों का ही समीक्षण करते रहना चाहिये॥ ●

७. छत्रपाणि उपासक को : : श्रावस्ती में

५१. जिस प्रकार सुन्दर वर्ण (रंग) युक्त पुष्प गन्धहीन होने से मनुष्य के लिये निष्फल एवं निरर्थक होता है; इसी तरह सुभाषित वाणी भी, यदि उस पर आचरण न किया जाय तो वह, निष्फल एवं निरर्थक ही होती है॥ ●

५२. (इसके विपरीत) जिस प्रकार सुन्दर वर्ण (रंग) युक्त पुष्प सुगन्धमय भी हो तो वह मनुष्यों को अत्यधिक लाभप्रद होता है, उसी प्रकार, सुभाषित वाणी, यदि उस पर आचरण भी किया जाय तो वह, उन मनुष्यों के लिये अतीव हितावह होती है॥ ●

९. आनन्दत्थेरपञ्हविस्सज्जनं आरब्भ

न पुप्फगन्धो पटिवातमेति, न चन्दनं तगरमल्लिका वा।
सतं च गन्धो पटिवातमेति, सब्बा दिसा सप्पुरिसो पवायति॥ ५४॥

चन्दनं तगरं वा पि, उप्पलं अथ वस्सिकी।
एतेसं गन्धजातानं, सीलगन्धो अनुत्तरो॥ ५५॥

१०. महाकस्सपत्थेरं आरब्भ

अप्पमत्तो अयं गन्धो, य्वायं तगरचन्दनं।
यो च सीलवतं गन्धो, वाति देवेसु उत्तमो॥ ५६॥

११. गोधिकत्थेरपरिनिब्बानं आरब्भ

तेसं सम्पन्नसीलानं, अप्पमादविहारिनं।
सम्मदञ्ञा विमुत्तानं, मारो मग्गं न विन्दति॥ ५७॥

१२. गरहदिन्नं आरब्भ

यथा सङ्कारधानस्मिं, उज्झितस्मिं महापथे।
पदुमं तत्थ जायेथ, सुचिगन्धं मनोरमं॥ ५८॥

---

८. विशाखा उपासिका को : : श्रावस्ती के पूर्वाराम में

५३. जैसे (कोई चतुर माली) किसी पुष्पसमूह से नाना प्रकार की मालाएँ गूँथता रहता है; उसी प्रकार इस लोक में उत्पन्न हुए मनुष्य को अनेक प्रकार से शुभ कर्म करते रहना चाहिये॥ ●

९. आयुष्मान् आनन्द को : : श्रावस्ती में

५४. पुष्पों की गन्ध वायु के विपरीत नहीं जाती; इसी तरह चन्दन, तगर या मल्लिका (जूही) की गन्ध भी वायु के प्रतिकूल नहीं जा पाती; परन्तु सज्जनों (शीलवानों) के गुणों की प्रशंसा-गन्ध वायु के प्रतिकूल भी जाने में समर्थ है। इस तरह, सज्जन, अपने शील के कारण, सभी दिशाओं में व्याप्त रह कर प्रशंसा प्राप्त करता है॥ ●

५५. चन्दन, तगर, कमल एवं चमेली—इनकी गन्धों की अपेक्षा शील (सदाचार) की गन्ध अत्युत्कट (अनुत्तर) होती है॥ ●

१०. महाकाश्यप स्थविर को : : राजगृह के वेणुवन में

५६. तगर एवं चन्दन आदि की गन्ध तो अल्पमात्र ही होती है; परन्तु सच्चरित्र (शीलवान्) पुरुषों के शील की गन्ध देवताओं (के वासस्थान) तक पहुँच जाती है॥ ●

११. गोधिक स्थविर को : : राजगृह के वेणुवन में

५७. उन शीलसम्पन्न (सदाचारी) एवं अप्रमत्त होकर साधना करने वाले तथा सम्यग्ज्ञानद्वारा मुक्त हुए मनुष्यों को पापी मार नहीं खोज सकता॥ ●

एवं सङ्कारभूतेसु, अन्धभूते पुथुज्जने। [N.23]
अतिरोचति पञ्ञाय, सम्मासम्बुद्धसावको॥ ५९॥

पुप्फवग्गो निट्ठितो॥

५. बालवग्गो पञ्चमो

१. अञ्ञतरपुरिसं आरब्भ

दीघा जागरतो रत्ति, दीघं सन्तस्स योजनं। [B.22]
दीघो बालान संसारो, सद्धम्मं अविजानतं॥ ६०॥

२. महाकस्सपत्थेरसहविहारिकं आरब्भ

चरञ्चे नाधिगच्छेय्य, सेय्यं सदिसमत्तनो।
एकचरियं दळ्हं कयिरा, नत्थि बाले सहायता॥ ६१॥

३. आनन्दसेट्ठिं आरब्भ

पुत्ता मत्थि धनमत्थि, इति बालो विहञ्ञति।
अत्ता हि अत्तनो नत्थि, कुतो पुत्ता कुतो धनं॥ ६२॥

---

१२. गर्हादत्त निगण्ठश्रावक को : : श्रावस्ती के जेतवन में

५८, ५९. जैसे कूड़ा कर्कट फेंके गये राजमार्ग पर शुद्ध गन्धवाला मनोहर कमलपुष्प खिल उठे; उसी प्रकार कूड़े कर्कट से युक्त के समान अविद्यान्ध मनुष्यों में भगवान् बुद्ध का सम्यग्ज्ञानप्राप्त शिष्य स्वकीय प्रज्ञा से सर्वत्र प्रकाशित होता है॥

पुष्पवर्ग चतुर्थ सम्पन्न॥

५. बालवर्ग पञ्चम

१. कौशलराज प्रसेनजित् को : : श्रावस्ती के जेतवन में

६०. जागने वाले पुरुष को रात्रि (की समय सीमा) लम्बी ज्ञात होती है। थके हुए यात्री को आगे की यात्रा लम्बी ज्ञात होती है; उसी तरह सद्धर्म को न जानने वाले अज्ञानियों के लिये यह संसार (की यात्रा) अपेक्षाकृत अधिक लम्बा (दीर्घ) होता है॥

२. महाकाश्यप के शिष्य को : : श्रावस्ती के जेतवन में

६१. यदि सत्पथ पर चलते हुए मनुष्य को अपने समान या अपने से श्रेष्ठ साथी (सहायक) न मिले तो उसे दृढता के साथ अकेले (एकाकी) ही चलना चाहिये; परन्तु किसी मूर्ख का साथ (सहायता) नहीं पकड़ना चाहिये॥

३. आनन्दश्रेष्ठी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

६२. 'ये मेरे पुत्र हैं', 'यह मेरा धन है'—ऐसा विचार कर मूर्ख पुरुष इस संसार में

४. गण्ठिभेदकचोरं आरब्भ

योबालो मञ्ञति बाल्यं, पण्डितो वा पि तेन सो। [R.16]
बालो च पण्डितमानी, स वे बालो ति वुच्चति॥ ६३॥

५. उदायित्थेरं आरब्भ

यावजीवं पि चे बालो, पण्डितं पयिरुपासति।
न सो धम्मं विजानाति, दब्बी सूपरसं यथा॥ ६४॥

६. तिंसमत्तपावेय्यकभिक्खू आरब्भ

मुहुत्तमपि चे विञ्ञू, पण्डितं पयिरुपासति।
खिप्पं धम्मं विजानाति, जिव्हा सूपरसं यथा॥ ६५॥

७. सुप्पबुद्धकुट्ठिं आरब्भ

चरन्ति बाला दुम्मेधा, अमित्तेनेव अत्तना।
करोन्ता पापकं कम्मं, यं होति कटुकप्फलं॥ ६६॥

दु:ख ही पाता है। अरे! जब आत्मा ही अपना नहीं है तो ये पुत्र तथा यह धन किसी के कैसे और कहाँ से हो जायँगें!॥ ●

४. ग्रन्थिभेदक चौरों को : : श्रावस्ती के जेतवन में

६३. जो पुरुष मूर्ख (बाल) होता हुआ भी यह जानता है कि वह वस्तुत: मूर्ख ही है, पण्डित (शास्त्रज्ञ) नहीं, वह (अपनी मूर्खता से परिचित) मूर्ख, मूर्ख होते हुए भी पण्डिततुल्य ही है; क्योंकि उसे अपनी मूर्खता का ज्ञान है। परन्तु जो पुरुष वस्तुत: मूर्ख होते हुए भी अपने को पण्डित मानता है, ऐसा वह पाण्डित्याभिमानी मूर्ख, धर्मश्रवण न करने तथा धार्मिक क्रियाकलापसम्पन्न न करने के कारण, मूर्ख ही रह जाता है॥ ●

५. उदायी स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

६४. यदि कोई मूर्ख मनुष्य जीवनपर्यन्त किसी पण्डित पुरुष के साथ रहे तो भी वह धर्म के विषय में वैसे ही कुछ नहीं जान सकता, जैसे सूप में पड़ी हुई कड़छी (दर्वी) सूप के अनुपम रस को नहीं जान पाती॥ ●

६. पावा के तीस भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

६५. यदि विचारवान् पुरुष क्षणभर ही किसी पण्डित के साथ रहे तो भी वह उससे धर्म के तत्त्व को उसी तरह जान लेता है; जैसे—जिह्वा क्षणमात्र के सम्पर्क से ही सूप का स्वाद (रस) जान लेती है॥ ●

७. कुष्ठरोगी सुप्रबुद्ध को : : राजगृह के वेणुवन में

६६. दुर्बुद्धि पुरुष स्वयं ही अपने शत्रु बने हुए घूमते रहते हैं और पापमय कर्म करते रहते हैं, जिनका दुष्परिणाम भोगना उसके लिये निश्चित है॥ ●

८. एकं कस्सकं आरब्भ

न तं कम्मं कतं साधु, यं कत्वा अनुतप्पति। [B.23]
यस्स अस्सुमुखो रोदं, विपाकं पटिसेवति॥ ६७॥

९. सुमनमालाकारं आरब्भ

तं च कम्मं कतं साधु, यं कत्वा नानुतप्पति।
यस्स पतीतो सुमनो, विपाकं पटिसेवति॥ ६८॥

१०. उप्पलवण्णं थेरिं आरब्भ

मधुवा मञ्ञति बालो, याव पापं न पच्चति।
यदा च पच्चति पापं, बालो दुक्खं निगच्छति॥ ६९॥

११. जम्बुकं थेरं आरब्भ

मासे मासे कुसग्गेन, बालो भुञ्जेय्य भोजनं।
न सो सङ्खतधम्मानं, कलं अग्घति सोळसिं॥ ७०॥

१२. अहिपेतं आरब्भ

न हि पापं कतं कम्मं, सज्जु खीरं व मुच्चति। [N.24]
डहन्तं बालमन्वेति, भस्मच्छन्नो व पावको॥ ७१॥

---

८. किसी कृषक को : : श्रावस्ती के जेतवन में

६७. किया हुआ वह कार्य अच्छा नहीं कहलाता जिसके करने से मनुष्य को बाद में कोई पश्चात्ताप करना पड़े। तथा जिसका परिणाम (विपाक=फल) आँसू बहाते हुए (रोते हुए) भोगना पड़े॥ •

९. सुमन मालाकार को : : राजगृह के वेणुवन में

६८. किया हुआ वही कर्म अच्छा होता है, जिसे करने के बाद, मनुष्य को पछताना न पड़े। तथा जिसके परिणाम (फल) को प्रसन्नता(सौमनस्य)पूर्वक भोगा जा सके॥ •

१०. उत्पलवर्णा थेरी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

६९. जब तक किसी मूर्ख के पापकर्म का परिपाक नहीं होता, तब तक वह मूर्ख उस कर्म की मधु के समान मिठास ही जान पाता है। तथा जब उस पापकर्म का परिपाक (फल) होता है, तब उस मूर्ख को उस पापकर्म के परिपाकस्वरूप कठोर दुःख भोगना पड़ता है॥ •

११. जम्बुक आजीवक को : : राजगृह के वेणुवन में

७०. यदि कोई मूर्ख मनुष्य प्रतिमास कुशा के अग्रभाग से उठा कर भोजन करे तो भी वह धर्मज्ञान के सोलहवें अंश की भी समानता नहीं कर सकता॥ •

१२. अहिप्रेत को : : राजगृह के वेणुवन में

७१. किया हुआ पापमय कर्म शीघ्र ही विकार प्राप्त नहीं कर पाता, जैसे दूध (स्तन से

१३. सट्ठिकूटं पेतं आरब्भ

यावदेव अनत्थाय, ञत्तं बालस्स जायति।
हन्ति बालस्स सुक्कंसं, मुद्धमस्स विपातयं॥ ७२॥

१४. चित्तं गहपतिं आरब्भ

असन्तं भावनमिच्छेय्य, पुरेक्खारं च भिक्खुसु।
आवासेसु च इस्सरियं, पूजं परकुलेसु च॥ ७३॥
ममेव कतमञ्ञन्तु, गिहीपब्बजिता उभो। [B.24,R.18]
ममेवातिवसा अस्सु, किच्चाकिच्चेसु किस्मिचि।
इति बालस्स सङ्कप्पो, इच्छा मानो च वड्ढति॥ ७४॥

१५. वनवासितिस्सत्थेरं आरब्भ

अञ्ञा हि लाभूपनिसा, अञ्ञा निब्बानगामिनी।
एवमेतं अभिञ्ञाय, भिक्खु बुद्धस्स सावको।
सक्कारं नाभिनन्देय्य, विवेकमनुब्रूहये॥ ७५॥ ●

बालवग्गो निट्ठितो॥

निकलते ही) तत्काल विकृत नहीं होता; परन्तु वह पापमय कर्म, भस्म से आवृत अग्नि से समान, उस पापी मूर्ख का पीछा (अनुगमन) करता रहता है॥ ●

१३. षष्टिकूटप्रेत को : : राजगृह के वेणुवन में

७२. मूर्ख मनुष्य का जितना भी ज्ञान है, यह सब उसके अनर्थ के लिये ही होता है। वह ज्ञान उसके मस्तक को छिन्न भिन्न करता हुआ उसके शुद्ध (शुक्ल) अंश का समूल उच्छेद कर देता है॥ ●

१४. चित्त गृहपति को : : श्रावस्ती के जेतवन में

७३. जो मूर्ख श्रमण असत् (अविद्यमान) सम्भावनाओं की इच्छा करे, भिक्षुओं के मध्य अग्रणी बनना चाहे, वासस्थानों में ऐश्वर्य (स्वामित्व) की कामना करे तथा दूसरे कुलों (घरों) में जाकर अपने ही मान सम्मान की इच्छा करे॥ ●

७४. जो मूर्ख श्रमण यह सङ्कल्प करता है कि गृहस्थ एवं प्रव्रजित—दोनों ही वर्ग मेरे कृत्य का अनुमोदन करें। किन्हीं भी करणीय या अकरणीय कार्यों में (वे दोनों वर्ग) मेरे ही वश में रहें। उस मूर्ख का यह सङ्कल्प उसके इच्छा एवं मान आदि (क्लेशों) को बढ़ाता ही है॥ ●

१५. वनवासी तिष्य श्रामणेर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

७५. 'सांसारिक लाभ-सत्कार प्राप्त करने का मार्ग अन्य है, तथा निर्वाण की ओर ले जाने वाला मार्ग अन्य'—इस प्रकार यह (मार्ग) जान कर बुद्ध का श्रावक भिक्षु लौकिक सत्कार का अभिनन्दन न करे और विवेक (एकान्त साधना) को ही आगे बढ़ाये॥ ●

६. पण्डितवग्गो छट्ठो

१. राधत्थेरं आरब्भ

निधीनं व पवत्तारं, यं पस्से वज्जदस्सिनं।
निग्गय्हवादिं मेधाविं, तादिसं पण्डितं भजे।
तादिसं भजमानस्स, सेय्यो होति न पापियो॥ ७६॥

२. अस्सजिपुनब्बसुकं आरब्भ

ओवदेय्यानुसासेय्य, असब्भा च निवारये।
सतं हि सो पियो होति, असतं होति अप्पियो॥ ७७॥

३. छन्नत्थेरं आरब्भ

न भजे पापके मित्ते, न भजे पुरिसाधमे।
भजेथ मित्ते कल्याणे, भजेथ पुरिसुत्तम॥ ७८॥

४. महाकप्पिनत्थेरं आरब्भ

धम्मपीति सुखं सेति, विप्पसन्नेन चेतसा।
अरियप्पवेदिते धम्मे, सदा रमति पण्डितो॥ ७९॥

---

६. पण्डितवर्ग षष्ठ

१. राध स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

७६. जो निधियों (खजानों) का सङ्केत करने वाले के समान वर्जनीय (त्याज्य) कर्मों का बोध कराने वाला है, जो निगृह्यवादी (ताड़ना देकर सुधारने वाला) है, मेधावी है, ऐसे विद्वान् सज्जन का सङ्ग करना चाहिये। ऐसे मनुष्य का सङ्ग करने वाले को पुण्य ही होता है, पाप नहीं॥

२. अस्सजि-पुनब्बसु भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

७७. जो मनुष्य हित का उपदेश करे, तदर्थ अनुशासन करे, वह मनुष्य सज्जनों को प्रिय लगता है। तथा असज्जनों को अप्रिय॥

३. छन्न स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

७८. स्वहिताकांक्षी पुरुष पापी मित्रों का साथ न करे, वह अधम पुरुषों का भी सङ्ग न करे; अपितु वह कल्याणकारी मित्रों का ही सङ्ग करे, उत्तम पुरुषों का ही साथ करे॥

४. महाकप्पिन स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

७९. धर्मरस का पान करने वाला प्रसन्नचित्त होकर सुखपूर्वक सोता है; क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्य ही आर्यों द्वारा प्रोक्त धर्म में सदा अभिरमण कर पाता है॥

५. पण्डितसामणेरं आरब्भ

उदकं हि नयन्ति नेत्तिका, उसुकारा नमयन्ति तेजनं। [B.25]
दारुं नमयन्ति तच्छका, अत्तानं दमयन्ति पण्डिता॥ ८०॥

६. लकुण्टकभद्दियत्थेरं आरब्भ

सेलो यथा एकघनो, वातेन न समीरति। [N.25]
एवं निन्दापसंसासु, न समिञ्जन्ति पण्डिता॥ ८१॥

७. काणमातरं आरब्भ

यथा पि रहदो गम्भीरो, विप्पसन्नो अनाविलो। [R.20]
एवं धम्मानि सुत्वान, विप्पसीदन्ति पण्डिता॥ ८२॥

८. पञ्चसतभिक्खू आरब्भ

सब्बत्थ वे सप्पुरिसा चजन्ति, न कामकामा लपयन्ति सन्तो।
सुखेन फुट्ठा अथ वा दुखेन, न उच्चावचं पण्डिता दस्सयन्ति॥ ८३॥

९. धम्मिकत्थेरं आरब्भ

न अत्तहेतु न परस्स हेतु, न पुत्तमिच्छे न धनं न रट्ठं।
न इच्छेय्य अधम्मेन समिद्धिमत्तनो,
स सीलवा पञ्ञवा धम्मिको सिया॥ ८४॥

---

५. पण्डित श्रामणेर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

८०. जैसे नहरों के निर्माता नहरों से जल ले जाते हैं, बाण बनाने वाले बाण (शर) को नम्र (सीधा) करते हैं, बढ़ई काष्ठ को ठीक (सरल) बनाते हैं; उसी तरह पण्डित पुरुष आत्मसंयम में ही तत्पर रहते हैं॥ ●

६. लकुण्टकभद्दिय स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

८१. जैसे सुदृढ (एकघन) पर्वत प्रबलतम वायु से भी कम्पित नहीं होता; उसी प्रकार बुद्धिमान् (पण्डित) पुरुष भी निन्दा या प्रशंसा आदि लोकधर्मों से विचलित नहीं होता॥ ●

७. काणमाता को : : श्रावस्ती के जेतवन में

८२. जैसे गम्भीर जलाशय (नीलसमुद्र) निर्मल एवं स्वच्छ होता है, वैसे ही पण्डितजन भी भगवदुपदिष्ट धर्मों को सुन कर सन्तुष्ट रहते हैं॥ ●

८. पाँच सौ भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

८३. सत्पुरुष छन्दराग छोड़ कर सभी धर्मों में अनासक्त रहते हुए साधना करते हैं। ये कामभोगों की इच्छा कर, व्यर्थ का अपलाप नहीं करते; उनका चाहे सुख से स्पर्श हो या दुःख से, ऐसे पण्डितजन अपने आचरण में किसी भी प्रकार का ऊँच नीच का विकार नहीं आने देते॥ ●

१०. धम्मस्सवनं आरब्भ

अप्पका ते मनुस्सेसु, ये जना पारगामिनो।
अथायं इतरा पजा, तीरमेवानुधावति॥ ८५॥
ये च खो सम्मदक्खाते, धम्मे धम्मानुवत्तिनो।
ते जना पारमेस्सन्ति, मच्चुधेय्यं सुदुत्तरं॥ ८६॥

११. पञ्चसतागन्तुकभिक्खू आरब्भ

कण्हं धम्मं विप्पहाय, सुक्कं भावेथ पण्डितो। [B.26]
ओका अनोकमागम्म, विवेके यत्थ दूरमं॥ ८७॥
तत्राभिरतिमिच्छेय्य, हित्वा कामे अकिञ्चनो।
परियोदपेय्य अत्तानं, चित्तक्लेसेहि पण्डितो॥ ८८॥
येसं सम्बोधियङ्गेसु, सम्मा चित्तं सुभावितं।
आदानपटिनिस्सग्गे, अनुपादाय ये रता।
खीणासवा जुतिमन्तो, ते लोके परिनिब्बुता॥ ८९॥ ●

पण्डितवग्गो निट्ठितो॥

---

९. धार्मिक स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

८४. जो मनुष्य न अपने लिये, न दूसरों के लिये, पुत्र धन या राष्ट्र की कामना न करता हो, न अधर्माचरणपूर्वक अपनी समृद्धि की ही कामना करता हो, अैसा पुरुष ही धार्मिक, शीलवान् एवं प्रज्ञावान् कहलाता है॥ ●

१०. धर्मश्रवणहेतु भिक्षुओं का उत्साहसंवर्धन : : श्रावस्ती के जेतवन में

८५. संसार में जन्म लेने वाले ऐसे लोग बहुत कम हैं जो (धर्मसाधन द्वारा) इस संसार से पार जा सकते हों। अन्यथा दूसरे साधारण सांसारिक जन तो तीर (किनारे) पर ही दौड़ते रहते हैं॥ ●

८६. परन्तु जो लोग भली प्रकार से उपदिष्ट धर्म का अनुगमन करते हैं, वे लोग अत्यधिक कठिनता से पार जाने योग्य मृत्यु के राज्य से पार चले जायँगें॥ ●

११. पाँच सौ भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

८७. बुद्धिमान् पुरुष कृष्ण (पाप) धर्म का परित्याग कर शुक्ल (पुण्यमय) धर्म का आचरण करे। वह गृहस्थ धर्म त्याग कर गृहविहीन अवस्था प्राप्त करे (प्रव्रजित हो जाय)। क्योंकि गृहस्थधर्म में रहते हुए एकान्त साधना कठिन होती है॥ ●

८८. वह बुद्धिमान् पुरुष कामनाओं का परित्याग कर, अकिञ्चन (सर्वत्यागी) बन कर उस (प्रव्रज्या) में रत रहने की इच्छा करे। तथा इस प्रकार चित्तक्लेश (मनोविकार) दूर कर स्वयं को परिशुद्ध करे॥ ●

७. अरहन्तवग्गो सत्तमो

१. जीवकपुट्ठपञ्हं आरब्भ

गतद्धिनो विसोकस्स, विप्पमुत्तस्स सब्बधि। [R.22]
सब्बगन्थप्पहीनस्स, परिळाहो न विज्जति॥ ९०॥

२. महाकस्सपत्थेरं आरब्भ

उय्युञ्जन्ति सतीमन्तो, न निकेते रमन्ति ते। [N.26]
हंसा व पल्ललं हित्वा, ओकमोकं जहन्ति ते॥ ९१॥

३. वेलट्ठसीसत्थेरं आरब्भ

येसं सन्निचयो नत्थि, ये परिञ्ञातभोजना।
सुञ्ञतो अनिमित्तो च, विमोक्खो येसं गोचरो।
आकासे व सकुन्तानं, गति तेसं दुरन्नया॥ ९२॥

---

८९. जिनका चित्त सम्बोधि-अङ्गों में सम्यक् प्रकार से अभ्यस्त हो चुका है, जो सांसारिक लाभ ग्रहण करने में अनासक्त होकर परिग्रह के त्याग में ही रत हैं, जिनके चित्तविकार प्रहीण हो चुके हैं, जो तेजस्वी बन चुके हैं, ऐसे साधक मनुष्य ही संसार से परिनिर्वाण प्राप्त कर पाये हैं॥ ●

पण्डितवर्ग षष्ठ समाप्त॥

७. अर्हद्वर्ग सप्तम

१. जीवक के प्रश्न का उत्तर : : राजगृह के जीवकाम्रवन में

९०. जिसका मार्ग (संसार में आना जाना=भवपरम्परा) समाप्त हो चुका है, जो सर्वथा विमुक्त है, सब ग्रन्थियों से मुक्ति पा चुका है, उसके लिये कोई परिदाह (सन्ताप, जलन) नहीं रह जाता॥ ●

२. महाकाश्यप स्थविर को : : राजगृह के वेणुवन में

९१. साधकजन स्मृतिमान् होकर अपनी साधना में निरत रहते हैं, वे गार्हस्थ्य में कोई आसक्ति नहीं रखते। जैसे स्वच्छ जलाशय में तैरने वाले राजहंस ग्राम के मलिन तड़ाग (जलाशय) का त्याग कर देते हैं; उसी तरह ऐसे साधक साधारण गृहस्थ परिवार में कोई आसक्ति नहीं रखते॥ ●

३. वेलट्ठिसीस स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

९२. जो वस्तुओं का सञ्चय नहीं करते, जिनका भोजन परिज्ञात है, जिन्हें अनित्यता-रूप तथा निमित्तरहित मोक्ष दिखायी पड़ता है, उनकी वास्तविक गति उसी तरह कठिनता से जानी जा सकती है जैसे आकाश में पक्षियों के पदक्रम कठिनता से जाने जाते हैं॥ ●

४. अनुरुद्धत्थेरं आरब्भ

यस्सासवा परिक्खीणा, आहारे च अनिस्सितो। [B.27]
सुञ्ञतो अनिमित्तो च, विमोक्खो यस्स गोचरो।
आकासे व सकुन्तानं, पदं तस्स दुरन्नयं॥ ९३॥

५. महाकच्चानत्थेरं आरब्भ

यस्सिन्द्रियानि समथङ्गतानि, अस्सा यथा सारथिना सुदन्ता।
पहीनमानस्स अनासवस्स, देवा पि तस्स पिहयन्ति तादिनो॥ ९४॥

६. सारिपुत्तत्थेरं आरब्भ

पठविसमो नो विरुज्झति, इन्दखीलूपमो तादि सुब्बतो।
रहदो व अपेतकद्दमो, संसारा न भवन्ति तादिनो॥ ९५॥

७. कोसम्बिकतिस्ससामणेरं आरब्भ

सन्तं तस्स मनं होति, सन्ता वाचा च कम्म च।
सम्मदञ्ञा विमुत्तस्स, उपसन्तस्स तादिनो॥ ९६॥

---

४. अनुरुद्ध स्थविर को : : राजगृह के वेणुवन में

९३. जिसके चित्तविकार (आश्रव) क्षीण हो चुके हैं, जो आहार के प्रति सर्वथा अनासक्त है, जिसे शून्यता रूप तथा निमित्तरहित मोक्ष का साक्षात्कार हो चुका है उसकी गति वैसे ही कठिनता से जानने योग्य है जैसे आकाश में उड़ने वाले पक्षी की गति कठिनता से जानी जाती है॥ ●

५. महाकच्चान स्थविर को : : श्रावस्ती के पूर्वाराम में

९४. जिस प्रकार सारथि द्वारा अश्वों को नियन्त्रित रखा जाता है, उसी प्रकार जिस साधक की इन्द्रियाँ शान्त (चञ्चलतारहित) हो गयी हैं, ऐसे निरभिमान एवं आश्रवरहित भिक्षु के दर्शन की देवतागण भी स्पृहा (चाह) करते हैं॥ ●

६. सारिपुत्र स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

९५. जो साधक पृथ्वी के समान क्षुब्ध (आन्दोलित) नहीं होता, इन्द्रकील स्तम्भ के समान अपने व्रत में सुदृढ है, जो सरोवर के समान कर्दम (कीचड़=विकार) से रहित है, वैसे साधक पुरुष के लिये संसार के कृत्य बन्धनस्वरूप नहीं रह जाते॥ ●

७. कौशाम्बी के तिष्य स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

९६. जो साधक पुरुष सम्यक् (यथार्थ) ज्ञान प्राप्त कर विमुक्त एवं उपशान्त हो गया है, उसका मन शान्त (स्थिर) रहता है, वाणी शान्त रहती है, तथा उसके कायिक कर्म भी शान्त ही रहते हैं॥ ●

८. सारिपुत्तत्थेरं आरब्भ

अस्सद्धो अकतञ्ञू च, सन्धिच्छेदो च यो नरो।
हतावकासो वन्तासो, स वे उत्तमपोरिसो॥ ९७॥

९. खदिरवनियरेवतत्थेरं आरब्भ

गामे वा यदि वारञ्ञे, निन्ने वा यदि वा थले। [R.24]
यत्थ अरहन्तो विहरन्ति, तं भूमिरामणेय्यकं॥ ९८॥

१०. अञ्ञतरं इत्थिं आरब्भ

रमणीयानि अरञ्ञानि, यत्थ न रमती जनो। [B.28]
वीतरागा रमिस्सन्ति, न ते कामगवेसिनो॥ ९९॥ ●

अरहन्तवग्गो निट्ठितो॥



---

८. सारिपुत्र स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

९७. जो (साधक) अन्धश्रद्धारहित है, अकृत (निर्वाण) को जानने वाला है, जिसके सांसारिक बन्धन कट गये हैं, जिसकी जन्मपरम्परा अवकाशरहित (क्षीण) हो चुकी है, तथा जिसकी तृष्णा का समूल उच्छेद हो चुका है वही श्रेष्ठ पुरुष (पुरुषोत्तम) कहलाता है॥ ●

९. खदिरवनीयरेवत स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

९८. जहाँ अर्हत् (ज्ञानी) जन वास करते हैं, फिर वह स्थान (भूमि) ग्राम हो या वन, ऊँचा (स्थल) हो या नीचा (जल), वह तो वस्तुतः रमणीय ही है॥ ●

१०. किसी स्त्री को : : श्रावस्ती के जेतवन में

९९. उन रमणीय अरण्यों में जहाँ साधारणजन रमण नहीं करते (रहने में रुचि नहीं रखते), वहाँ कामवासनाओं के पीछे न भटकने वाले वीतराग (निरासक्त) जन प्रसन्नतापूर्वक साधना में लगे रहते हैं॥ ●

अर्हद्वर्ग सप्तम समाप्त॥



८. सहस्सवग्गो अट्ठमो

१. तम्बदाठिकं चोरघातकं आरब्भ

सहस्समपि चे वाचा, अनत्थपदसंहिता।
एकं अत्थपदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति॥ १००॥

२. बाहियं दारुचीरिकं आरब्भ

सहस्समपि चे गाथा, अनत्थपदसंहिता। [N.27]
एकं गाथापदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति॥ १०१॥

३. कुण्डलकेसित्थेरिं आरब्भ

यो च गाथासतं भासे, अनत्थपदसंहिता।
एकं धम्मपदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति॥ १०२॥

यो सहस्सं सहस्सेन, सङ्गामे मानुसे जिने।
एकं च जेय्यमत्तानं, स वे सङ्गामजुत्तमो॥ १०३॥

४. अनर्थपुच्छकं ब्राह्मणं आरब्भ

अत्ता हवे जितं सेय्यो, या चायं इतरा पजा।
अत्तदन्तस्स पोसस्स, निच्चं सञ्ञतचारिनो॥ १०४॥

---

८. सहस्रवर्ग अष्टम

१. ताम्रदंष्ट्रिक चौरघातक को : : राजगृह के वेणुवन में

१००. निरर्थक पदों से युक्त हजारों वचनों की अपेक्षा एक सार्थक पद ही श्रेयस्कर होता है; जिसे सुन कर जिज्ञासु को शान्ति मिलती है॥

२. बाह्यदारुचीवरीय स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१०१. निरर्थक पदों से युक्त हजारों गाथाओं की अपेक्षा एक सार्थक (अर्थयुक्त) गाथा का (एक) पाद भी श्रेयस्कर कहलाता है, जिसे सुन कर जिज्ञासु को आध्यात्मिक शान्ति मिलती हो॥

३. कुण्डलकेशी स्थविरा को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१०२. कोई मनुष्य निरर्थक पदों वाली एक सौ गाथाएँ कहे, तथा दूसरा कोई धर्मसम्पृक्त (गाथा का) एक पद (अंश) ही कहे तो उनमें यह एक धर्मपद ही श्रेयस्कर है, जिसके सुनने से जिज्ञासु के मन को शान्ति मिलती है॥

१०३. कोई एकाकी पुरुष युद्ध में लाखों मनुष्यों को भले ही जीत ले; परन्तु वस्तुतः उससे बढ़ कर उसे युद्धविजेता कहना चाहिये जिसने पूर्णतः आत्मदमन कर लिया है॥

४. किसी अनर्थप्रष्टा ब्राह्मण को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१०४. अपने आत्मा (मन एवं इन्द्रियों) का दमन करने वाले तथा निरन्तर संयत

नेव देवो न गन्धब्बो, न मारो सह ब्रह्मुना।
जितं अपजितं कयिरा, तथारूपस्स जन्तुनो॥ १०५॥

५. सारिपुत्तत्थेरमातुलं ब्राह्मणं आरब्भ

मासे मासे सहस्सेन, यो यजेथ सतं समं। [B.29]
एकं च भावितत्तानं, मुहुत्तमपि पूजये।
सायेव पूजना सेय्यो, यं चे वस्ससतं हुतं॥ १०६॥

६. सारिपुत्तत्थेरभागिनेय्यं ब्राह्मणं आरब्भ

यो च वस्ससतं जन्तु, अग्गिं परिचरे वने। [R.26]
एकं च भावितत्तानं, मुहुत्तमपि पूजये।
सायेव पूजना सेय्यो, यं चे वस्ससतं हुतं॥ १०७॥

७. सारिपुत्तत्थेरसहायकं ब्राह्मणं आरब्भ

यं किञ्चि यिट्ठं च हुतं च लोके, संवच्छरं यजेथ पुञ्ञपेक्खो।
सब्बं पि तं न चतुभागमेति, अभिवादना उज्जुगतेसु सेय्यो॥ १०८॥

आचरण रखने वाले के लिये इस साधारण प्रजा को जीतने की अपेक्षा अपनी इन्द्रियों को जीतना अधिक श्रेयस्कर है॥ ●

१०५. ऐसे पुरुष के इस अपूर्व विजय को न कोई देवता, न कोई गन्धर्व, या मार तथा स्वयं ब्रह्मा भी पराजय में नहीं बदल सकते॥ ●

५. सारिपुत्र के मामा ब्राह्मण को : : राजगृह के वेणुवन में

१०६. कोई मनुष्य प्रतिमास प्रभूत दक्षिणा देता हुआ सौ वर्ष तक यज्ञ करे, दूसरी ओर कोई पुरुष परिशुद्धचेता किसी सन्त की एक क्षण ही पूजा। इन दोनों में यह सन्त की पूजा ही उन सौ वर्ष तक किये यज्ञों से श्रेष्ठ है॥ ●

६. सारिपुत्र के भागिनेय ब्राह्मण को : : राजगृह के वेणुवन में

१०७. यदि कोई पुरुष सौ वर्ष तक वन में रह कर अग्निपरिचर्या (हवनकर्म या यज्ञकर्म) करता रहे; तथा दूसरी ओर, कोई साधक परिशुद्धचित्त भिक्षु का एक क्षण (मुहूर्त) सम्मान सत्कार करे तो यह पूजाकर्म उस सौ वर्ष तक निरन्तर किये गये यज्ञकर्म से श्रेष्ठ कहलाता है॥ ●

७. किसी सहायक ब्राह्मण को : : राजगृह के वेणुवन में

१०८. पुण्य की आकांक्षा करता हुआ पुरुष लोक में वर्षपर्यन्त कितने भी यज्ञ या हवन करे, तो भी वह किसी सरलचित्त पुरुष द्वारा की गयी पूजा वन्दना के चतुर्थ भाग की भी समानता नहीं कर पाता॥ ●

८. आयुवड्ढनकुमारं आरब्भ

अभिवादनसीलिस्स, निच्चं वुड्ढापचायिनो।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति, आयु वण्णो सुखं बलं॥ १०९॥

९. सङ्किच्चसामणेरं आरब्भ

यो च वस्ससतं जीवे, दुस्सीलो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो, सीलवन्तस्स झायिनो॥ ११०॥

१०. खाणुकोण्डञ्ञत्थेरं आरब्भ

यो च वस्ससतं जीवे, दुप्पञ्ञो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो, पञ्ञवन्तस्स झायिनो॥ १११॥

११. सप्पदासत्थेरं आरब्भ

यो च वस्ससतं जीवे, कुसीतो हीनवीरियो। [N.28]
एकाहं जीवितं सेय्यो, विरियमारभतो दळ्हं॥ ११२॥

१२. पटाचारं थेरिं आरब्भ

यो च वस्ससतं जीवे, अपस्सं उदयब्बयं। [B.30]
एकाहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो उदयब्बयं॥ ११३॥

---

८. आयुर्वर्धनकुमार को : : दीर्घलङ्घिक नगर की अरण्यकुटी में

१०९. जो गुणिजनों की अभिवादन करता है तथा वृद्धजनों की पूजा करता है, उस सत्पुरुष के ये चार धर्म (गुण) बढ़ते ही रहते हैं—(१) आयु, (२) वर्ण, (३) सुख एवं (४) बल॥ ●

९. सांकृत्य श्रामणेर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

११०. किसी मनुष्य का दुराचारी एवं चञ्चल चित्त होकर सौ वर्ष जीवित रहने की अपेक्षा एक मुहूर्तमात्र तक शीलवान् एवं ध्यानरत रहना ही अधिक श्रेयस्कर है॥ ●

१०. रवाणुकोण्डञ्ञ स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१११. दुर्बुद्धि एवं असंयतेन्द्रिय होकर सौ वर्ष तक जीवनयापन की अपेक्षा प्रज्ञासम्पन्न एवं ध्यानभावना में रत रह कर एक दिन का जीवन अधिक श्रेयस्कर है॥ ●

११. सर्पदास स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

११२. आलस्ययुक्त एवं उद्योगरहित पुरुष का सौ वर्ष तक जीना सर्वथा निरर्थक है। इसके विपरीत, द्विविध ध्यान में दृढतापूर्वक वीर्यसम्पन्न रह कर एक दिन का जीवन ही श्रेयस्कर है॥ ●

१२. पटाचारा भिक्षुणी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

११३. पञ्चस्कन्धों (सांसारिक पदार्थों) के उत्पाद एवं विनाश को न समझने वाले

१३. किसागोतमिं आरब्भ

यो च वस्ससतं जीवे, अपस्सं अमतं पदं।
एकाहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो अमतं पदं॥ ११४॥

१४. बहुपुत्तिकं थेरिं आरब्भ

यो च वस्ससतं जीवे, अपस्सं धम्ममुत्तमं।
एकाहं जीवितं सेय्यो, पस्सतो धम्ममुत्तमं॥ ११५॥ ●

सहस्सवग्गो निट्ठितो॥



(अज्ञानी पुरुष) का सौ वर्ष तक जीना निरर्थक ही है। इसकी अपेक्षा उसी का जीवन श्रेष्ठ माना जाना चाहिये जो एक दिन भी उक्त पाँचों स्कन्धों के उत्पाद एवं विनाश की वास्तविकता पहचानने का प्रयास करता है॥ ●

१३. कृशा गौतमी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

११४. उत्तम पद (निर्वाण) का साक्षात्कार न करते हुए प्राणी का सौ वर्ष तक जीवित रहना भी निरर्थक ही है। यदि कोई इस उत्तम पद का साक्षात्कार करने के बाद, एक दिन भी जीवित रहता है तो वही श्रेष्ठ है॥ ●

१४. बहुपुत्रिका थेरी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

११५. यदि कोई मनुष्य बुद्धोपदिष्ट उत्तम धर्म का अनुसन्धान न करते हुए सौ वर्ष के दीर्घकाल तक जीवित रहता है तो उसका वह दीर्घ जीवन निरर्थक ही है। हाँ, यदि कोई उस उत्तम धर्म का मनन करने में एक दिन भी अपना चित्त लगाता है तो उसका वह एक दिन का जीवन ही (बुद्धिमानों की दृष्टि में) श्रेयस्कर माना जाता है॥ ●

सहस्रवर्ग अष्टम सम्पन्न॥



९. पापवग्गो नवमो

१. चूळेकसाटकं ब्राह्मणं आरब्भ

अभित्थरेथ कल्याणे, पापा चित्तं निवारये। [R.28]
दन्धं हि करोतो पुञ्ञं, पापस्मिं रमती मनो॥ ११६॥

२. सेय्यसकत्थेरं आरब्भ

पापं चे पुरिसो कयिरा, न नं कयिरा पुनप्पुनं।
न तम्हि छन्दं कयिराथ, दुक्खो पापस्स उच्चयो॥ ११७॥

३. लाजदेविधीतरं आरब्भ

पुञ्ञं चे पुरिसो कयिरा, कयिरा नं पुनप्पुनं।
तम्हि छन्दं कयिराथ, सुखो पुञ्ञस्स उच्चयो॥ ११८॥

४. अनाथपिण्डिकं आरब्भ

पापो पि पस्सति भद्रं, याव पापं न पच्चति। [B.31]
यदा च पच्चति पापं, अथ पापो पापानि पस्सति॥ ११९॥

---

९. पापवर्ग नवम

१. क्षुद्रैकशाटक ब्राह्मण को : : श्रावस्ती के जेतवन में

११६. साधक को अपने कल्याणमय कार्यों की पूर्ति हेतु शीघ्रता करनी चाहिये। क्योंकि यदि साधक अपने इन कल्याणकारी कार्यों की पूर्ति में आलस्य करेगा तो उसका मन, विपरीत दशा में चल कर, पापमय कर्मों में व्यापृत हो जायगा॥

●

२. श्रेयस्क स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

११७. यदि साधक से विवशतावश या प्रमाद के कारण कोई पापकार्य हो ही जाय तो उसे पुनः पुनः दोहराने की भूल नहीं करनी चाहिये; क्योंकि उस पापमय कार्य को पुनः पुनः स्वच्छन्दतापूर्वक करने से उस पाप का सञ्चय होने लगता है। यह पापसञ्चय उसके लिये परिणाम में दुःखदायी ही होगा॥

●

३. लाजदेवधीता को : : श्रावस्ती के जेतवन में

११८. इसके विपरीत, यदि साधक किसी पुण्यमय कार्य में प्रवृत्त हो तो उस कार्य को पुनः पुनः करने की चेष्टा करनी चाहिये। उस पुण्यमय कार्य में स्वच्छन्दतापूर्वक तत्पर रहे जिससे उसके पुण्य का सञ्चय हो। ऐसे पुण्य का सञ्चय उसके लिये परिणाम में हितकर ही होता है॥

●

४. अनाथपिण्डिक श्रेष्ठी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

११९. तभी तक पापकर्ता को अपने पापकर्मों में भी अच्छाई दीखती है जब तक पापों

भद्रो पि पस्सति पापं, याव भद्रं न पच्चति।
यदा च पच्चति भद्रं, अथ भद्रो भद्रानि पस्सति॥ १२०॥

५. असंयतपरिक्खारभिक्खुं आरब्भ

माप्पमञ्ञेथ पापस्स, न मं तं आगमिस्सति।
उदबिन्दुनिपातेन, उदकुम्भो पि पूरति।
बालो पूरति पापस्स, थोकथोकम्पि आचिनं॥ १२१॥

६. बिळालपादकसेट्ठिं आरब्भ

माप्पमञ्ञेथ पुञ्ञस्स, न मं तं आगमिस्सति।
उदबिन्दुनिपातेन, उदकुम्भो पि पूरति।
धीरो पूरति पुञ्ञस्स, थोकथोकम्पि आचिनं॥ १२२॥

७. महाधनवाणिजं आरब्भ

वाणिजो व भयं मग्गं, अप्पसत्थो महद्धनो। [N.29]
विसं जीवितुकामो व, पापानि परिवज्जये॥ १२३॥

का परिणाम सामने नहीं आता। परिणाम सामने आने पर उस पाप की भयानकता उसको स्पष्ट दृष्टिगोचर हो पाती है॥

१२०. इसी तरह पुण्यकर्ता भी तब तक पापकर्मों को महत्त्व देता रहता है जब तक उसके द्वारा किये गये पुण्य कर्मों का परिणाम उसके सम्मुख नहीं आता। उन पुण्य कर्मों का शुभ परिणाम सामने आने पर वह भी एकान्ततः पुण्यकर्मों को ही महत्त्व देने लगता है॥ ●

५. असंयतपरिष्कार भिक्षु को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१२१. कोई मनुष्य किसी साधारण पाप की भी इसलिये अवहेलना न करे कि वह साधारण है, उसका क्या दुष्परिणाम होगा! क्योंकि, जैसे हम लोक में देखते हैं कि जल की बूँद बूँद से घड़ा भर जाता है; वैसे ही मूर्खजनों द्वारा किये जाते हुए अल्प पापकर्मों की भी, समय आने पर, विशाल राशि बन जाती है॥ ●

६. विडालपाद श्रेष्ठी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१२२. बुद्धिमान् साधक किसी अल्प पुण्यकार्य की, यह सोच कर, अवहेलना न करे कि इस अल्प पुण्य का मुझे क्या फल मिलेगा! क्योंकि, अभी हमने कहा न कि जल की बूँद बूँद से भी घड़ा भर जाया करता है, अतः धैर्यपूर्वक किये गये इन छोटे छोटे पुण्यकर्मों की भी, समय आने पर, विशाल राशि बन जाना सम्भव है॥ ●

७. महाधन वणिक् को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१२३. जैसे कोई बड़ा व्यापारी, अल्प सङ्ख्या में रक्षकों के होने पर, अपने धन की

८. कुक्कुटमित्तं नेसादं आरब्भ

पाणिम्हि चे वणो नास्स, हरेय्य पाणिना विसं।
नाब्बणं विसमन्वेति, नत्थि पापं अकुब्बता॥ १२४॥

९. कोकसुनखलुद्दकं आरब्भ

यो अप्पदुट्ठस्स नरस्स दुस्सति, सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स। [B.32, R.30]
तमेव बालं पच्चेति पापं, सुखुमो रजो पटिवातं व खित्तो॥ १२५॥

१०. मणिकारकुलूपकतिस्सत्थेरं आरब्भ

गब्भमेके उप्पज्जन्ति, निरयं पापकम्मिनो।
सग्गं सुगतिनो यन्ति, परिनिब्बन्ति अनासवा॥ १२६॥

११. तयो जने आरब्भ

न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे, न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो, यत्थट्ठितो मुच्चेय्य पापकम्मा॥ १२७॥

रक्षाहेतु, भयजनक मार्ग से यात्रा नहीं करता; उसी तरह, जीना चाहने वाला कोई भी बुद्धिमान् पुरुष इन विषमय परिणाम वाले पापकर्मों के करने में प्रवृत्त नहीं होता॥

८. कुक्कुटमित्र निषाद को : : राजगृह के वेणुवन में

१२४. यदि मनुष्य के हाथ में कोई व्रण (घाव=कटा पिटा होना) न हो तो वह उस हाथ से कोई भी विषसम्पृक्त (जहरीली) वस्तु उठा सकता है; क्योंकि विना व्रण वाले हाथ पर विष का कोई दुष्प्रभाव नहीं होता। उसी तरह, पापकर्म न करने वाले को पाप का फल नहीं भोगना पड़ता॥

९. कोकसुनख लुब्धक को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१२५. जो मूर्ख मनुष्य निर्दोष, सच्चरित्र, निर्मल पुरुष पर मिथ्या दोषारोपण करता है तो यह पापकर्म उस मूर्ख मनुष्य का उसी प्रकार अनुगमन करता है, जिस प्रकार, सूक्ष्म धूल हवा के विपरीत फेंकी जाने पर, फेंकने वाले का अनुगमन करती है॥

१०. मणिकारकुलोपग तिष्यस्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१२६. यह मनुष्यजन्म प्राप्त कर, पापकर्म करने वाले कुछ पुरुष उन पापों के कारण नरक में जा गिरते हैं। तथा कुछ सत्कर्म करने वाले, निर्दोषजन उन सत्कर्मों के प्रभाव से सुगतिमय स्वर्ग में जाते हैं और अन्त में वे उसी पुण्य के प्रभाव से निर्वाण भी प्राप्त कर लेते हैं॥

११. तीन जिज्ञासुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१२७. न आकाश में, न समुद्र के मध्य में, न पर्वतों की गुफा में, ऐसा कोई (गुप्त) स्थान है, जहाँ छिप कर बैठने पर कोई पापकर्म करने वाला स्वकृत पापकर्मों से मुक्ति प्राप्त कर सके॥

१२. सुप्पबुद्धसक्कं आरब्भ

न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे, न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो, यत्थट्ठितं नप्पसहेय्य मच्चु॥ १२८॥

पापवग्गो निट्ठितो॥

१०. दण्डवग्गो दसमो

१. छब्बग्गिये भिक्खू आरब्भ

सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बे भायन्ति मच्चुनो। [B.33]
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये॥ १२९॥

२. छब्बग्गिये भिक्खू आरब्भ

सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बेसं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये॥ १३०॥

३. सम्बहुले कुमारके आरब्भ

सुखकामानि भूतानि, यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो, पेच्च सो न लभते सुखं॥ १३१॥

---

१२. सुप्रबुद्ध शाक्य को : : न्यग्रोधाराम (कपिलवस्तु में)

१२८. आकाश में, समुद्र के मध्य में, या पर्वतों की गुफाओं में कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ, छिप कर बैठने पर भी, मृत्यु से पीछा छुड़ाया जा सके; क्योंकि मृत्यु की सर्वत्र पहुँच है॥

पापवर्ग नवम समाप्त॥



१०. दण्डवर्ग दशम

१. षड्वर्गीय भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१२९. सभी मनुष्य दण्ड से भय मानते हैं। तथा सभी मनुष्य मृत्यु से भी भय मानते हैं। अत: बुद्धिमान् पुरुष को अपने समान सभी को मान कर न किसी की हत्या करनी चाहिये, तथा न किसी को उस हत्या के लिये प्रेरित करना चाहिये॥

२. षड्वर्गीय भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१३०. सभी मनुष्य दण्ड से भय मानते हैं। तथा सभी मनुष्यों को अपना जीवन प्रिय है। अत: अपने समान सभी को जानते हुए (बुद्धिमान्) पुरुष को न स्वयं किसी की हत्या करनी चाहिये, न ऐसी हत्या के लिये किसी को प्रेरित करना चाहिये॥

सुखकामानि भूतानि, यो दण्डेन न हिंसति। [R.32]
अत्तनो सुखमेसानो, पेच्च सो लभते सुखं॥ १३२॥

४. कोण्डधानत्थेरं आरब्भ

मावोच फरुसं कञ्चि, वुत्ता पटिवदेय्यु तं। [N.30]
दुक्खा हि सारम्भकथा, पटिदण्डा फुसेय्यु तं॥ १३३॥
सचे नेरेसि अत्तानं, कंसो उपहतो यथा।
एस पत्तोसि निब्बानं, सारम्भो ते न विज्जति॥ १३४॥

५. उपोसथिकित्थीनमुपोसथकम्मं आरब्भ

यथा दण्डेन गोपालो, गावो पाजेति गोचरं।
एवं जरा च मच्चु च, आयुं पाजेन्ति पाणिनं॥ १३५॥

६. अजगरपेतं आरब्भ

अथ पापानि कम्मानि, करं बालो न बुज्झति।
सेहि कम्मेहि दुम्मेधो, अग्गिदड्ढो व तप्पति॥ १३६॥

---

३. बहुत से कुमारों को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१३१. जो मनुष्य सुखलिप्सु प्राणियों को, अपना सुख चाहता हुआ, दण्ड द्वारा प्रताड़ित करता है, वह मर (अन्य योनि में जा) कर भी सुख नहीं पा सकता॥ •

१३२. तथा जो मनुष्य सुखलिप्सु प्राणियों को, अपना सुख चाहता हुआ भी दण्ड द्वारा प्रताड़ित नहीं करता, वह मर (अन्य योनि में उत्पन्न हो) कर भी सुख ही प्राप्त करता है॥ •

४. कोण्डधान स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१३३. किसी को भी कठोर वाणी का प्रयोग नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसी वाणी का प्रयोग जिनके लिये किया जायगा वे भी तुम्हें वैसा ही उत्तर (कठोर वाणी में) दे सकते हैं। ये कठोर वचन इतने दुःखदायी होते हैं कि इनसे (वक्ता एवं श्रोता) दोनों ही पक्षों में प्रतिहिंसा की भावना जाग्रत् हो सकती है। वह तुम्हें भी सतायेगी॥

१३४. यदि तुम स्वयं को फूटे हुए कांस्य पात्र के समान निःशब्द कर लो, तभी तुम निर्वाणप्राप्ति की ओर बढ सकोगे। तथा तुम में उक्त प्रतिहिंसा भी जाग्रत् न होगी॥ •

५. उपोसथव्रतधारिका स्त्रियों को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१३५. जैसे कोई गोपाल (ग्वाला) अपनी गायों को डण्डे के सहारे से एकत्र रख कर चराने के लिये खेतों में ले जाता है, इसी तरह वृद्धावस्था (जरा) एवं मृत्यु प्राणियों की आयु को ले जाती है॥ •

६. अजगरप्रेत को : : राजगृह के वेणुवन में

१३६. पापकारी मूर्ख मनुष्य पाप की गम्भीरता को नहीं समझ पाता। वह दुर्बुद्धि

७. महामोग्गल्लानत्थेरं आरब्भ

योदण्डेन अदण्डेसु, अप्पदुट्ठेसु दुस्सति।
दसन्नमञ्ञतरं ठानं, खिप्पमेव निगच्छति॥ १३७॥
वेदनं फरुसं जानिं, सरीरस्स च भेदनं। [B.34]
गरुकं वा पि आबाधं, चित्तक्खेपं व पापुणे॥ १३८॥
राजतो वा उपसग्गं, अब्भक्खानं च दारुणं।
परिक्खयं च ञातीनं, भोगानं च पभङ्गुरं॥ १३९॥
अथ वास्स अगारानि, अग्गि डहति पावको।
कायस्स भेदा दुप्पञ्ञो, निरयं सोपपज्जति॥ १४०॥

८. बहुभण्डिकं भिक्खुं आरब्भ

न नग्गचरिया न जटा न पङ्का, नानासका थण्डिलसायिका वा।
रजोजल्लं उक्कुटिकप्पधानं, सोधेन्ति मच्चं अवितिण्णकङ्खं॥ १४१॥

स्वकृत पापकर्मों से उसी प्रकार पीड़ित रहता है जैसे अग्नि से जला हुआ प्राणी पीड़ित रहा करता है॥ ●

७. महामौद्गल्यायन स्थविर को : : राजगृह के वेणुवन में

१३७. जो दुर्बुद्धि पुरुष दण्ड न देने योग्य निर्दोष पुरुषों को भी त्रस्त करता रहता है, वह, समय आने पर, इन दश कष्टदायक स्थितियों में से किसी न किसी से अवश्य घिर जाता है॥

१३८. वे दश स्थितियाँ कौन सी हैं? (१) भयङ्कर पीड़ा, (२) आर्थिक या शारीरिक हानि, (३) शरीर की पीड़ा, (४) गम्भीर रोग, (५) उन्माद (पागलपन)॥

१३९. अथवा (६) राजा से दण्ड, (७) लोक में भयानक (दारुण) निन्दा, (८) अथवा सम्बन्धिजनों में किसी विशिष्ट सम्बन्धी का विनाश, (९) या भोग्य वस्तुओं का अकारण नाश॥

१४०. या (१०) इसके वासस्थान में अकस्मात् भयङ्कर अग्नि लग जाय, जिसके कारण इसका सब कुछ भस्म हो जाय। ऐसा दुर्बुद्धि पुरुष देहपात (मृत्यु) के बाद, नरक में भी गिरेगा—यह सुनिश्चित है॥ ●

८. बहुभाण्डक भिक्षु को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१४१. जिस मनुष्य के मन की मोहवासनाएँ (आकांक्षाएँ) पूर्ण नहीं हो गयी हों, ऐसा मनुष्य केवल नग्न रह कर, जटा बढ़ा कर, शरीर पर कर्दम (कीचड़ या भस्म) लपेट कर, उपवास रख कर, भूमि पर शयन कर, धूल लपेट कर, निरन्तर ऊकडू बैठ कर अपनी शुद्धि नहीं कर सकता॥ ●

९. सन्ततिमहामत्तं आरब्भ

अलङ्कतो चे पि समं चरेय्य, सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं, सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खु॥ १४२॥

१०. पिलोतिकतिस्सत्थेरं आरब्भ

हिरीनिसेधो पुरिसो, कोचि लोकस्मि विज्जति। [R.34]
यो निन्दं अपबोधेति, अस्सो भद्रो कसामिव॥ १४३॥

अस्सो यथा भद्रो कसानिविट्ठो, आतापिनो संवेगिनो भवाथ। [N.31,B.35]
सद्धाय सीलेन च वीरियेन च, समाधिना धम्मविनिच्छयेन च।
सम्पन्नविज्जाचरणा पतिस्सता, पहस्सथ दुक्खमिदं अनप्पकं॥ १४४॥

११. सुखसामणेरं आरब्भ

उदकं हि नयन्ति नेत्तिका, उसुकारा नमयन्ति तेजनं।
दारुं नमयन्ति तच्छका, अत्तानं दमयन्ति सुब्बता॥ १४५॥ ●

दण्डवग्गो निट्ठितो॥



---

९. सन्तति महामात्य को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१४२. इसके विपरीत, जो मनुष्य अलंकृत रहता हुआ भी लोक में शान्तिपूर्वक विचरण करता है, काय वाक् एवं मन से शान्त, जितेन्द्रिय, संयम एवं ब्रह्मचर्य (धर्मसाधना) का पालक, तथा समस्त प्राणियों पर दण्ड का प्रहार करना त्याग चुका है, वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है और वही 'भिक्षु' कहलाने योग्य है॥ ●

१०. पिलोतिक स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१४३. क्या इस लोक में ऐसा भी कोई सलज्ज (लज्जावान्) पुरुष है जो निन्दा को उसी प्रकार सहन नहीं कर पाता जैसे कोई अच्छी जाति का घोड़ा चाबुक की मार सहन नहीं कर पाता॥

१४४. जैसे चाबुक की मार खाया हुआ घोड़ा उचित चाल चलने लगता है उसी प्रकार तुम पश्चात्ताप करने वाले तथा संवेगशील बनने का प्रयास करो। तभी तुम श्रद्धा, सदाचरण, सामर्थ्य, समाधि एवं धर्म के विनिश्चय से युक्त होकर, विद्या एवं आचरण से समन्वित रहते हुए, पूर्ण स्मृति के साथ इस महान् दुःखार्णव को पार कर सकोगे॥ ●

११. सुख श्रामणेर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१४५. मनुष्य नहरें बना कर जल ले जाते हैं। बाण के निर्माता टेढ़े बाण को सीधा कर लेते हैं। बढई भी बाँकी सीधी लकड़ी को अपने उपयोग में आने योग्य बना लेते हैं। इसी प्रकार, बुद्धिमान् पुरुष भी आत्मसंयम करने में समर्थ हैं॥ ●



दशम दण्डवर्ग सम्पन्न॥

११. जरावग्गो एकादसमो

१. विसाखाय सहायिकायो आरब्भ

को नु हासो किमानन्दो, निच्चं पज्जलिते सति।
अन्धकारेन ओनद्धा, पदीपं न गवेसथ॥ १४६॥

२. सिरिमं गणिकं आरब्भ

पस्स चित्तकतं बिम्बं, अरुकायं समुस्सितं।
आतुरं बहुसङ्कप्पं, यस्स नत्थि धुवं ठिति॥ १४७॥

३. उत्तरं थेरिं आरब्भ

परिजिण्णमिदं रूपं, रोगनीळं पभङ्गुरं।
भिज्जति पूतिसन्देहो, मरणन्तं हि जीवितं॥ १४८॥

४. सम्बहुले अधिमानिके भिक्खू आरब्भ

यानिमानि अपत्थानि, अलाबूनेव सारदे। [B.36]
कापोतकानि अट्ठीनि, तानि दिस्वान का रति॥ १४९॥

---

११. जरावर्ग एकादश

१. विशाखा की सहायिकाओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१४६. जब सर्वत्र नित्य (निरन्तर) अग्नि प्रज्वलित दिखायी दे रही हो तब यह हर्ष किस बात का, तथा आनन्द किस बात का? जब तुम अन्धकारावृत हो तो उस अन्धकार की निवृत्ति के लिये दीपक की गवेषणा (खोज) क्यों नहीं करते? •

२. सिरिमा गणिका को : : राजगृह के वेणुवन में

१४७. चित्रलिखित के समान इस शरीर को देखो जो व्रणों से युक्त है, सर्वत्र शोथयुक्त (फूला हुआ) है, पीड़ित है, विविध सङ्कल्प विकल्पों से पूर्ण है। इसे देखते हुए यहाँ किसकी स्थायी स्थिति की कल्पना करें!॥ •

३. उत्तरा थेरी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१४८. यह रूप जराजीर्ण है, रोगों का नीड (घोंसला) है, क्षणभङ्गुर है, दुर्गन्ध की राशि है! यह शरीर अन्त में खण्डशः विभक्त हो जाता है। इस जीवन की सत्ता मृत्युपर्यन्त ही मानी जाती है॥ •

४. बहुत से अधिमानिक भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१४९. शरदृतु की लौकी समान फैंक दी गयी, इन कबूतर (कपोत) पक्षी के वर्ण वाली अस्थियों की वास्तविकता जानने के बाद इनमें स्नेह (आसक्ति) कैसा!॥

५. जनपदकल्याणिं रूपनन्दाथेरिं आरब्भ

अट्ठीनं नगरं कतं, मंसलोहितलेपनं। [R.36]
यत्थ जरा च मच्चु च, मानो मक्खो च ओहितो॥ १५०॥

६. मल्लिकं देविं आरब्भ

जीरन्ति वे राजरथा सुचित्ता, अथो सरीरं पि जरं उपेति।
सतं च धम्मो न जरं उपेति, सन्तो हवे सब्भि पवेदयन्ति॥ १५१॥

७. लाळुदायित्थेरं आरब्भ

अप्पस्सुतायं पुरिसो, बलिबद्दो व जीरति। [N.32]
मंसानि तस्स वड्ढन्ति, पञ्ञा तस्स न वड्ढति॥ १५२॥

८. बोधिरुक्खमूले भगवतो उदानं आरब्भ

अनेकजातिसंसारं, सन्धाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारं गवेसन्तो, दुक्खा जाति पुनप्पुनं॥ १५३॥
गहकारक दिट्ठोसि, पुन गेहं न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा, गहकूटं विसङ्खतं।

---

५. रूपनन्दा थेरी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१५०. मानो यह अस्थियों (हड्डियों) का एक नगर बना हुआ है, जो रक्त एवं मांस से लीप दिया गया है। इसमें वृद्धावस्था, मृत्यु, अभिमान एवं असूया (म्रक्ष) अपना वास बनाये हुए हैं॥

●

६. मल्लिका देवी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१५१. जैसे राजाओं के चित्र विचित्र रथ समय पाकर जीर्ण हो जाते हैं, उसी तरह हमारे ये शरीर भी एक दिन वृद्धावस्था से घिर जाते हैं। हाँ, सज्जनों द्वारा उपदिष्ट धर्म कभी वृद्धावस्था (जीर्णता) को प्राप्त नहीं होते—यह बात सज्जनों ने ही अन्य सज्जनों को बतायी है॥

●

७. लाडुदायी स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१५२. यह अल्पश्रुत (अल्पज्ञानी) पुरुष बैल के समान बढ़ता है तथा एक दिन जीर्ण हो जाता है। इसका केवल मांस ही बढ़ता है, प्रज्ञा (हिताहितविवेकिनी बुद्धि) नहीं बढ़ पाती॥

●

८. आनन्द स्थविर को : : बोधिवृक्ष के नीचे

१५३. मैं इस शरीर रूप घर को बनाने वाले की खोज करता हुआ, किसी लक्ष्यप्राप्ति के विना ही, इस संसार में अनेक जन्मों तक इधर उधर दौड़ता रहा। यहाँ इस तरह पुनः पुनः जन्म लेना वस्तुतः दुःखदायी है॥

विसङ्खारगतं चित्तं, तण्हानं खयमज्झगा ॥ १५४ ॥

९. महाधनसेट्ठिपुत्तं आरब्भ

अचरित्वा ब्रह्मचरियं, अलद्धा योब्बने धनं।
जिण्णकोञ्चा व झायन्ति, खीणमच्छे व पल्लले ॥ १५५ ॥
अचरित्वा ब्रह्मचरियं, अलद्धा योब्बने धनं। [B.37]
सेन्ति चापातिखीणा व, पुराणानि अनुत्थुनं ॥ १५६ ॥ ●

जरावग्गो निट्ठितो ॥



---

१५४. हे गृहनिर्माता ! मैने तुमको देख लिया है, पहचान लिया है। अब तुम पुनः यह गृहनिर्माण न कर सकोगे। तुम्हारी बनायी हुई कड़ियाँ टूट चुकी हैं, तथा गृहशिखर गिर चुका है। मेरा चित्त संस्काररहित हो चुका है। साथ ही मेरी सर्वविध तृष्णाएँ भी क्षीण हो चुकी हैं ॥ ●

९. महाधन श्रेष्ठिपुत्र को : : ऋषिपतन के मृगदाव में

१५५. जिन लोगों ने ब्रह्मचर्य का पालन (धर्मसाधना) नहीं किया, तथा युवावस्था में वित्त का अर्जन भी नहीं किया, वे वृद्धावस्था आने पर उसी तरह चिन्तित रहते हैं जैसे मत्स्यरहित किसी जलाशय के किनारे पर वृद्ध क्रौञ्च पक्षी चिन्तित मुद्रा में बैठा रहता है ॥

१५६. जिन लोगों ने ब्रह्मचर्य (धर्म) का पालन नहीं किया, तथा युवावस्था में वित्त का भी अर्जन नहीं किया, ऐसे लोग टूटे हुए धनुषों के समान अपने अतीत की प्रशंसा करते हुए, बुढ़ापे में, एकान्त में पड़े रह कर, अपना समय यापन करते हैं ॥ ●

जरावर्ग एकादश सम्पन्न ॥



१२. अत्तवग्गो द्वादसमो

१. बोधिराजकुमारं आरब्भ

अत्तानं चे पियं जञ्ञा, रक्खेय्य नं सुरक्खितं।
तिण्णं अञ्ञतरं यामं, पटिजग्गेय्य पण्डितो॥ १५७॥

२. उपनन्दसक्यपुत्तं आरब्भ

अत्तानमेव पठमं, पतिरूपे निवेसये।
अथञ्ञमनुसासेय्य, न किलिस्सेय्य पण्डितो॥ १५८॥

३. पधानिकतिस्सत्थेरं आरब्भ

अत्तानं चे तथा कयिरा, यथाञ्ञमनुसासति। [R.38]
सुदन्तो वत दमेथ, अत्ता हि किर दुद्दमो॥ १५९॥

४. कुमारकस्सपत्थेरस्स मातरं आरब्भ

अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया।
अत्तना हि सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं॥ १६०॥

---

१२. आत्मवर्ग द्वादश

१. बोधिराजकुमार को : : भेषकळावन (सुंसुमार गिरि)

१५७. यदि मनुष्य आत्मा को प्रिय समझता है तो उसे इसकी भली प्रकार से रक्षा करनी चाहिये। इसके लिये सबसे सरल उपाय है कि बुद्धिमान् पुरुष रात्रि के तीन प्रहरों में से एक प्रहर में अवश्य ही जाग्रत् (सावधान) रहता हुआ धर्मसाधना में मन लगाये। अर्थात् मनुष्य अपनी आयु के—यौवन, प्रौढत्व एवं वार्धक—इन तीनों अवस्थाओं में किसी एक अवस्था में अवश्य धर्मसाधना करे॥ ●

२. उपनन्द शाक्यपुत्र को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१५८. बुद्धिमान् पुरुष यदि दूसरों को उपदेश करता है तो वह पहले स्वयं उस उचित कार्य में अपने को संलग्न करे। उसमें स्वयं सफल होने के बाद ही दूसरों को तदर्थ उपदेश देना आरम्भ करे। ऐसा करने से वह कभी सङ्कट में नहीं पड़ेगा॥ ●

३. प्राधानिक तिष्यस्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१५९. यदि मनुष्य स्वयं को वैसा बना ले, जैसा कि वह दूसरों को उपदेश करता है, तो उसे स्वयं पहले आत्मसंयम कर दूसरों को आत्मसंयम का उपदेश करना चाहिये; क्योंकि वस्तुतः स्वयं का संयम (इन्द्रियसंयम) ही दुष्कर (कठिन) होता है॥ ●

४. कुमारकाश्यप स्थविर की माता को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१६०. मनुष्य स्वयं ही अपना स्वामी (उद्धारक) है। दूसरा कौन उसका स्वामी हो

५. महाकालं उपासकं आरब्भ

अत्तना हि कतं पापं, अत्तजं अत्तसम्भवं।
अभिमन्थति दुम्मेधं, वजिरं वस्ममयं मणिं॥ १६१॥

६. देवदत्तमारब्भ

यस्स अच्चन्तदुस्सील्यं, मालुवा सालमिवोततं।
करोति सो तथत्तानं, यथा नं इच्छती दिसो॥ १६२॥

७. सङ्घभेदपरिसक्कनमारब्भ

सुकरानि असाधूनि, अत्तनो अहितानि च। [N.33,B.38]
यं वे हितं च साधुं च, तं वे परमदुक्करं॥ १६३॥

८. कालत्थेरं आरब्भ

यो सासनं अरहतं, अरियानं धम्मजीविनं।
पटिक्कोसति दुम्मेधो, दिट्ठिं निस्साय पापिकं।
फलानि कट्ठकस्सेव, अत्तघाताय फल्लति॥ १६४॥

सकता है! पहले स्वयं को भले प्रकार से दमित कर लेने पर ही वह मनुष्य दुर्लभ नाथ (निर्वाण) को प्राप्त कर सकता है॥ ●

५. महाकाल उपासक को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१६१. स्वयंकृत, स्वयं से उत्पन्न, तथा स्वयं से परिपुष्ट पाप दुर्मति पुरुष को उसी प्रकार मथता रहता है, जैसे प्रस्तर से उत्पन्न वज्र (हीरा) प्रस्तरमणि को मथ देता है॥ ●

६. देवदत्त को : : राजगृह के वेणुवन में

१६२. उस (देवदत्त) का किया हुआ अत्यधिक दुराचरण ही (दौ:शील्य) बढ़ कर उसको इस तरह परिवेष्टित किये हुए है जैसे मालुवा लता शाल वृक्ष को परिवेष्टित कर लेती है। उसने अपने को वैसा ही बना लिया है जैसा उसके शत्रु उसे चाहते हैं॥ ●

७. सङ्घभेदक्रिया प्रसङ्ग में : : राजगृह के वेणुवन में

१६३. (साधारणजन के लिये) ऐसे कार्य करना सरल है जो अकुशल (असाधु= पापमय) हैं, उसका अहित करने वाले हैं। परन्तु जो कार्य (परिणाम में) हितकारक हैं, तथा कुशल हैं उनको पूर्ण करना ही अत्यधिक कठिन होता है॥ ●

८. काल स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१६४. जो दुर्बुद्धि मनुष्य पापमय दृष्टि का सहारा लेकर धर्मिष्ठ एवं आर्यपुरुष अर्हतों (ज्ञानियों) की निन्दा करता रहता है वह मानो बाँस के फलों के समान अपनी हत्या के लिये ही फलता फूलता है॥ ●

९. चूळकालोपासकं आरब्भ

अत्तना हि कतं पापं, अत्तना सङ्किलिस्सति।
अत्तना अकतं पापं, अत्तना व विसुज्झति।
सुद्धी असुद्धि पच्चत्तं, नाञ्ञो अञ्ञं विसोधये॥ १६५॥

१०. अत्तदत्थत्थेरं आरब्भ

अत्तदत्थं परत्थेन, बहुना पि न हापये।
अत्तदत्थमभिञ्ञाय, सदत्थपसुतो सिया॥ १६६॥

अत्तवग्गो निट्ठितो॥



---

९. चूळकाल उपासक को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१६५. मनुष्य स्वयंकृत पाप से अपने को मलिन (अशुद्ध) कर लेता है। स्वयं न कृत पाप से वह शुद्ध रहता है। शुद्धि एवं अशुद्धि—दोनों ही कर्तृसापेक्ष हैं, अर्थात् ये दोनों उनके कर्ताओं पर निर्भर हैं। कोई पुरुष किसी दूसरे को शुद्ध नहीं कर सकता, (और न अशुद्ध ही कर सकता है।)॥

१०. आत्मार्थ स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१६६. बुद्धिमान् दूसरों के महान् धर्म के लिये अपने स्वल्पधर्म (स्वधर्म) का कथमपि परित्याग न करे। उसे चाहिये कि स्वधर्म को भली प्रकार से जान कर उसी की पूर्ति में सतत प्रयत्नशील रहे॥

आत्मवर्ग द्वादश सम्पन्न॥



१३. लोकवग्गो तयोदसमो

१. अञ्ञतरं दहरभिक्खुं आरब्भ

हीनं धम्मं न सेवेय्य, पमादेन न संवसे। [R.40]
मिच्छादिट्ठिं न सेवेय्य, न सिया लोकवड्ढनो॥ १६७॥

२. सुद्धोदनं पितरं आरब्भ

उत्तिट्ठे नप्पमज्जेय्य, धम्मं सुचरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति, अस्मिं लोके परम्हि च॥ १६८॥
धम्मं चरे सुचरितं, न नं दुच्चरितं चरे। [B.39]
धम्मचारी सुखं सेति, अस्मिं लोके परम्हि च॥ १६९॥

३. पञ्चसतविपस्सकभिक्खू आरब्भ

यथा बुब्बुळकं पस्से, यथा पस्से मरीचिकं।
एवं लोकं अवेक्खन्तं, मच्चुराजा न पस्सति॥ १७०॥

४. अभयराजकुमारं आरब्भ

एथ पस्सथिमं लोकं, चित्तं राजरथूपमं।
यत्थ बाला विसीदन्ति, नत्थि सङ्गो विजानतं॥ १७१॥

---

१३. लोकवर्ग त्रयोदश

१. किसी युवा भिक्षु को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१६७. किसी भी हीनधर्म (लौकिक पाँच कामगुण) का आश्रयण नहीं करना चाहिये। किसी भी कार्य में प्रमादयुक्त न रहे। अपने धार्मिक चिन्तन में मिथ्यादृष्टि को आधार न बनावे। मिथ्या प्रशंसा की प्राप्तिहेतु लोक में सांसारिक सम्पर्क न बढ़ावे॥ ●

२. राजा शुद्धोदन (बुद्ध-पिता) को : : कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में

१६८. भिक्षु को प्रत्येक गृहस्थ के द्वार पर खड़े होकर भिक्षा करनी चाहिये। अपने ईर्यापथ में कोई प्रमाद न करे। सदाचारमय धर्म का सतत आचरण करने वाला पुरुष ही इस लोक तथा परलोक में सुखपूर्वक रह सकता है॥

१६९. सदाचारमय धर्म का आचरण करे, मिथ्या आचरण न करे। धर्मपूर्वक आचरणकर्ता इस लोक तथा परलोक—दोनों ही स्थानों में सुख से रहने का अधिकारी है॥ ●

३. पाँच सौ विपश्यक भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१७०. यदि साधक इस संसार को जल के बुदबुदे के समान विनाशी एवं मृगमरीचिका के तुल्य भ्रमात्मक समझे तो ऐसे परम साधक पर यमराज (मृत्यु) की दृष्टि नहीं पड़ती॥ ●

५. सम्मुञ्जनित्थेरं आरब्भ

यो च पुब्बे पमज्जित्वा, पच्छा सो नप्पमज्जति।
सो इमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तो व चन्दिमा॥ १७२॥

६. अङ्गुलिमालत्थेरं आरब्भ

यस्स पापं कतं कम्मं, कुसलेन पिधीयति।
सो इमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तो व चन्दिमा॥ १७३॥

७. पेसकारधीतरमारब्भ

अन्धभूतो अयं लोको, तनुकेत्थ विपस्सति। [N.34]
सकुणो जालमुत्तो व, अप्पो सग्गाय गच्छति॥ १७४॥

८. तिंस भिक्खू सन्धाय

हंसादिच्चपथे यन्ति, आकासे यन्ति इद्धिया।
नीयन्ति धीरा लोकम्हा, जेत्वा मारं सवाहिनिं॥ १७५॥

---

४. अभय राजकुमार को : : राजगृह के वेणुवन में

१७१. अरे साधको! आओ, इस राजाओं के रथ के समान चित्र विचित्र संसार को गम्भीरता से देखने का प्रयास करो! जहाँ मूर्खजन आसक्त होकर दु:ख भोगते रहते हैं, वहीं ज्ञानिजन निरासक्त रहते हुए सुखमय जीवनयापन करते हैं॥ ●

५. सम्मार्जनि स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१७२. जो पहले प्रमाद करके भी बाद में प्रमादरहित जीवनयापन करने का प्रयास करता है, ऐसा पुरुष इस लोक को उसी तरह प्रकाशित करता है जैसे मेघमुक्त चन्द्रमा आकाश में प्रकाशित हुआ करता है॥ ●

६. अङ्गुलिमाल स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१७३. जिसके द्वारा कृत पाप (पश्चात्कृत) कुशलकर्मों से आवृत हो जाता है वह इस लोक को उसी तरह प्रकाशित करता है जैसे मेघमुक्त चन्द्रमा आकाश को प्रकाशित करता है॥ ●

७. जुलाहे की पुत्री को : : अग्गाळव चैत्य में

१७४. यह समस्त लोक अन्धा (दृष्टिविहीन) है। यहाँ कुछ ही (विवेकी) जन इस संसार की वास्तविकता देख पाते हैं, समझ पाते हैं। जाल से मुक्त हुए कुछ पक्षियों के समान कुछ (सदसद्विवेकी) पुरुष ही सुगतिमय स्वर्ग तक पहुँच पाते हैं॥ ●

८. तीस भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१७५. हंस सूर्यमार्ग में (आकाश) में उड़ते हैं, ऋद्धिसम्पन्नजन अपने ऋद्धिबल से आकाश में जाते हैं; (परन्तु) सेनासहित मार को जीतने वाले धैर्यशाली ज्ञानिजन इस लोक से (ससम्मान) ले जाये जाते हैं॥ ●

९. चिञ्चं माणविकं आरब्भ

एकं धम्मं अतीतस्स, मुसावादिस्स जन्तुनो।
वितिण्णपरलोकस्स, नत्थि पापं अकारियं॥ १७६॥

१०. असदिसदानं आरब्भ

न वे कदरिया देवलोकं वजन्ति, बाला हवे नप्पसंसन्ति दानं। [B.40]
धीरो च दानं अनुमोदमानो, तेनेव सो होति सुखी परत्थ॥ १७७॥

११. अनाथपिण्डिकपुत्तं कालं आरब्भ

पथव्या एकरज्जेन, सग्गस्स गमनेन वा।
सब्बलोकाधिपच्चेन, सोतापत्तिफलं वरं॥ १७८॥ ●

लोकवग्गो निट्ठितो॥



---

९. चिञ्चा माणविका को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१७६. एक धर्म (सत्य) का उल्लङ्घन कर, असत्य बोलने वाले तथा परलोक के प्रति उदासीन रहने वाले पुरुष के लिये ऐसा कोई कार्य नहीं है जो त्याज्य (अकार्य) हो॥ ●

१०. असदृशदान प्रशंसा : : श्रावस्ती के जेतवन में

१७७. कृपण (दान करने में कंजूस) मनुष्य देवलोक नहीं पहुँच पाते। मूर्ख मनुष्य दान की प्रशंसा क्या करेंगे! धैर्यशाली पुरुष ही दान का अनुमोदन करता है। उसी के प्रभाव से वह मरणानन्तर देवलोक में जाकर सुख भोगता है॥ ●

११. अनाथपिण्डिकपुत्र काल को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१७८. समस्त पृथ्वी के एकच्छत्र राज्य, स्वर्ग में वास तथा समस्त संसार का आधिपत्य मिलने की अपेक्षा स्रोतआपत्तिफल की प्राप्ति ही श्रेष्ठ है॥ ●

लोकवर्ग त्रयोदश सम्पूर्ण॥



१४. बुद्धवग्गो चतुद्दसमो

१. मारधीतरो आरब्भ

यस्स जितं नावजीयति, जितं यस्स नो याति कोचि लोके। [R.42]
तं बुद्धमनन्तगोचरं, अपदं केन पदेन नेस्सथ॥ १७९॥
यस्स जालिनी विसत्तिका, तण्हा नत्थि कुहिञ्चि नेतवे।
तं बुद्धमनन्तगोचरं, अपदं केन पदेन नेस्सथ॥ १८०॥

२. सङ्कस्सनगरे बहू देवमनुसे आरब्भ

ये झानपसुता धीरा, नेक्खम्मूपसमे रता।
देवा पि तेसं पिहयन्ति, सम्बुद्धानं सतीमतं॥ १८१॥

३. एरकपत्तं नागराजं आरब्भ

किच्छो मनुस्सपटिलाभो, किच्छं मच्चान जीवितं। [B.41]
किच्छं सद्धम्मस्सवनं, किच्छो बुद्धानमुप्पादो॥ १८२॥

४. आनन्दत्थेरस्स पञ्हं आरब्भ

सब्बपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा। [N.35]
सचित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धान सासनं॥ १८३॥

---

१४. बुद्धवर्ग चतुर्दश

१. मारपुत्री को : : बोधिमण्डप में

१७९. जिसका जीता हुआ पराजय में नहीं बदला जा सकता, जिसकी विजयप्राप्ति के लक्ष्य तक संसार में अन्य कोई नहीं पहुँच पाता; उस अनन्तदर्शी, पदरहित बुद्ध को तुम किस उपाय (विधि) से अस्थिर कर सकोगी!॥

१८०. जिसको जञ्जालयुक्त एवं विषसम्पृक्त सांसारिक तृष्णा भी कहीं विचलित नहीं कर पायी, उस अनन्तदर्शी एवं पदरहित बुद्ध को तुम किस उपाय से विचलित कर पाओगी॥ •

२. बहुत से देवताओं, मनुष्यों को : : साङ्काश्यनगर के द्वार पर

१८१. जो सतत ध्यानमग्न रहते हैं, धैर्यसम्पन्न हैं, निष्कामकर्मों द्वारा स्थायी शान्ति प्राप्त करने में तत्पर हैं, उन स्मृतियुक्त बुद्धों से देवतागण भी स्पृहा करते हैं॥ •

३. एरकपत्र नागराज को : : वाराणसी में

१८२. सबसे पहले, मनुष्यजन्म प्राप्त करना ही दुर्लभ है, यदि किसी पुण्यप्रभाव से यह दुर्लभ जीवन मिल भी जाय तो अधिक समय तक जीवित रहना इसकी अपेक्षा दुर्लभ है; पुनश्च जीवित रहते हुए धर्मश्रवण करना तो और भी दुर्लभ है, तथा सर्वतो दुर्लभ है इस लोक में बुद्ध का आविर्भूत होना (कि जिनसे साक्षात् धर्मश्रवण किया जा सके)॥ •

खन्ती परमं तपो तितिक्खा, निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा।
न हि पब्बजितो परूपघाती, समणो होति परं विहेठयन्तो॥ १८४॥

अनूपवादो अनूपघातो, पातिमोक्खे च संवरो।
मत्तञ्ञुता च भत्तस्मिं, पन्तं च सयनासनं।
अधिचित्ते च आयोगो, एतं बुद्धान सासनं॥ १८५॥

५. अनभिरतं भिक्खुं आरब्भ

न कहापणवस्सेन, तित्ति कामेसु विज्जति।
अप्पस्सादा दुखा कामा, इति विञ्ञाय पण्डितो॥ १८६॥
अपि दिब्बेसु कामेसु, रतिं सो नाधिगच्छति। [R.44]
तण्हक्खयरतो होति, सम्मासम्बुद्धसावको॥ १८७॥

६. अग्गिदत्तब्राह्मणं आरब्भ

बहुं वे सरणं यन्ति, पब्बतानि वनानि च।
आरामरुक्खचेत्यानि, मनुस्सा भयतज्जिता॥ १८८॥

---

४. आनन्द स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१८३. सभी पापों का निषेध, कुशलकर्मसम्पत्ति का सञ्चय, तथा स्वकीय चित्त की परिशुद्धि—यही बुद्धों का अनुशासन (उपदेश) है॥

१८४. क्षान्ति (क्षमा), जिसे तितिक्षा (सहनशीलता) भी कहते हैं सबसे उत्कृष्ट (परम) तप है। परन्तु निर्वाण उसकी अपेक्षा भी उत्कृष्टतर तप है। यह निश्चित समझिये कि दूसरे की (कायिक, वाचिक एवं मानसिक) हिंसा करने वाले को प्रव्रज्या का क्या लाभ है या दूसरे को कष्ट देने वाला अपने को 'श्रमण' कहला कर क्या लाभ लेगा!॥

१८५. अतः किसी की निन्दा न करना, किसी पर आघात (चोट) न पहुँचाना, प्रातिमोक्ष (भिक्षुओं के लिये प्रतिपादित शील) के नियमों का विधिवत् पालन, भोजन की मात्रा का पूर्णतः ज्ञान, एकान्त में ही सोना उठना बैठना आदि क्रियाएँ करना तथा चित्तवृत्तियों को निरोधयुक्त रखना—यही बुद्धों का अनुशासन (उपदेश) है॥ ●

५. किसी अनभिरत भिक्षु को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१८६. कार्षापणों (सुवर्णमुद्राओं) की अपार वर्षा से भी कामनाओं की तृप्ति नहीं हो पाती। ''इन कामनाओं के उपभोग में स्वाद (सुखद रस) अल्प है तथा दुःख अधिक है''—यह जान कर बुद्धिमान् पुरुष— ॥

१८७. लौकिक सुखों की बात तो छोड़िये, दिव्य (स्वर्ग के) सुखों में भी कोई आसक्ति नहीं रखता। वह पूर्णरूपेण प्रबुद्ध रहता हुआ श्रावक तृष्णा-क्षय के प्रयास में ही निरन्तर लगा रहता है॥ ●

नेतं खो सरणं खेमं, नेतं सरणमुत्तमं।
नेतं सरणमागम्म, सब्बदुक्खा पमुच्चति॥ १८९॥
यो च बुद्धं च धम्मं च, सङ्घं च सरणं गतो। [B.42]
चत्तारि अरियसच्चानि, सम्मप्पञ्ञाय पस्सति॥ १९०॥
दुक्खं दुक्खसमुप्पादं, दुक्खस्स च अतिक्कमं।
अरियं चट्ठङ्गिकं मग्गं, दुक्खूपसमगामिनं॥ १९१॥
एतं खो सरणं खेमं, एतं सरणमुत्तमं।
एतं सरणमागम्म, सब्बदुक्खा पमुच्चति॥ १९२॥

७. आनन्दत्थेरपञ्हं आरब्भ

दुल्लभो पुरिसाजञ्ञो, न सो सब्बत्थ जायति।
यत्थ सो जायति धीरो, तं कुलं सुखमेधति॥ १९३॥

८. सम्बहुलानं भिक्खूनं कथं आरब्भ

सुखो बुद्धानमुप्पादो, सुखा सद्धम्मदेसना।
सुखा सङ्घस्स सामग्गी, समग्गानं तपो सुखो॥ १९४॥

---

६. अग्रिदत्त ब्राह्मण को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१८८. संसार में भयत्रस्त मनुष्य पर्वत, वन, उद्यान (आराम) वृक्ष एवं चैत्यों की शरण में जाते हैं॥

१८९. ये शरणस्थल उस भयत्रस्त पुरुष के लिये सुखद एवं भयरहित उत्तम शरणस्थल नहीं हो सकते। वह इनको शरणस्थल मान कर सब दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता॥

१९०. इसके विपरीत, जो बुद्ध, धर्म एवं सङ्घ की शरण में जाता है, सम्यक्प्रज्ञा द्वारा चार आर्यसत्यों का साक्षात्कार करता है॥

१९१. जैसे—दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध तथा इस दुःखनिरोध को बताने वाला अष्टाङ्गिक मार्ग॥

१९२. वस्तुतः यह (उक्त रत्नत्रयशरणगमन) ही उत्तम शरणस्थल है, सुखदायक शरणस्थल है। इस शरणस्थल में पहुँच कर वह सांसारिक भयत्रस्त पुरुष सभी दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है॥

●

७. आनन्द स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१९३. ऐसा पुरुषोत्तम ज्ञानी इस संसार में परम दुर्लभ है। यह सर्वत्र आविर्भूत नहीं होता। जिस कुल में यह धैर्यशाली पुरुष आविर्भूत होता है उस कुल का निश्चय ही अभ्युदय (सुखसमृद्धि) अवश्यम्भावी है॥

●

९. कस्सपदसबलस्स चेतियं आरब्भ

पूजारहे पूजयतो, बुद्धे यदि व सावके। [N.36]
पपञ्चसमतिक्कन्ते, तिण्णसोकपरिद्दवे॥ १९५॥
ते तादिसे पूजयतो, निब्बुते अकुतोभये।
न सक्का पुञ्ञं सङ्खातुं, इमेत्तमपि केनचि॥ १९६॥

पठमभाणवारं निट्ठितं॥

बुद्धवग्गो निट्ठितो॥



---

८. बहुत से भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

१९४. भगवान् बुद्धों का आविर्भाव सभी के लिये सुखप्रद होता है। उनकी धर्मदेशना अपेक्षाकृत अधिक सुखद होती है। उनके उपदेश के अनुसार साधनाकर्ता भिक्षुसङ्घ की एकता भी सुखदायक मानी जाती है। इस प्रकार इन भिक्षुओं का एकता के साथ धर्मसाधना करना (तप) सबसे अधिक सुखप्रद है॥

९. काश्यप बुद्ध के सौवर्ण चैत्य के विषय में : : चारिका करते हुए

१९५. जो पूजनीय लोगों की पूजा तथा सम्मान करता है, बुद्धों या उनके श्रावकों की, संसार के प्रपञ्चों से दूर हुए, अतएव तज्जनित शोक एवं परिदेवादि से मुक्त ज्ञानी पुरुषों की पूजा तथा सम्मान करता है॥

१९६. इस प्रकार जो इन निर्वाण तक पहुँचे हुए तथा संसार में सर्वत्र निर्भीक विचरण करने वाले ज्ञानिजनों की पूजा करता रहता है, उसके पुण्य का कुछ भी वर्णन नहीं किया जा सकता॥

बुद्धवर्ग चतुर्दश समाप्त॥



१५. सुखवग्गो पन्नरसमो

१. ञातिकलहवूपसमनं आरब्भ

सुसुखं वत जीवाम, वेरिनेसु अवेरिनो। [R.46]
वेरिनेसु मनुस्सेसु, विहराम अवेरिनो॥ १९७॥

सुसुखं वत जीवाम, आतुरेसु अनातुरा। [B.43]
आतुरेसु मनुस्सेसु, विहराम अनातुरा॥ १९८॥

सुसुखं वत जीवाम, उस्सुकेसु अनुस्सुका।
उस्सुकेसु मनस्सेसु, विहराम अनुस्सुका॥ १९९॥

२. पापिनं मारं आरब्भ

सुसुखं वत जीवाम, येसं नो नत्थि किञ्चनं।
पीतिभक्खा भविस्साम, देवा आभस्सरा यथा॥ २००॥

३. कोसलरञ्ञो पराजयं आरब्भ

जयं वेरं पसवति, दुक्खं सेति पराजितो।
उपसन्तो सुखं सेति, हित्वा जयपराजयं॥ २०१॥

---

१५. सुखवर्ग पञ्चदश

१. जातिबन्धुओं में कलहोपशमनहेतु : : शाक्यप्रदेश में

१९७. शत्रुओं के साथ अशत्रुता (मैत्री) का व्यवहार करने वाले ही संसार में सुखपूर्वक जीवित रह सकते हैं। हम लोग वैरियों के साथ मित्रवद् व्यवहार करते हैं॥

१९८. संसार में वैरादि रोगों से ग्रस्त रोगियों से अरोगी के तुल्य व्यवहार करने पर ही सुखपूर्वक जीवित रहा जा सकता है। हम ऐसे रोगियों से अरोगी के समान व्यवहार कर सूखपूर्वक जीवित रह रहे हैं॥

१९९. संसार में उत्सुकों से अनुत्सुक के समान व्यवहार करने पर ही जीवित रहा जा सकता है। हम ऐसे उत्सुकों से अनुत्सुक के समान रह कर ही व्यवहार करते हैं॥ ●

२. पापी मार के प्रति : : पञ्चशाला (ब्राह्मणग्राम) में

२००. हम भिक्षुजन भी, जिनका संसार में अपना कहने योग्य कुछ नहीं है, सुखपूर्वक जीवित रह सकते हैं। यदि हमें खाने के लिये भिक्षा में कुछ भी न मिलेगा तो हम, आभास्वर देवों के समान, प्रीति भक्षण करके भी जीवित रह सकते हैं॥ ●

३. कौशलराज प्रसेनजित् के प्रति : : श्रावस्ती, जेतवन में

२०१. (किसी पर) विजय (उससे) शत्रुता उत्पन्न करती है। पराजित मनुष्य दु:खी होकर सोता है। अत: विजय, पराजय—दोनों को त्याग कर शान्त रहने वाला पुरुष ही सुख की नींद ले सकता है॥ ●

४. अञ्ञतरं कुलदारिकं आरब्भ

नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो कलि।
नत्थि खन्धसमा दुक्खा, नत्थि सन्तिपरं सुखं॥ २०२॥

५. एकं उपासकं आरब्भ

जिघच्छा परमा रोगा, सङ्खारा परमा दुखा।
एतं ञत्वा यथाभूतं, निब्बानं परमं सुखं॥ २०३॥

६. राजानं पसेनदिकोसलं आरब्भ

आरोग्यपरमा लाभा, सन्तुट्ठिपरमं धनं।
विस्सासपरमा ञाति, निब्बानं परमं सुखं॥ २०४॥

७. तिस्सत्थेरं आरब्भ

पविवेकरसं पीत्वा, रसं उपसमस्स च।
निद्दरो होति निप्पापो, धम्मपीतिरसं पिवं॥ २०५॥

८. देवराजं सक्कं आरब्भ

साहु दस्सनमरियानं, सन्निवासो सदा सुखो। [B.44]
अदस्सनेन बालानं, निच्चमेव सुखी सिया॥ २०६॥

---

४. किसी कुलपुत्री को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२०२. राग के समान कोई दाहक अग्नि नहीं है। द्वेष के समान कोई अपराध नहीं है। रूप, वेदना आदि स्कन्धों के समान कोई दुःख नहीं है। तथा शान्ति के समान कोई सुख नहीं है॥ ●

५. किसी उपासक को : : आळवी में

२०३. जिघृक्षा (उपादान=ग्रह्या करने की इच्छा) या जिघत्सा (भूख) के समान कोई रोग नहीं है, संस्कार परम दुःख है यह जान कर 'निर्वाण ही परम सुख है'—ऐसा मानो॥ ●

६. राजा प्रसेनजित् कौशल को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२०४. आरोग्य परम लाभ है, सन्तोष परम धन है। विश्वास सबसे बड़ा सम्बन्धी है तथा निर्वाण सबसे बड़ा सुख है॥ ●

७. किसी भिक्षु को : : वैशाली में

२०५. विवेक (एकान्त) तथा शान्ति रस पीकर धर्म के प्रीति रस को पीता हुआ मनुष्य निर्भय एवं निष्पाप हो जाता है॥ ●

८. शक्र देवराज को : : वेणुवग्राम में

२०६. आर्यों का दर्शन मङ्गलकारी होता है। उनके साथ रहना अधिक सुखप्रद है। मूर्खों का दर्शन न होने से भी मनुष्य सुखी रहता है॥

बालसङ्गतचारी हि, दीघमद्धान सोचति। [N.37]
दुक्खो बालेहि संवासो, अमित्तेनेव सब्बदा।
धीरो च सुखसंवासो, ञातीनं व समागमो॥ २०७॥

तस्मा हि—

[R.48]

धीरं च पञ्ञं च बहुस्सुतं च, धोरय्हसीलं वतवन्तमारियं।
तं तादिसं सप्पुरिसं सुमेधं, भजेथ नक्खत्तपथं व चन्दिमा॥ २०८॥ ●



सुखवग्गो निट्ठितो॥

१६. पियवग्गो सोळसमो

१. तयो जने पब्बजिते आरब्भ

अयोगे युञ्जमत्तानं, योगस्मिं च अयोजयं।
अत्थं हित्वा पियग्गाही, पिहेतत्तानुयोगिनं॥ २०९॥
मा पियेहि समागञ्छि, अप्पियेहि कुदाचनं।
पियानं अदस्सनं दुक्खं, अप्पियानं च दस्सनं॥ २१०॥
तस्मा पियं न कयिराथ, पियापायो हि पापको।
गन्था तेसं न विज्जन्ति, येसं नत्थि पियाप्पियं॥ २११॥

---

२०७. मूर्खों की सङ्गति में रह कर मनुष्य की जीवनयात्रा दुःखमिश्रित ही होती है। मूर्खों के साथ रहना उसी तरह दुःखप्रद होता है जैसे शत्रु के साथ रहना दुःखद हुआ करता है॥

२०८. अतः जिस प्रकार चन्द्रमा नक्षत्रपथ का अनुगमन करता है, उसी तरह भले मनुष्य को धैर्यवान्, प्राज्ञ, पण्डित, व्रती, आर्य एवं मेधावी पुरुष का अनुगमन करना चाहिये॥ ●

सुखवर्ग पञ्चदश समाप्त॥

१६. प्रियवर्ग षोडश

१. तीन प्रव्रजितों को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२०९. अयोग्य कार्य में अपने को व्यापृत करने वाला, तथा योग्य कार्य में व्यापृत न करने वाला जो पुरुष प्रयोजन का त्याग कर प्रिय विषयों का ग्राही होता है वह योग्य मार्ग पर चलने वाले से ईर्ष्या ही करता है॥

२१०. न प्रियों के साथ लगना उचित है, न अप्रियों के साथ ही लगना उचित है। क्योंकि प्रियजन न मिलते हैं तो उनका न मिलना दुःखप्रद हो जाता है उसी तरह अप्रियों का मिलना भी दुःखप्रद ही है॥

२. अञ्ञतरं कुटुम्बिकं आरब्भ

पियतो जायती सोको, पियतो जायती भयं।
पियतो विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं॥ २१२॥

३. विसाखं उपासिकं आरब्भ

पेमतो जायती सोको, पेमतो जायती भयं। [B.45]
पेमतो विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं॥ २१३॥

४. लिच्छवी आरब्भ

रतिया जायती सोको, रतिया जायती भयं।
रतिया विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं॥ २१४॥

५. अनित्थियगन्धकुमारं आरब्भ

कामतो जायती सोको, कामतो जायती भयं।
कामतो विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं॥ २१५॥

६. अञ्ञतरं ब्राह्मणं आरब्भ

तण्हाय जायती सोको, तण्हाय जायती भयं।
तण्हाय विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं॥ २१६॥

---

२११. अत: किसी को प्रिय न बनाओ; क्योंकि किसी को प्रिय बनाने के बाद उसका वियोग सहना दुष्कर हो जाता है। हमारे कथन का तात्पर्य यह है कि जिन ज्ञानियों के प्रिय एवं अप्रिय—दोनों ही नहीं होते उनको संसार के कोई बन्धन नहीं हो पाते॥ •

२. किसी कौटुम्बिक को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२१२. प्रिय के न मिलने पर शोक होता है, अप्रिय के मिलने पर भय उत्पन्न होता है। अत: इस प्रिय अप्रिय से मुक्त पुरुष को न शोक होता है, न भय॥ •

३. विशाखा उपासिका को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२१३. प्रेम (आसक्ति) से शोक उत्पन्न होता है, प्रेम से भय भी उत्पन्न होता है। इस प्रेम (आसक्ति) से रहित पुरुष को किसी प्रकार का शोक उत्पन्न नहीं होता, भय की तो बात ही नहीं है॥ •

४. लिच्छवियों के विषय में : : कूटागारशाला (वैशाली) में

२१४. रति (आसक्ति) से शोक उत्पन्न होता है, इसी रति से कभी कभी भय भी उत्पन्न होता है। परन्तु इस रति (आसक्ति) से मुक्त पुरुष को न शोक होता है, न भय॥ •

५. अस्त्रीगन्धकुमार को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२१५. काम (वासना) से शोक उत्पन्न होता है, तथा काम से भय भी उत्पन्न होता है। काम से मुक्त पुरुष को कोई शोक नहीं सताता, फिर भय की तो बात कहाँ है! •

बालसङ्गतचारी हि, दीघमद्धान सोचति। [N.37]
दुक्खो बालेहि संवासो, अमित्तेनेव सब्बदा।
धीरो च सुखसंवासो, ञातीनं व समागमो॥ २०७॥

तस्मा हि— [R.48]

धीरं च पञ्ञं च बहुस्सुतं च, धोरय्हसीलं वतवन्तमारियं।
तं तादिसं सप्पुरिसं सुमेधं, भजेथ नक्खत्तपथं व चन्दिमा॥ २०८॥

सुखवग्गो निट्ठितो॥



१६. पियवग्गो सोळसमो

१. तयो जने पब्बजिते आरब्भ

अयोगे युञ्जमत्तानं, योगस्मिं च अयोजयं।
अत्थं हित्वा पियग्गाही, पिहेतत्तानुयोगिनं॥ २०९॥

मा पियेहि समागञ्छि, अप्पियेहि कुदाचनं।
पियानं अदस्सनं दुक्खं, अप्पियानं च दस्सनं॥ २१०॥

तस्मा पियं न कयिराथ, पियापायो हि पापको।
गन्था तेसं न विज्जन्ति, येसं नत्थि पियाप्पियं॥ २११॥

---

२०७. मूर्खों की सङ्गति में रह कर मनुष्य की जीवनयात्रा दुःखमिश्रित ही होती है। मूर्खों के साथ रहना उसी तरह दुःखप्रद होता है जैसे शत्रु के साथ रहना दुःखद हुआ करता है॥

२०८. अतः जिस प्रकार चन्द्रमा नक्षत्रपथ का अनुगमन करता है, उसी तरह भले मनुष्य को धैर्यवान्, प्राज्ञ, पण्डित, व्रती, आर्य एवं मेधावी पुरुष का अनुगमन करना चाहिये॥

सुखवर्ग पञ्चदश समाप्त॥

१६. प्रियवर्ग षोडश

१. तीन प्रव्रजितों को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२०९. अयोग्य कार्य में अपने को व्यापृत करने वाला, तथा योग्य कार्य में व्यापृत न करने वाला जो पुरुष प्रयोजन का त्याग कर प्रिय विषयों का ग्राही होता है वह योग्य मार्ग पर चलने वाले से ईर्ष्या ही करता है॥

२१०. न प्रियों के साथ लगना उचित है, न अप्रियों के साथ ही लगना उचित है। क्योंकि प्रियजन न मिलते हैं तो उनका न मिलना दुःखप्रद हो जाता है उसी तरह अप्रियों का मिलना भी दुःखप्रद ही है॥

२. अञ्ञतरं कुटुम्बिकं आरब्भ

पियतो जायती सोको, पियतो जायती भयं।
पियतो विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं॥ २१२॥

३. विसाखं उपासिकं आरब्भ

पेमतो जायती सोको, पेमतो जायती भयं। [B.45]
पेमतो विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं॥ २१३॥

४. लिच्छवी आरब्भ

रतिया जायती सोको, रतिया जायती भयं।
रतिया विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं॥ २१४॥

५. अनित्थियगन्धकुमारं आरब्भ

कामतो जायती सोको, कामतो जायती भयं।
कामतो विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं॥ २१५॥

६. अञ्ञतरं ब्राह्मणं आरब्भ

तण्हाय जायती सोको, तण्हाय जायती भयं।
तण्हाय विप्पमुत्तस्स, नत्थि सोको कुतो भयं॥ २१६॥

---

२११. अतः किसी को प्रिय न बनाओ; क्योंकि किसी को प्रिय बनाने के बाद उसका वियोग सहना दुष्कर हो जाता है। हमारे कथन का तात्पर्य यह है कि जिन ज्ञानियों के प्रिय एवं अप्रिय—दोनों ही नहीं होते उनको संसार के कोई बन्धन नहीं हो पाते॥ ●

२. किसी कौटुम्बिक को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२१२. प्रिय के न मिलने पर शोक होता है, अप्रिय के मिलने पर भय उत्पन्न होता है। अतः इस प्रिय अप्रिय से मुक्त पुरुष को न शोक होता है, न भय॥ ●

३. विशाखा उपासिका को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२१३. प्रेम (आसक्ति) से शोक उत्पन्न होता है, प्रेम से भय भी उत्पन्न होता है। इस प्रेम (आसक्ति) से रहित पुरुष को किसी प्रकार का शोक उत्पन्न नहीं होता, भय की तो बात ही नहीं है॥ ●

४. लिच्छवियों के विषय में : : कूटागारशाला (वैशाली) में

२१४. रति (आसक्ति) से शोक उत्पन्न होता है, इसी रति से कभी कभी भय भी उत्पन्न होता है। परन्तु इस रति (आसक्ति) से मुक्त पुरुष को न शोक होता है, न भय॥ ●

५. अस्त्रीगन्धकुमार को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२१५. काम (वासना) से शोक उत्पन्न होता है, तथा काम से भय भी उत्पन्न होता है। काम से मुक्त पुरुष को कोई शोक नहीं सताता, फिर भय की तो बात कहाँ है! ●

७. पञ्चसतदारके आरब्भ

सीलदस्सनसम्पन्नं, धम्मट्ठं सच्चवेदिनं।
अत्तनो कम्म कुब्बानं, तं जनो कुरुते पियं॥ २१७॥

८. एकं अनागामित्थेरं आरब्भ

छन्दजातो अनक्खाते, मनसा च फुटो सिया। [N.38, R.50]
कामेसु च अप्पटिबद्धचित्तो, उद्धंसोतो ति वुच्चति॥ २१८॥

९. नन्दियं कुलपुत्तं आरब्भ

चिरप्पवासिं पुरिसं, दूरतो सोत्थिमागतं।
ञातिमित्ता सुहज्जा च, अभिनन्दन्ति आगतं॥ २१९॥
तथेव कतपुञ्ञं पि, अस्मा लोका परं गतं।
पुञ्ञानि पटिगण्हन्ति, पियं ञातीव आगतं॥ २२०॥ ●

पियवग्गो निट्ठितो॥



---

६. किसी ब्राह्मण को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२१६. तृष्णा से शोक उत्पन्न होता है, तथा तृष्णा से भय भी उत्पन्न होता है। तृष्णाविहीन पुरुष को न शोक होता है, न भय॥ ●

७. पाँच सौ बालकों को : : राजगृह, वेणुवन में

२१७. जो भिक्षु शील तथा ज्ञान (दर्शन) से सम्पन्न है, जो धर्मिष्ठ है, सत्यवादी है, जो अपने उत्तरदायित्व (तीनों शिक्षाओं) को पूर्णता तक पहुँचा देने वाला है, बुद्धिमान् लोग ऐसे पुरुष को 'प्रिय' बना ही लेते हैं॥ ●

८. कोई अनागामी स्थविर : : श्रावस्ती, जेतवन में

२१८. अनिर्वचनीय (अवर्णनीय=निर्वाण) के प्रति जिसकी इच्छा उत्पन्न हो गयी है, जो मन से स्पष्ट (असन्दिग्ध) हो गया है, जिसका चित्त किसी भी कामना से आबद्ध नहीं है, वही ऊर्ध्वस्रोता कहा जाता है॥ ●

९. नन्दिय कुलपुत्र को : : ऋषिपतन, वाराणसी में

२१९. (जैसे यहाँ) दूर से कुशलतापूर्वक आये हुए, बहुत समय से प्रवासी पुरुष का उसके सम्बन्धी जन एवं मित्रगण प्रसन्नतापूर्वक अभिनन्दन करते हैं॥

२२०. उसी प्रकार, इस लोक से परलोक में गये हुए पुण्यवान् पुरुष का भी, उसके पुण्यकर्म, प्रिय ज्ञाति भाई के समान, स्वागत करते हैं॥ ●

प्रियवर्ग षोडश समाप्त॥



१७. कोधवग्गो सत्तरसमो

१. रोहिणिं खत्तियकञ्ञं आरब्भ

कोधं जहे विप्पजहेय्य मानं, संयोजनं सब्बमतिक्कमेय्य। [B.46]
तं नामरूपस्मिमसज्जमानं, अकिञ्चनं नानुपतन्ति दुक्खा॥ २२१॥

२. अञ्ञतरं भिक्खुं आरब्भ

यो वे उप्पतितं कोधं, रथं भन्तं व धारये।
तमहं सारथिं ब्रूमि, रस्मिग्गाहो इतरो जनो॥ २२२॥

३. उत्तरं उपासिकं आरब्भ

अक्कोधेन जिने कोधं, असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन, सच्चेनालिकवादिनं॥ २२३॥

४. महामोग्गल्लानत्थेरस्स पञ्हं आरब्भ

सच्चं भणे न कुज्झेय्य, दज्जा अप्पं पि याचितो।
एतेहि तीहि ठानेहि, गच्छे देवान सन्तिके॥ २२४॥

✿ १७. क्रोधवर्ग सप्तदश

१. रोहिणी नामक क्षत्रिय कन्या को : : कपिलवस्तु, न्यग्रोधाराम

२२१. क्रोध का त्याग कर देना चाहिये। वृथाभिमान से दूर रहना चाहिये। सभी संयोजनों (बन्धनों) का त्याग कर (साधना में) आगे बढ़ना चाहिये। ऐसे नाम एवं रूप में अनासक्त रहने वाले अकिञ्चन पुद्गल पर सांसारिक दुःख किसी प्रकार का आक्रमण नहीं कर सकते॥ ●

२. किसी भिक्षु को : : अग्गाळव चैत्य (आळवी नगर) में

२२२. जो पुरुष स्वचित्त में उत्पन्न क्रोध को, बहके हुए (भ्रान्त) रथ के समान, रोक लेता है, उसी को मैं सच्चा (वास्तविक) सारथि मानता हूँ। अवशिष्ट जनों को केवल घोड़ों रश्मियाँ (लगाम) पकड़ने वाला ही समझना चाहिये॥ ●

३. उत्तरा उपासिका को : : राजगृह, वेणुवन में

२२३. साधक अक्रोध (क्षमा) द्वारा क्रोध को जीते। असाधु (असभ्य=निन्दक) को अपने सद्व्यवहार से जीते। कञ्जूस (कदर्य) को दान के द्वारा जीते। तथा असत्यभाषी को अपने सत्यभाषण से जीते॥ ●

४. महामौद्गल्यायन स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२२४. सदा सत्य बोले, किसी पर भी क्रोध न करे, किसी सत्पात्र द्वारा माँगे जाने पर कुछ न कुछ (अल्प अंश ही) दे दे—साधक इन तीन बातों का पालन करते हुए देवलोक पहुँचने का अपना मार्ग बनावे॥ ●

५. भिक्खूहि पुट्ठपञ्हं आरब्भ

अहिंसका ये मुनयो, निच्चं कायेन संवुता। [R.52]
ते यन्ति अच्चुतं ठानं, यत्थ गन्त्वा न सोचरे॥ २२५॥

६. पुण्णं दासिं आरब्भ

सदा जागरमानानं, अहोरत्तानुसिक्खिनं।
निब्बानं अधिमुत्तानं, अत्थं गच्छन्ति आसवा॥ २२६॥

७. अतुलं उपासकं आरब्भ

पोराणमेतं अतुल, नेतं अज्जतनामिव। [B.47]
निन्दन्ति तुण्हिमासीनं, निन्दन्ति बहुभाणिनं।
मितभाणिं पि निन्दन्ति, नत्थि लोके अनिन्दितो॥ २२७॥

न चाहु न च भविस्सति, न चेतरहि विज्जति।
एकन्तं निन्दितो पोसो, एकन्तं वा पसंसितो॥ २२८॥

यं चे विञ्ञू पसंसन्ति, अनुविच्च सुवे सुवे। [N.39]
अच्छिद्दवुत्तिं मेधाविं, पञ्ञासीलसमाहितं॥ २२९॥

---

५. कुछ भिक्षुओं के प्रश्न का उत्तर : : साकेत, अञ्जनवन

२२५. जो साधक अहिंसाव्रतधारी हैं, तथा शरीर से सदैव संयत जीवन बिताते हैं; वे अच्युत (कभी पतित न होने वाले=निर्वाण) स्थान को ही प्राप्त करते हैं। जहाँ पहुँच कर वे वीतशोक हो जाते हैं॥

●

६. पूर्णा दासी को : : राजगृह के वेणुवन में

२२६. सदैव जाग्रत् रहने वाले, दिन रात तीनों शिक्षाओं का अभ्यास करने वाले तथा निर्वाण के प्रति सतत अभ्यास करने वाले साधकों के चित्तविकार (आश्रव) क्षीण हो जाते हैं॥

●

७. अतुल उपासक को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२२७. अतुल! यह बात बहुत पुरानी हो चुकी है। कोई आज नयी बात नहीं कह रहे हो। चुप रहने वाले पुरुष की लोग निन्दा करने लगते हैं, इसी तरह बहुत बोलने वाले का भी लोग अधिक सम्मान नहीं करते। ऐसा कौन है, जिसकी लोक में निन्दा न होती हो॥

२२८. ऐसा कोई पुरुष इस लोक में न हुआ है, न वर्तमान समय में है, न आगे होगा जो लोक में एकान्ततः निन्दा का पात्र या प्रशंसा का पात्र ही हो॥

२२९. हाँ, पण्डित जन किसी निश्छल चरित्र वाले मेधावी तथा प्रज्ञा एवं शील से सम्पन्न पुरुष की, प्रतिदिन सूक्ष्मेक्षिकया विचार करते हुए, प्रशंसा ही किया करते हैं॥

निक्खं जम्बोनदस्सेव, को तं निन्दितुमरहति।
देवा पि नं पसंसन्ति, ब्रह्मुना पि पसंसितो॥ २३०॥

८. छब्बग्गिये भिक्खू आरब्भ

कायप्पकोपं रक्खेय्य, कायेन संवुतो सिया।
कायदुच्चरितं हित्वा, कायेन सुचरितं चरे॥ २३१॥

वचीपकोपं रक्खेय्य, वाचाय संवुतो सिया।
वचीदुच्चरितं हित्वा, वाचाय सुचरितं चरे॥ २३२॥

मनोपकोपं रक्खेय्य, मनसा संवुतो सिया।
मनोदुच्चरितं हित्वा, मनसा सुचरितं चरे॥ २३३॥

कायेन संवुता धीरा, अथो वाचाय संवुता।
मनसा संवुता धीरा, ते वे सुपरिसंवुता॥ २३४॥ ●

कोधवग्गो निट्ठितो॥



---

२३०. (क्योंकि) शुद्ध सुवर्ण से बनी हुई मुद्रा की कौन निन्दा कर सकता है! देवता भी वैसे साधक की प्रशंसा करते हैं, ब्रह्मा द्वारा तो वह प्रशंसा प्राप्त है ही॥ ●

८. षड्वर्गीय भिक्षुओं को : : राजगृह के वेणुवन में

२३१. साधक त्रिविध कायदुश्चरितों से अपने को बचावे। काया की चेष्टाओं के विषय में संयम रखे। इतना ही नहीं, वह इन कायदुश्चरितों से दूर रहता हुआ काया से निरन्तर सदाचरण का ही प्रयास करता रहे॥

२३२. साधक त्रिविध वाग्दुश्चरितों से...पूर्ववत्...करता रहे॥

२३३. साधक त्रिविध मनोदुश्चरितों से...पूर्ववत्...करता रहे॥

२३४. जो धैर्यवान् साधक काया की चेष्टाओं में, वाणी की चेष्टाओं में, मन की चेष्टाओं में संयत हैं, वे ही वस्तुतः इस लोक में सुष्ठुतापूर्वक संयत माने जाते हैं॥ ●

क्रोधवर्ग सप्तदश सम्पन्न॥



१८. मलवग्गो अट्ठारसमो

१. गोघातकपुत्तं आरब्भ

पण्डुपलासो व दानिसि, यमपुरिसा पि च ते उपट्ठिता। [R.54]
उय्योगमुखे च तिट्ठसि, पाथेय्यं पि च ते न विज्जति॥ २३५॥

सो करोहि दीपमत्तनो, खिप्पं वायम पण्डितो भव। [B.48]
निद्धन्तमलो अनङ्गणो, दिब्बं अरियभूमिं उपेहिसि॥ २३६॥

उपनीतवयो च दानिसि, सम्पयातोसि यमस्स सन्तिके।
वासो ते नत्थि अन्तरा, पाथेय्यं पि च ते न विज्जति॥ २३७॥

सो करोहि दीपमत्तनो, खिप्पं वायम पण्डितो भव।
निद्धन्तमलो अनङ्गणो, न पुन जातिजरं उपेहिसि॥ २३८॥

२. अञ्ञतरं ब्राह्मणं आरब्भ

अनुपुब्बेन मेधावी, थोकथोकं खणे खणे।
कम्मारो रजतस्सेव, निद्धमे मलमत्तनो॥ २३९॥

---

१८. मलवर्ग अष्टादश

१. गोघातकपुत्र को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२३५. अब तुम्हारा शरीर वृक्ष के पके हुए पत्र के समान पीला दिखायी दे रहा है। यमराज (मृत्यु) के दूत तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हो गये हैं। तुम वियोग (हानि) के मुख (मुहाना) पर खड़े हो; परन्तु तुम्हारे पास परलोक में जाते समय कोई पाथेय (पुण्यकर्म) भी नहीं है॥

२३६. तुम अपने आपको एक द्वीप (शरणस्थल) बना लो, आध्यात्मिक साधना का शीघ्र ही प्रयास आरम्भ करो। पण्डित बन कर अपने प्रत्येक कर्म का अनुवीक्षण करो। तुम अपने सभी चित्तविकार नष्ट कर तथा पापरहित होकर ही दिव्य आर्यभूमि तक पहुँच पाओगे॥

२३७. तुम्हारे आयु:संस्कार समाप्त हो चुके हैं। तुम शनैः शनैः यमराज (मृत्यु) के समीप पहुँचते जा रहे हो। मध्य में (कुछ समय की स्थिति के लिये) कोई वासस्थान (शरणस्थल) भी नहीं है। तथा तुम्हारे पास न कोई पाथेय (यात्रा-भोजन) ही है॥

२३८. अतः तुम स्वयं अपने को एक द्वीप (शरणस्थल) बना लो। आध्यात्मिक साधना में शीघ्र ही (क्षिप्र) लग जाओ। सब कार्य बुद्धिमत्तापूर्वक सम्पन्न करो। इस तरह, तुम निर्मल एवं निष्पाप होते हुए जन्म एवं जरा (बुढापा) के जाल से छूट पाओगे॥ ●

२. किसी ब्राह्मण को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२३९. जिस प्रकार सुवर्णकार चाँदी के मल (दोष) को क्षण क्षण क्रमशः थोड़ा थोड़ा

३. तिस्सत्थेरं भिक्खुं आरब्भ

अयसा व मलं समुट्ठितं, तदुट्ठाय तमेव खादति।
एवं अतिधोनचारिनं, सानि कम्मानि नयन्ति दुग्गतिं॥ २४०॥

४. लाळुदायित्थेरं आरब्भ

असज्झायमला मन्ता, अनुट्ठानमला घरा। [N.40]
मलं वण्णस्स कोसज्जं, पमादो रक्खतो मलं॥ २४१॥

५. अञ्ञतरं कुलपुत्तं आरब्भ

मलित्थिया दुच्चरितं, मच्छेरं ददतो मलं।
मला वे पापका धम्मा, अस्मिं लोके परम्हि च॥ २४२॥
ततो मला मलतरं, अविज्जा परमं मलं। [R.56]
एतं मलं पहन्त्वान, निम्मला होथ भिक्खवो॥ २४३॥

६. चूळसारिं आरब्भ

सुजीवं अहिरिकेन, काकसूरेन धंसिना।
पक्खन्दिना पगब्भेन, सङ्किलिट्ठेन जीवितं॥ २४४॥

जलाता रहता है; उसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष को क्रमशः क्षण क्षण अपना थोड़ा थोड़ा चित्तविकार हटाते रहना चाहिये॥ ●

३. तिष्य स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२४०. जिस प्रकार लोह का उत्पन्न मल उससे निकल कर उसी को खा जाता है; उसी प्रकार शील (सदाचार) का अतिक्रमण करने वाले को उसके स्वयंकृत कर्म ही उसको दुर्गति की ओर ले जाते हैं॥ ●

४. लाडुदायी स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२४१. अल्प धर्मज्ञान (मन्त्र) का निरन्तर स्वाध्याय न करना भी मल (मैल) है। प्रतिवर्ष आवास का जीर्णोद्धार न करना भी मल है। आलस्य वर्ण (रूप) का मल है। तथा रक्षक का प्रमत्त (असावधान) होना मल है॥ ●

५. किसी कुलपुत्र को : : राजगृह, वेणुवन में

२४२. दुश्चरित होना स्त्री का मल है; इसी तरह दान में कञ्जूसी करना, तथा इस लोक या परलोक में किये गये अकुशल (पाप) कर्म—ये तीनों बातें 'मल' कहलाती हैं॥

२४३. तथा अविद्या (अज्ञान) इन सबकी अपेक्षा उत्कृष्ट मल है। अतः भिक्षुओ! ये सब मल त्याग कर निर्मल बनो॥ ●

हिरीमता च दुज्जीवं, निच्चं सुचिगवेसिना। [B.49]
अलीनेनाप्पगब्भेन, सुद्धाजीवेन पस्सता॥ २४५॥

७. पञ्च उपासके आरब्भ

यो पाणमतिपातेति, मुसावादं च भासति।
लोके अदिन्नमादियति, परदारं च गच्छति॥ २४६॥
सुरामेरयपानं च, यो नरो अनुयुञ्जति।
इधेव मेसो लोकस्मिं, मूलं खणति अत्तनो॥ २४७॥
एवं भो पुरिस जानाहि, पापधम्मा असञ्ञता।
मा तं लोभो अधम्मो च, चिरं दुक्खाय रन्धयुं॥ २४८॥

८. तिस्सदहरं आरब्भ

ददाति वे यथासद्धं, यथापसादनं जनो।
तत्थ यो मङ्कु भवति, परेसं पानभोजने।
न सो दिवा वा रत्तिं वा, समाधिमधिगच्छति॥ २४९॥

---

६. सारिपुत्र के शिष्य चूळसारि को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२४४. निर्लज्ज कौए के समान शूर, दूसरे का अहित करने वाले, मिथ्या छलांग लगा कर पतित होने वाले, प्रगल्भ (चतुर) तथा पापी का जीवन सुख से बीतता है॥

२४५. (परन्तु) लज्जावान्, नित्य पवित्रता के गवेषक, आलस्यविहीन, मितभाषी, शुद्ध जीविका वाले, ज्ञानी पुरुष का जीवन (भौतिक रूप से) कठिनता से बीतता है॥ ●

७. पाँच उपासकों को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२४६. जो प्राणियों की हिंसा करता है, जो असत्य बोलता है, जो लोक में न दी गयी वस्तु को चौरी से ले लेता है, तथा परस्त्रीगमन करता है॥

२४७. जो पुरुष मद्यपान का अभ्यासी हो चुका है, वह मानो इसी लोक में अपनी जड़ें खोदता है॥

२४८. हे पुरुष! इसलिये यह जान ले कि संयमरहित लोग लोक में 'पापकर्ता' कहलाते हैं। ऐसा न हो कि तुझे लोभ एवं अधर्म चिरकाल तक जलाते रहें॥ ●

८. तिष्य युवक भिक्षु को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२४९. दानी पुरुष अपनी श्रद्धा एवं स्नेह के अनुसार दान में प्रवृत्त होता है। वहाँ जो दूसरों को मिलने वाले यान या भोजन में किसी को उत्साहहीन बनाता है, वह दिन या रात्रि में कभी शान्ति (चित्त की स्थिरता) प्राप्त नहीं कर पाता॥

२५०. परन्तु जिस पुरुष का ऐसा ईर्ष्याभाव उसके चित्त से निवृत्त हो चुका है या समूल नष्ट हो चुका है, ऐसा पुरुष दिन रात शान्तचित्त होकर समाधिनिष्ठ रहता है॥ ●

यस्स चेतं समुच्छिन्नं, मूलघच्चं समूहतं।
स वे दिवा वा रत्तिं वा, समाधिमधिगच्छति॥ २५०॥

९. पञ्च उपासके आरब्भ

नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो गहो।
नत्थि मोहसमं जालं, नत्थि तण्हासमा नदी॥ २५१॥

१०. मेण्डकसेट्ठिं आरब्भ

सुदस्सं वज्जमञ्ञेसं, अत्तनो पन दुद्दसं।
परेसं हि सो वज्जानि, ओपुनाति यथा भुसं।
अत्तना पन छादेति, कलिं व कितवा सठो॥ २५२॥

११. उज्झानसञ्ञि थेरं आरब्भ

परवज्जानुपस्सिस्स, निच्चं उज्झानसञ्ञिनो। [N.41,B.50,R.58]
आसवा तस्स वड्ढन्ति, आरा सो आसवक्खया॥ २५३॥

१२. सुभद्दं परिब्बाजकं आरब्भ

आकासेव पदं नत्थि, समणो नत्थि बाहिरे।
पपञ्चाभिरता पजा, निप्पपञ्चा तथागता॥ २५४॥

---

९. पाँच उपासकों को : : श्रावस्ती के जेतवन में

२५१. राग के समान कोई अग्नि नहीं है, द्वेष के समान कोई ग्रह नहीं है। मोह के समान कोई जाल नहीं है, तथा तृष्णा के समान कोई नदी नहीं॥ •

१०. मेण्डक श्रेष्ठी को : : भद्दियनगर के जातिवन में

२५२. दूसरों के दोष देखना सरल है; किन्तु अपने दोष देख पाना उतना सरल नहीं होता। यह दूसरे के दोषों को भूसे की तरह उछालता रहता है; परन्तु अपने दोषों को उसी तरह छिपाता है जैसे धूर्त जुआरी अपने पासे छिपाये रखता है॥ •

११. उद्ध्यानसंज्ञी नामक स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२५३. निरन्तर दूसरों के दोष ही देखने वाले या सदैव दूसरों से ईर्ष्या करने वाले का चित्तमल ही बढ़ता है। वह अपने चित्तमलक्षय (निर्वाण) के पार नहीं जा सकता। अर्थात् वह निर्वाण से दूर ही रहता है॥ •

१२. सुभद्र परिव्राजक को : : शालवन, कुसिनारा में

२५४. आकाश में पद (उसका वर्ण या आकार आदि) नहीं है, बाह्य सम्प्रदायों के साधनामार्ग से श्रमण बनना भी सम्भव नहीं है। साधारण लोग सांसारिक प्रपञ्चों में व्यासक्त हैं, परन्तु तथागत बुद्ध इन प्रपञ्चों से दूर हैं॥

आकासेव पदं नत्थि, समणो नत्थि बाहिरे।
सङ्खारा सस्सता नत्थि, नत्थि बुद्धानमिञ्जितं॥ २५५॥

मलवग्गो निट्ठितो॥



१९. धम्मट्ठवग्गो एकूनवीसतिमो

१. विनिच्छयमहामत्ते आरब्भ

न तेन होति धम्मट्ठो, येनत्थं साहसा नये।
यो च अत्थं अनत्थं च, उभो निच्छेय्य पण्डितो॥ २५६॥
असाहसेन धम्मेन, समेन नयती परे।
धम्मस्स गुत्तो मेधावी, धम्मट्ठो ति पवुच्चति॥ २५७॥

२. छब्बग्गिये भिक्खू आरब्भ

न तेन पण्डितो होति, यावता बहु भासति।
खेमी अवेरी अभयो, पण्डितो ति पवुच्चति॥ २५८॥

---

२५५. आकाश में पद...पूर्ववत्...कोई श्रमण नहीं बन सकता। संस्कारों को शाश्वत (स्थायी) नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत, बुद्ध ही शाश्वत हैं, इनमें अस्थिरता नहीं होती॥

मलवग्ग अष्टादश समाप्त॥



१९. धर्मस्थवर्ग एकोनविंश

१. विनिश्चय महामात्य को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२५६. जो न्यायाधीश (निर्णायक) सोचे समझे विना अन्यायपूर्वक निर्णय देता है, वह 'धर्मपूर्वक निर्णय देने वाला' नहीं कहलाता। अर्थ, अनर्थ—दोनों पर विचार कर जो निर्णय देता है वही 'पण्डित' (सत्यवादी न्यायाधीश) कहलाता है॥

२५७. जो दु:साहस न करता हुआ धर्मपूर्वक, दोनों पक्षों से तटस्थ रहता हुआ बुद्धिमत्ता के साथ धर्मयुक्त न्याय करता है वही सच्चा 'न्यायाधीश' कहलाता है॥

२. षड्वर्गीय भिक्षुओं को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२५८. इससे कोई 'पण्डित' नहीं हो जाता कि वह बहुत बोलता है। अपितु जो शान्तिप्रिय (क्षेमी) है, सबके प्रति मित्रता रखता है, दूसरों को अभय प्रदान करने वाला है वही 'पण्डित' कहलाता है॥

३. एकोदानत्थेरं आरब्भ

न तावता धम्मधरो, यावता बहु भासति।
यो च अप्पं पि सुत्वान, धम्मं कायेन पस्सति।
स वे धम्मधरो होति, यो धम्मं नप्पमज्जति॥ २५९॥

४. लकुण्टकभद्दियत्थेरं आरब्भ

न तेन थेरो सो होति, येनस्स पलितं सिरो। [B.51]
परिपक्को वयो तस्स, 'मोघजिण्णो' ति वुच्चति॥ २६०॥
यम्हि सच्चं च धम्मो च, अहिंसा संयमो दमो।
स वे वन्तमलो धीरो, 'थेरो' इति पवुच्चति॥ २६१॥

५. सम्बहुले भिक्खू आरब्भ

न वाक्करणमत्तेन, वण्णपोक्खरताय वा। [R.60]
साधुरूपो नरो होति, इस्सुकी मच्छरी सठो॥ २६२॥
यस्स चेतं समुच्छिन्नं, मूलघच्चं समूहतं।
स वन्तदोसो मेधावी, साधुरूपो ति वुच्चति॥ २६३॥

---

३. एकोदान स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२५९. इतने से ही किसी को 'धर्मधर' कैसे मान लिया जाय कि वह बहुत बोलता है! अपितु जो अल्प श्रवण करके भी उसी (अल्पश्रुत) के माध्यम से धर्माराधना करता है, तथा जो धर्म के विषय में कभी प्रमाद नहीं करता, वस्तुतः वही 'धर्मधर' है॥ ●

४. लकुण्टकभद्दिय स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२६०. किसी के शिर के बाल श्वेत हो गये हों तो इतने मात्र से कोई 'स्थविर' कहलाने का अधिकारी नहीं हो जाता। उसकी आयु अवश्य परिपक्व हो गयी, परन्तु वह 'व्यर्थ वृद्ध' कहलाता है॥

२६१. हाँ, जिस साधक पुरुष में सत्य, अहिंसा, शील तथा इन्द्रियसंयम है वही विकाररहित (निर्मल), धैर्यशाली एवं 'स्थविर' कहलाता है॥ ●

५. बहुत से भिक्षुओं को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२६२. केवल वक्ता होने के कारण, अथवा रूप एवं सौन्दर्य के कारण, ऐसा पुद्गल 'साधु' कहलाने योग्य नहीं हो जाता; क्योंकि जो दूसरों के प्रति ईर्ष्यालु हो, शठ हो, या मात्सर्यसम्पन्न हो वह 'साधु' कहलाने योग्य नहीं है॥

२६३. इसके विपरीत, जिसके उपर्युक्त दोष नष्ट हो चुके हैं, मूलतः उच्छिन्न हो गये हैं वह निर्दोष (निर्विकार) मेधावी साधक अवश्य 'साधु' कहलाने का अधिकारी है॥ ●

६. हत्थकं आरब्भ

न मुण्डकेन समणो, अब्बतो अलिकं भणं।
इच्छालोभसमापन्नो, समणो किं भविस्सति॥ २६४॥
यो च समेति पापानि, अणुं थूलानि सब्बसो। [N.42]
समितत्ता हि पापानं, समणो ति पवुच्चति॥ २६५॥

७. अञ्ञतरं ब्राह्मणं आरब्भ

न तेन भिक्खु सो होति, यावता भिक्खते परे।
विस्सं धम्मं समादाय, भिक्खु होति न तावता॥ २६६॥
योध पुञ्ञं च पापं च, बाहेत्वा ब्रह्मचरियवा।
सङ्खाय लोके चरति, स वे भिक्खू ति वुच्चति॥ २६७॥

८. अञ्ञतित्थिये आरब्भ

न मोनेन मुनी होति, मूळ्हरूपो अविद्दसु।
यो च तुलं व पग्गय्ह, वरमादाय पण्डितो॥ २६८॥
पापानि परिवज्जेति, स मुनी तेन सो मुनि। [B.52]
यो मुनाति उभो लोके, मुनि तेन पवुच्चति॥ २६९॥

---

६. हस्तक भिक्षु को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२६४. व्रत का पालन न करने वाला असत्यभाषी मनुष्य केवल मुण्डन करा लेने से 'श्रमण' नहीं हो जाता; क्योंकि इच्छा एवं लोभ से युक्त पुरुष श्रमण क्या बनेगा!॥

२६५. हाँ, जो अपने छोटे या बड़े पापों (अकुशल कर्मों) का सर्वथा शमन करता रहता है, इस कारण, वही श्रमण कहलाने का अधिकारी है॥ ●

७. किसी ब्राह्मण को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२६६. दूसरों के घरों में जाकर केवल भिक्षा माँगते रहने से कोई 'भिक्षु' कहलाने का अधिकारी नहीं हो जाता। वह विषम धर्मों से भी सम्पृक्त रहे तथा भिक्षु भी कहलाना चाहे— दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं॥

२६७. इसके विपरीत जो इस लोक में पाप पुण्ययुक्त धर्मों का त्याग कर ब्रह्मचर्यपूर्वक ज्ञानमार्ग से विचरण करता है वही वास्तविक 'भिक्षु' होता है॥ ●

८. अन्य सम्प्रदाय के परिव्राजकों को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२६८. जो मूर्ख मनुष्य उस विषय का ज्ञाता नहीं होता वह केवल मौन धारण करने मात्र से 'मुनि' नहीं हो जाता। जो मनुष्य तुला के समान, अच्छे बुरे को ग्रहण कर उन्हें तौल कर अशुभ को त्याग देता है तथा शुभ को ग्रहण करता है वही बुद्धिमान् है॥

९. अरियं वाळिसिकं आरब्भ

न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं, अरियो ति पवुच्चति॥ २७०॥

१०. सम्बहुले सीलादिसम्पन्ने भिक्खू आरब्भ

न सीलब्बतमत्तेन, बाहुसच्चेन वा पन।
अथ वा समाधिलाभेन, विवित्तसयनेन वा॥ २७१॥
फुसामि नेक्खम्मसुखं, अपुथुज्जनसेवितं।
भिक्खु विस्सासमापादि, अप्पत्तो आसवक्खयं॥ २७२॥ ●

धम्मट्ठवग्गो निट्ठितो॥



---

२६९. पापों का परित्याग करता रहता है, अतः वह 'मुनि' कहलाने का अधिकारी है। जो दोनों लोकों का मनन करता है वह भी 'मुनि' ही कहलाता है॥ ●

९. आर्य बाडिशिक को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२७०. जो प्राणियों की हिंसा करता है वह मनुष्य 'आर्य' कैसे हो सकता है! क्योंकि सब प्राणियों के प्रति लोक में अहिंसक वृत्ति (मैत्रीभावना) रखने वाला ही 'आर्य' कहलाता है॥ ●

१०. बहुत से शीलादिसम्पन्न भिक्षुओं को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२७१. भिक्षुओ! केवल सदाचार एवं धुताङ्ग व्रत धारण करने से, सत्यभाषण से, समाधिलाभ से, या केवल एकान्त में शयनासन लगाने मात्र से॥

२७२. 'मैं अपृथग्जनों से सेवित नैष्कर्म्य सुखों का अनुभव कर सकता हूँ'—ऐसा विश्वास तब तक नहीं करना चाहिये, जब तक कि साधक आश्रवक्षय (क्षीणाश्रव) की स्थिति में न पहुँच जाय॥ ●

धर्मस्थवर्ग एकोनविंश समाप्त॥



२०. मग्गवग्गो वीसतिमो

१. पञ्चसतभिक्खू आरब्भ

मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो, सच्चानं चतुरो पदा। [R.62]
विरागो सेट्ठो धम्मानं, द्विपदानं च चक्खुमा॥ २७३॥

एसो व मग्गो नत्थञ्ञो, दस्सनस्स विसुद्धिया।
एतञ्हि तुम्हे पटिपज्जथ, मारस्सेतं पमोहनं॥ २७४॥

एतञ्हि तुम्हे पटिपन्ना, दुक्खस्सन्तं करिस्सथ।
अक्खातो वो मया मग्गो, अञ्ञाय सल्लकन्तनं॥ २७५॥

तुम्हेहि किच्चमातप्पं, अक्खातारो तथागता।
पटिपन्ना पमोक्खन्ति, झायिनो मारबन्धना॥ २७६॥

२. अनिच्चलक्खणं आरब्भ

सब्बे सङ्खारा अनिच्चा ति, यदा पञ्ञाय पस्सति। [N.43, B.53]
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया॥ २७७॥

---

२०. मार्गवर्ग बीसवाँ

१. पाँच सौ भिक्षुओं को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२७३. आध्यात्मिक चिन्तन के उपायों (मार्गों) में अष्टाङ्गिक मार्ग ही श्रेष्ठ है। सत्यों में चार आर्यसत्य ही श्रेष्ठ हैं। धर्मों में वैराग्य श्रेष्ठ है। तथा देवताओं एवं मनुष्यों में चक्षुष्मान् (ज्ञानवान्=तथागत) ही श्रेष्ठ है॥

२७४. दर्शन (ज्ञान) की विशुद्धि के लिये यही एकमात्र मार्ग है, अन्य कोई नहीं। तुम्हें इसी पथ का अनुसरण करना है। यह पथ (मार्ग) मार को भी मुग्ध कर उसे निस्तेज कर सकता है॥

२७५. यदि तुम इस पथ पर चलोगे तो, निश्चय ही, अपने सांसारिक दुःखों का नाश कर पाओगे। मेरे इस उपदेश के अनुसार चल कर तुम अपने भवकण्टक (भवरोग) का नाश कर सकोगे॥

२७६. तुम्हें ही एतदर्थ कठिन तप (उद्योग=श्रम) करना है। तथागत तो तुम्हें केवल मार्ग का निर्देश कर सकते हैं। यह निश्चय समझ लो कि जो ध्यानी जन इस मार्ग का अनुसरण करेंगे वे अवश्य ही भवदुःख (मारबन्धन) से मुक्त हो जायँगें॥ ●

२. पाँच सौ भिक्षुओं को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२७७. जब कोई साधक प्रज्ञा द्वारा "सभी संस्कार अनित्य हैं"—ऐसा साक्षात्कार कर लेता है तब उसको दुःखों से विरक्ति हो जाती है। यही चित्तविशुद्धि का वास्तविक मार्ग है॥ ●

३. दुक्खलक्खणं आरब्भ

सब्बे सङ्खारा दुक्खा ति, यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया॥ २७८॥

४. अनत्तलक्खणं आरब्भ

सब्बे धम्मा अनत्ता ति, यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया॥ २७९॥

५. पधानकम्मिकतिस्सत्थेरं आरब्भ

उट्ठानकालम्हि अनुट्ठहानो, युवा बली आलसियं उपेतो।
संसन्नसङ्कप्पमनो कुसीतो, पञ्ञाय मग्गं अलसो न विन्दति॥ २८०॥

६. सूकरपेतं आरब्भ

वाचानुरक्खी मनसा सुसंवुतो, कायेन च अकुसलं न कयिरा।
एते तयो कम्मपथे विसोधये, आराधये मग्गमिसिप्पवेदितं॥ २८१॥

७. पोटलित्थेरं आरब्भ

योगा वे जायती भूरि, अयोगा भूरिसङ्खयो।
एतं द्वेधापथं ञत्वा, भवाय विभवाय च।

---

३. उन्हीं पाँच सौ भिक्षुओं को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२७८. जब कोई साधक प्रज्ञा द्वारा "सभी संस्कार दुःखमय हैं"—ऐसा साक्षात्कार कर लेता है, तब उसको दुःखों के प्रति घृणा (वैराग्य) हो जाता है। यही चित्तविशुद्धि का वास्तविक मार्ग है॥ ●

४. उन्हीं ५०० भिक्षुओं को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२७९. जब कोई ध्यानी अपनी प्रज्ञा द्वारा "सभी धर्म अनात्म हैं"—ऐसा साक्षात् कर कर लेता है तब वह दुःखों के प्रति वैराग्यवान् हो जाता है। यही चित्तविशुद्धि का सर्वोत्तम मार्ग है॥ ●

५. प्रधानकर्मिक तिष्य स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

२८०. जो उठ खड़े होने के समय उठ खड़ा नहीं होता; वह युवक एवं बलशाली भी हो, परन्तु आलस्ययुक्त होने के कारण उसके मानसिक सङ्कल्प निर्बल हों तो ऐसा दीर्घसूत्री एवं आलसी पुरुष प्रज्ञा का मार्ग नहीं प्राप्त कर पाता॥ ●

६. शूकरप्रेत के प्रति : : राजगृह, वेणुवन में

२८१. मनुष्य को वाणी पर संयम रखने वाला, मन पर निग्रह रखने वाला, तथा शरीर से पापकर्म न करने वाला होना चाहिये। उसे इन तीनों कर्मपथों की विशुद्धि करते हुए ऋषियों (बुद्धों) द्वारा उपदिष्ट अष्टाङ्गिक मार्ग की आराधना करनी चाहिये॥ ●

तथात्तानं निवेसेय्य, यथा भूरि पवड्ढति॥ २८२॥

८. पञ्च महल्लकत्थेरे आरब्भ

वनं छिन्दथ मा रुक्खं, वनतो जायते भयं। [B.54]
छेत्वा वनं च वनथं च, निब्बना होथ भिक्खवो॥ २८३॥
याव हि वनथो न छिज्जति, अणुमत्तो पि नरस्स नारिसु। [R.64]
पटिबद्धमनो व ताव सो, वच्छो खीरपको व मातरि॥ २८४॥

९. सुवण्णकारत्थेरं आरब्भ

उच्छिन्न सिनेहमत्तनो, कुमुदं सारदिकं व पाणिना।
सन्तिमग्गमेव ब्रूहय, निब्बानं सुगतेन देसितं॥ २८५॥

१०. महाधनवाणिजं आरब्भ

इध वस्सं वसिस्सामि, इध हेमन्तगिम्हिसु।
इति बालो विचिन्तेति, अन्तरायं न बुज्झति॥ २८६॥

---

७. पोटलि स्थविर के प्रति : : श्रावस्ती, जेतवन में

२८२. योगाभ्यास से ज्ञान उत्पन्न होता है। योगाभ्यास न करने से ज्ञान का क्षय होता है। लाभ एवं हानि—इन द्विविध मार्गों को जान कर साधक स्वयं को इस प्रकार व्यापृत करे कि जिससे उसके ज्ञान की वृद्धि हो॥

●

८. पाँच वृद्ध स्थविरों के प्रति : : श्रावस्ती, जेतवन में

२८३. (वासनाओं के) वन को काटो, केवल वृक्षों को नहीं। इस वासना-वन से भय उत्पन्न होता है। वन तथा झाड़ियों को काट कर तुम वन (वासना) रहित हो जाओ॥

२८४. जब तक किसी मनुष्य द्वारा नारी में उद्भूत अणुमात्र वासना को काटा नहीं जाता; तब तक जैसे दूध पीने वाला बछड़ा अपनी माता गौ में आसक्त रहता है, उसी तरह उस मनुष्य का मन उस स्त्री में बँधा रहता है॥

●

९. सुवर्णकार स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

२८५. जिस प्रकार मनुष्य शरदृतु के पुष्पों को काट डालता है, उसी प्रकार संसार में उपस्थित अपने स्नेह को काट डालो। शान्तिपथ पर आगे बढ़ते चलो, जो कि सुगत द्वारा उपदिष्ट 'निर्वाण' है॥

●

१०. किसी महाधन वणिक् को : : श्रावस्ती के जेतवन में

२८६. "यहाँ वर्षाऋतु में वास करूँगा, यहाँ हेमन्त एवं ग्रीष्मऋतु में वास करूँगा"—मूर्ख मनुष्य इसी तरह सोचता रह जाता है; परन्तु वह इसी बीच अपने जीवन पर आने वाले सङ्कटों पर ध्यान नहीं देता॥

●

११. किसं गोतमिं आरब्भ

तं पुत्तपसुसम्मत्तं, ब्यासत्तमनसं नरं। [N.44]
सुत्तं गामं महोघो व, मच्चु आदाय गच्छति॥ २८७॥

१२. पटाचारं साविकं आरब्भ

न सन्ति पुत्ता ताणाय, न पिता ना पि बन्धवा।
अन्तकेनाधिपन्नस्स, नत्थि ञातीसु ताणता॥ २८८॥
एतमत्थवसं ञत्वा, पण्डितो सीलसंवुतो।
निब्बानगमनं मग्गं, खिप्पमेव विसोधये॥ २८९॥ ●

मग्गवग्गो निट्ठितो॥



---

११. कृशा गौतमी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

२८७. जिस प्रकार सोये हुए ग्राम को विशाल जलप्रवाह (औघ) बहा ले जाता है, उसी प्रकार पुत्र, पशु एवं धन में व्यासक्त मन वाले पुरुष को मृत्यु घसीट कर ले जाती है॥ ●

१२. पटाचारा थेरी को : : श्रावस्ती के जेतवन में

२८८. मृत्यु द्वारा गृहीत पुरुष की रक्षा करने के लिये न उसके पिता में, न पुत्र में, न उसके अन्य सम्बन्धी जनों में, न बन्धु बान्धवों में ही कोई सामर्थ्य है॥

२८९. इस बात को जान कर, बुद्धिमान् पुरुष को शीलसम्पन्न रहते हुए निर्वाणगामी मार्ग का शोधन शीघ्र से शीघ्र कर लेना चाहिये॥ ●

मार्गवर्ग बीसवाँ समाप्त॥



२१. पकिण्णकवग्गो एकवीसतिमो

१. अत्तनो पुब्बकम्मं आरब्भ

मत्तासुखपरिच्चागा, पस्से चे विपुलं सुखं। [B.55]
चजे मत्तासुखं धीरो, सम्पस्सं विपुलं सुखं॥ २९०॥

२. कुक्कुटाण्डखादिकं आरब्भ

परदुक्खूपधानेन, अत्तनो सुखमिच्छति।
वेरसंसग्गसंसट्ठो, वेरा सो न परिमुच्चति॥ २९१॥

३. भद्दियं भिक्खुं आरब्भ

यं हि किच्चं अपविद्धं, अकिच्चं पन कयिरति।
उन्नळानं पमत्तानं, तेसं वड्ढन्ति आसवा॥ २९२॥
येसं च सुसमारद्धा, निच्चं कायगता सति। [R.66]
अकिच्चं ते न सेवन्ति, किच्चे सातच्चकारिनो।
सतानं सम्पजानानं, अत्थं गच्छन्ति आसवा॥ २९३॥

---

२१. प्रकीर्णकवर्ग इक्कीसवाँ

१. भगवान् का स्वकर्म : : राजगृह, वेणुवन में

२९०. यदि मनुष्य को अपने अल्प सुख के परित्याग से अधिक सुख की आशा दिखायी दे, तो उस धैर्यवान् पुरुष को अपना वह अल्प सुख, विपुल सुख की आशा में, त्याग देना चाहिये॥ ●

२. कुक्कुट-अण्डखादिका को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२९१. दूसरों की दुःखप्राप्ति का कारण बन कर जो मनुष्य अपने सुख की इच्छा करता है, ऐसा वैर से सम्पृक्त पुरुष कभी वैर से मुक्त नहीं हो पाता॥ ●

३. भद्रिय भिक्षु को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२९२. जो तुम्हारा कर्तव्य कर्म था उसको तुमने छोड़ दिया, जो तुम्हारे लिये अकरणीय था, उसे करने में तुम उत्सुकता दिखा रहे हो। ऐसे प्रवृद्ध चित्तविकार (मल) वाले, प्रमत्त पुरुषों के आश्रव बढ़ते ही रहते हैं॥

२९३. इसके विपरीत, जिन साधकों की स्मृति इस अशुभ शरीर के प्रति सदा बनी रहती है, ऐसे साधक उन अकरणीय कर्तव्यों के प्रति आँख भी नहीं उठाते, तथा करणीय कर्मों के विधान में निरन्तर ध्यान लगाये रहते हैं। ऐसे स्मृतिमान् एवं सावधान (सचेत) साधकों के आश्रव (चित्तविकार) बढ़ते ही रहते हैं॥ ●

४. लकुण्टकभद्दियं थेरं आरब्भ

मातरं पितरं हन्त्वा, राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा, अनीघो याति ब्राह्मणो॥ २९४॥
मातरं पितरं हन्त्वा, राजानो द्वे च सोत्थिये।
वेयग्घपञ्चमं हन्त्वा, अनीघो याति ब्राह्मणो॥ २९५॥

५. दारुसाकटिकपुत्तं आरब्भ

सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं बुद्धगता सति॥ २९६॥
सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं धम्मगता सति॥ २९७॥
सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका। [B.56]
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं सङ्घगता सति॥ २९८॥
सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका। [N.45]
येसं दिवा च रत्तो च, निच्चं कायगता सति॥ २९९॥

---

४. लकुण्टकभद्रिय स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

२९४. (गाथा का साधारण अर्थ—) माता पिता को, दो क्षत्रिय, राजाओं को तथा अधिकारियों सहित समस्त राष्ट्र को पाँचवें एक व्याघ्र को मार (विनष्ट) कर वह भिक्षु क्षीणाश्रव बन कर जा रहा है॥

२९५. (गाथा का गुह्यार्थ—) तृष्णारूप माता तथा अस्मिमानरूप पिता को मार कर, शाश्वतदृष्टि एवं उच्छेददृष्टि रूप दो क्षत्रिय या दो राजाओं को मार कर यह ब्राह्मण उक्त तृष्णादि को अर्हत्त्वमार्गज्ञानरूप खड्ग से मार कर क्षीणाश्रव (निर्वाणप्राप्त=निर्दु:ख) होकर जा रहा है॥

५. दारुशाकटिक के पुत्र को : : राजगृह, वेणुवन में

२९६. जिन साधकों की स्मृति दिनरात (चौबीस घण्टे) **बुद्धविषयक** बनी रहती है, ऐसे वे गौतम (बुद्ध) के शिष्य सदैव सावधान (=प्रबुद्ध) होकर रहते हैं॥

२९७. जिन साधकों की स्मृति दिनरात (चौबीस घण्टे) **धर्मविषयक** बनी रहती है, ऐसे वे...पूर्ववत्...होकर रहते हैं॥

२९८. जिन साधकों की स्मृति दिनरात (चौबीस घण्टे) **सङ्घविषयक** बनी रहती है, ऐसे वे...पूर्ववत्...होकर रहते हैं॥

२९९. जिन साधकों की स्मृति दिनरात (चौबीस घण्टे) **कायगत** (शरीरगत) बनी रहती है, ऐसे वे...पूर्ववत्...होकर रहते हैं॥

सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, अहिंसाय रतो मनो॥ ३००॥
सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति, सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च, भावनाय रतो मनो॥ ३०१॥

६. वज्जिपुत्तकं भिक्खुं आरब्भ

दुप्पब्बज्जं दुरभिरमं, दुरावासा घरा दुखा।
दुक्खोसमानसंवासो, दुक्खानुपतितद्धगू।
तस्मा न चद्धगू सिया, न च दुक्खानुपतितो सिया॥ ३०२॥

७. चित्तं गहपतिं आरब्भ

सद्धो सीलेन सम्पन्नो, यसोभोगसमप्पितो।
यं यं पदेसं भजति, तत्थ तत्थेव पूजितो॥ ३०३॥

८. चूळसुभद्दं धीतरं आरब्भ

दूरे सन्तो पकासेन्ति, हिमवन्तो व पब्बतो।
असन्तेत्थ न दिस्सन्ति, रत्तिं खित्ता यथा सरा॥ ३०४॥

---

३००. जिन साधकों की स्मृति दिनरात (चौबीस घण्टे) **अहिंसारत** रहती है, ऐसे वे...पूर्ववत्...होकर रहते हैं॥

३०१. जिन साधकों की स्मृति दिनरात (चौबीस घण्टे) **मैत्री आदि चारों भावनाओं** में रहती है, ऐसे वे गौतम (बुद्ध) के शिष्य सदैव सावधान होकर रहते हैं॥

६. वृजिपुत्रक भिक्षु को : : वैशाली के महावन में

३०२. संसार में (आकर) प्रव्रजित होना बहुत कठिन है। इसी तरह न रहने योग्य घर में रहना भी कठिन है। असमान स्वभाव वालों के साथ रहना तो इससे भी अधिक कठिन है। निरन्तर यात्रा करना और भी कठिन है। अतः स्वहितैषी पुरुष न निरन्तर यात्रा करे, न निरन्तर दुष्कर कार्य ही करे॥

७. चित्त गृहपति को : : श्रावस्ती, जेतवन में

३०३. रत्नत्रय के प्रति श्रद्धालु एवं शीलसम्पन्न तथा यश ऐश्वर्य आदि से युक्त पुरुष जहाँ जहाँ, जिस जिस स्थान में जाता है, वहाँ वहाँ उसे पूजा एवं लाभ सत्कार उपलब्ध होते ही रहते हैं॥

८. चूळसुभद्रा(अनाथपिण्डिकपुत्री)को : : श्रावस्ती, जेतवन में

३०४. सत्पुरुष हिमालय पर्वत के समान दूर से भी प्रकाशित होते (दिखायी देते) रहते हैं। तथा असज्जन रात्रि में फेंके गये वाण के समान, समीप होने पर भी, नहीं दिखायी देते॥

९. एकविहारित्थेरं आरब्भ

एकासनं एकसेय्यं, एको चरमतन्दितो। [R.68]
एको दमयमत्तानं, वनन्ते रमितो सिया॥ ३०५॥ ●

पकिण्णकवग्गो निट्ठितो॥



२२. निरयवग्गो बावीसतिमो

१. सुन्दरिं परिब्बाजिकं आरब्भ

अभूतवादी निरयं उपेति, यो वा पि कत्वा न करोमि चाह। [B.57]
उभो पि ते पेच्च समा भवन्ति, निहीनकम्मा मनुजा परत्थ॥ ३०६॥

२. दुच्चरितफलपीडितं आरब्भ

कासावकण्ठा बहवो, पापधम्मा असञ्ञता।
पापा पापेहि कम्मेहि, निरयं ते उपपज्जरे॥ ३०७॥

३. वग्गुमुदातीरियं भिक्खुं आरब्भ

सेय्यो अयोगुळो भुत्तो, तत्तो अग्गिसिखूपमो।
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो, रट्ठपिण्डमसञ्ञतो॥ ३०८॥

---

९. एकविहारी स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

३०५. एक ही आसन से निश्चल बैठने वाला, एक ही शयनासन का उपयोग करने वाला, एकाकी विचरण करने वाला, आलस्यरहित होकर आत्मसंयम रखने वाला साधक भिक्षु वन के किसी एकान्त प्रदेश में साधना करे॥ ●

प्रकीर्णकवर्ग इक्कीसवाँ समाप्त॥



२२. निरयवर्ग बाईसवाँ

१. सुन्दरी परिव्राजि के विषय में : : श्रावस्ती, जेतवन में

३०६. असत्य बोलने वाला नरक में गिरता है। तथा वह भी नरक में पहुँचता है जो कोई पापकर्म किया होने पर भी पूछने पर कहता है कि यह मैने नहीं किया। ये दोनों ही प्रकार के नीच (पाप) कर्मकर्ता पुरुष, मरणानन्तर, उस (नरक) लोक में समान दुःखभोक्ता बन जाते हैं॥ ●

२. किसी दुश्चरित फल से पीड़ित को : : राजगृह, वेणुवन में

३०७. बहुत से भिक्षु काषाय वस्त्र गले में डाले हुए (पहन कर) निरन्तर पापकर्म में रत रहते हैं, तथा उनका अपनी इन्द्रियों तथा काया पर कोई संयम नहीं होता। ऐसे पापी, अपने पापकर्मों के कारण, (यहाँ से देहपात के बाद) सीधे नरक में ही जा गिरते हैं॥ ●

४. खेमकं सेट्ठिपुत्तं आरब्भ

चत्तारि ठानानि नरो पमत्तो, आपज्जति परदारूपसेवी।
अपुञ्ञलाभं, न निकामसेय्यं, निन्दं ततीयं, निरयं चतुत्थं॥ ३०९ ॥ [N.46]
अपुञ्ञलाभो च, गती च पापिका, भीतस्स भीताय रती च थोकिका।
राजा च दण्डं गरुकं पणेति, तस्मा नरो परदारं न सेवे॥ ३१० ॥

५. दुब्बचं भिक्खुं आरब्भ

कुसो यथा दुग्गहितो, हत्थमेवानुकन्तति।
सामञ्ञं दुप्परामट्ठं, निरयायुपकड्ढति॥ ३११ ॥
यं किञ्चि सिथिलं कम्मं, सङ्किलिट्ठं च यं वतं। [R.70, B.58]
सङ्कस्सरं ब्रह्मचरियं, न तं होति महप्फलं॥ ३१२ ॥
कयिरा च कयिराथेनं, दळ्हमेतं परक्कमे।
सिथिलो हि परिब्बाजो, भिय्यो आकिरते रजं॥ ३१३ ॥

---

३. वल्गुमुदानदी-तटवासी भिक्षु को : : वैशाली के महावन में

३०८. दुराचारी तथा असंयमी पुरुष के लिये राष्ट्र का अन्न खाने की अपेक्षा लोहे का उष्ण गोलक (गोला) मुख में रख लेना अधिक श्रेयस्कर है॥

●

४. अनाथपिण्डिकश्रेष्ठिपुत्र क्षेमक को : : श्रावस्ती, जेतवन में

३०९. परदारगमन करने वाला चरित्रहीन प्रमादी पुरुष चार स्थानों (दोषों) से ग्रस्त हो जाता है—१. उसे इस कर्म से अपुण्य (पाप) मिलता है, २. वह सुविधापूर्वक सो नहीं पाता, ३. इस कुकृत्य से उसकी निन्दा होती है, एवं ४. इस अपराध के कारण, इस देहपात के बाद, उसका अन्त में नरक में गिरना अवश्यम्भावी है॥

३१०. इस पापकर्म के अन्य चार दोष ये भी हैं—१. अपुण्य लाभ, २. पापमय गति, ३. भयभीत पुरुष की भय से पीड़ित स्त्री से अल्पतम सुख की प्राप्ति एवं ४. इस अपराध के कारण राजदण्ड का भय। अतः बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि वह परायी स्त्री से कदापि सहवास न करे॥

●

५. किसी दुर्वचस् (मुँहफट) भिक्षु को : : श्रावस्ती, जेतवन में

३११. जिस प्रकार भली भाँति न पकड़ा हुआ कुश (तृणविशेष) हाथ को ही काट डालता है, उसी प्रकार अनभ्यस्त (दुष्परामृष्ट) श्रमणभाव (भिक्षुत्व) भी साधक को नरक की ओर ही खींच ले जाता है॥

३१२. जो कार्य शिथिलता से किया जाता है, तथा जो व्रत क्लेशयुक्त है, एवं जो धर्मसाधना (ब्रह्मचर्य) अशुद्ध है—इन तीनों ही कर्मों का फल अधिक (अच्छा) नहीं मिल पाता॥

६. इस्सापकतिकं इत्थिं आरब्भ

अकतं दुक्कटं सेय्यो, पच्छा तप्पति दुक्कटं।
कतं च सुकतं सेय्यो, यं कत्वा नानुतप्पति॥ ३१४॥

७. सम्बहुले आगन्तुके भिक्खू आरब्भ

नगरं यथा पच्चन्तं, गुत्तं सन्तरबाहिरं।
एवं गोपेथ अत्तानं, खणो वो मा उपच्चगा।
खणातीता हि सोचन्ति, निरयम्हि समप्पिता॥ ३१५॥

८. निगण्ठे आरब्भ

अलज्जिताये लज्जन्ति, लज्जिताये न लज्जरे।
मिच्छादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं॥ ३१६॥
अभये भयदस्सिनो, भये चाभयदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं॥ ३१७॥

९. तित्थियसावके आरब्भ

अवज्जे वज्जमतिनो, वज्जे चावज्जदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं॥ ३१८॥

---

३१३. यदि कोई कार्य करना है तो उसे सङ्कल्पपूर्वक करे तथा उसे दृढ़तापूर्वक सम्पन्न कर डाले। शिथिल परिव्राजक, अपनी शिथिलता के कारण, अपने श्रमणभाव पर धूल (कलङ्क) ही विखेरता है!॥ ●

६. किसी ईर्ष्यालु स्त्री को : : श्रावस्ती, जेतवन में

३१४. कोई दुष्कर्म न किया जाय तो अच्छा ही है; क्योंकि कृत दुष्कर्म के लिये बाद में पश्चात्ताप ही करना पड़ता है। अथ च, किया हुआ सत्कर्म ही उचित कहलाता है; क्योंकि उसके करने के बाद, किसी तरह का पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता॥ ●

७. बहुत से भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

३१५. जिस प्रकार सीमान्त स्थित नगर की बाह्य एवं आभ्यन्तर रक्षा की जाती है, इसी प्रकार साधक को स्वकीय आत्मरक्षा करनी चाहिये। इसमें उसको क्षणमात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। उचित समय को उपयोग में न लेने वाले साधक दुष्कर्मों के चक्र में पड़ कर अन्त में नरकगामी ही होते हैं॥ ●

८. निगण्ठों (जैन साधुओं) के विषय में : : श्रावस्ती, जेतवन में

३१६. जो अलज्जायोग्य कर्मों से लज्जा करते हैं तथा लज्जायोग्य कार्यों से भय नहीं मानते, एवं मिथ्यादृष्टि धारण करने वाले ये प्राणी (अन्त में) दुर्गति ही प्राप्त करते हैं॥

वज्जं च वज्जतो ञत्वा, अवज्जं च अवज्जतो।
सम्मादिट्ठिसमादाना, सत्ता गच्छन्ति सुग्गतिं॥ ३१९॥ ●



निरयवग्गो निट्ठितो॥

२३. नागवग्गो तेवीसतिमो

१. अत्तानं आरब्भ

अहं नागो व सङ्गामे, चापतो पतितं सरं। [N 47, B.59]
अतिवाक्यं तितिक्खिस्सं, दुस्सीलो हि बहुज्जनो॥ ३२०॥
दन्तं नयन्ति समितिं, दन्तं राजाभिरूहति। [R.72]
दन्तो सेट्ठो मनुस्सेसु, योतिवाक्यं तितिक्खति॥ ३२१॥
वरमस्सतरा दन्ता, आजानीया च सिन्धवा।
कुञ्जरा च महानागा, अत्तदन्तो ततो वरं॥ ३२२॥

---

३१७. जो भयरहित कार्यों में भय मानते हैं, तथा भयजनक कार्यों में भय नहीं देखते, ऐसे मिथ्यादृष्टि धारण करने वाले ये प्राणी (अन्त में) दुर्गति को ही प्राप्त होते हैं॥ ●

९. अन्यतीर्थिक श्रावकों को : : श्रावस्ती, जेतवन में

३१८. जो निर्दोष कार्य में दोषबुद्धि रखते हैं तथा सदोष कार्यों को दोषरहित समझते हैं, यों मिथ्यादृष्टि धारण करने वाले ये प्राणी (अन्त में) दुर्गति को ही प्राप्त होते हैं॥

३१९. परन्तु जो दोषयुक्त कार्य को दोषयुक्त तथा निर्दोष कार्य दोषरहित समझते हैं, यों वे उनके प्रति सम्यग्दृष्टि (उचित धारणा) बनाते हैं; वैसे प्राणियों की (अन्त में) सद्गति ही होती है॥ ●



निरयवर्ग बाईसवाँ समाप्त॥

२३. नागवर्ग तेईसवाँ

१. आत्मसंयम के विषय में : : कौशाम्बी में

३२०. जैसे कोई गजराज युद्ध में चारों ओर से छोड़े गये बाणों का प्रहार सहन करता है; उसी प्रकार मैं इन नागरिकों द्वारा कथित कटुवाक्यों को सहन करूँगा; क्योंकि यहाँ दुष्ट जन ही अधिक दिखायी दे रहे हैं॥

३२१. योद्धा लोग युद्ध में सुशिक्षित हाथी का ही उपयोग करते हैं; राजा लोग भी सुशिक्षित हाथी पर ही आरोहण (सवारी) करते हैं; इसी तरह मनुष्यों में भी आत्मनियन्त्रण रखने वाला ही श्रेष्ठ कहलाता है, जो दुष्ट पुरुषों द्वारा प्रयुक्त कटु वाक्य सुनने का अभ्यस्त हो॥

२. हत्थाचरियपुब्बकं भिक्खुं आरब्भ

न हि एतेहि यानेहि, गच्छेय्य अगतं दिसं।
यथात्तना सुदन्तेन, दन्तो दन्तेन गच्छति॥ ३२३॥

३. परिजिण्णं ब्राह्मणपुत्तकं आरब्भ

धनपालो नाम कुञ्जरो, कटुकभेदनो दुन्निवारयो।
बद्धो कबळं न भुञ्जति, सुमरति नागवनस्स कुञ्जरो॥ ३२४॥

४. पसेनदिकोसलं राजानं आरब्भ

मिद्धी यदा होति महग्घसो च, निद्दायिता सम्परिवत्तसायी।
महावराहो व निवापपुट्ठो, पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो॥ ३२५॥

५. सानुं सामणेरं आरब्भ

इदं पुरे चित्तमचारि चारिकं, येनिच्छकं यत्थकामं यथासुखं। [B.60]
तदज्जहं निग्गहेस्सामि योनिसो, हत्थिप्पभिन्नं विय अङ्कुसग्गहो॥ ३२६॥

---

३२२. सुशिक्षित खच्चर, सिन्धु देश के अश्व, तथा सुशिक्षित गज ही श्रेष्ठ कहलाते हैं; परन्तु इनसे भी श्रेष्ठ होता है आत्मसंयमी साधक पुरुष॥ ●

२. हस्त्याचार्यपूर्वक भिक्षु को : : श्रावस्ती, जेतवन में

३२३. इन लौकिक यानों से मनुष्य न जानी पहचानी हुई दिशा में (अगतपुब्ब) नहीं जा सकता। वहाँ तो आत्मसंयमी पुरुष ही भले प्रकार किये गये आत्मसंयम से वहाँ तक पहुँच सकता है॥ ●

३. किसी अतिवृद्ध ब्राह्मण को : : श्रावस्ती, जेतवन में (या?)

३२४. तीक्ष्ण मद वाला होने के कारण किसी के वश में न आने वाला यह धनपालक नाम का हाथी आज बन्धन में बँध जाने पर एक ग्रास भी भोजन नहीं खाता, अपितु केवल हाथियों से भरे अपने उस वन को ही स्मरण करता है॥ ●

४. राजा प्रसेनजित् कौशल को : : श्रावस्ती के जेतवन में

३२५. जब मनुष्य आलसी बन जाता है, तथा अधिक खाने वाला हो जाता है, निद्रा (तन्द्रा) अभिभूत रहता है, करवटें बदलता रहता है, फिर भी उसको निद्रा नहीं आती; तब वह मूर्ख, घर में खाकर मोटे हुए पालित शूकर के समान, यहाँ बार बार जन्म लेता रहता है॥ ●

५. सानु श्रामणेर को : : जेतवन श्रावस्ती में

३२६. यह मेरा चित्त पहले स्वेच्छया अपनी कामनाओं तथा सुखों के अनुसार विचरण करता रहा। परन्तु मैं आज उसी तरह अपने इस चित्त को यथार्थतः निगृहीत करूँगा जैसे अंकुश ग्रहण करने वाला हस्तिशिक्षक उन्मत्त हाथी को पकड़ लेता है॥ ●

६. पावेय्यकं हत्थिं आरब्भ

अप्पमादरता होथ, स्चित्तमनुरक्खथ।
दुग्गा उद्धरथत्तानं, पङ्के सन्नो व कुञ्जरो॥ ३२७॥

७. सम्बहुले भिक्खू आरब्भ

सचे लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
अभिभुय्य सब्बानि परिस्सयानि, चरेय्य तेनत्तमनो सतीमा॥ ३२८॥
नो चे लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं। [N.48]
राजा व रट्ठं विजितं पहाय, एको चरे मातङ्गरञ्ञे व नागो॥ ३२९॥
एकस्स चरितं सेय्यो, नत्थि बाले सहायता। [R.74]
एको चरे न च पापानि कयिरा, अप्पोस्सुक्को मातङ्गरञ्ञे व नागो॥ ३३०॥

८. पापिं मारं आरब्भ

अत्थम्हि जातम्हि सुखा सहाया, तुट्ठी सुखा या इतरीतरेन।
पुञ्ञं सुखं जीवितसङ्खयम्हि, सब्बस्स दुक्खस्स सुखं पहानं॥ ३३१॥

---

६. पावेयक हाथी के विषय में : : श्रावस्ती के जेतवन में

३२७. तुम अप्रमादयुक्त (सावधान) बनो। स्वचित्त की रक्षा करो। जैसे कर्दम (कीचड़=दलदल) में फँसा हुआ हाथी उससे अपना उद्धार कर ले गया, उसी प्रकार तुम क्लेशों की कठिनाइयों से अपने को निकालो॥

•

७. बहुत से भिक्षुओं को : : पारिलेयक वन में

३२८. यदि साधक को परिपक्व बुद्धि वाला सहायक मिल जाय जो साधना में साथ साथ रहे, साधुता से आचरण करे, धैर्यवान् हो, सभी बाह्य एवं आभ्यन्तर परिश्रयों (सङ्कटों) को हटा कर सचेत एवं सावधान होकर प्रसन्न मन से साथ साथ विचरण करे॥

३२९. परन्तु साधक को उपर्युक्त गुणसम्पन्न सहायक न मिले तो भी वह जैसे कोई राजा अपने हारे हुए राष्ट्र को छोड़ कर चला जाता है, वैसे ही, या कोई हाथी जैसे नागवन में एकाकी विचरण करता है, एकाकी ही विचरण (साधना) करे॥

३३०. साधक का एकाकी रह कर साधना करना ही श्रेयस्कर (उत्तम) है। साधना में किसी मूर्ख की सहायता लेना श्रेयस्कर नहीं होता। साधक को तो एकाकी ही विचरण करना चाहिये तथा पापकर्मों से दूर रहना चाहिये। जैसे कोई हाथी नागवन में एकाकी विचरण करता है उसी प्रकार साधक को पापकर्मों से दूर रहते हुए तथा सांसारिक कर्मों में कम ही आसक्ति रखते हुए साधनारत रहना चाहिये॥

•

८. पापी मार के प्रति : : हिमालय की किसी अरण्यकुटी में

३३१. अवसर पड़ने पर जो साथ दे वही सुखदायी सहायक है। परस्परसापेक्ष जिस

सुखा मत्तेय्यता लोके, अथो पेत्तेय्यता सुखा। [B.61]
सुखा सामञ्ञता लोके, अथो ब्रह्मञ्ञता सुखा॥ ३३२॥
सुखं याव जरा सीलं, सुखा सद्धा पतिट्ठिता।
सुखो पञ्ञाय पटिलाभो, पापानं अकरणं सुखं॥ ३३३॥ ●



नागवग्गो निट्ठितो॥

२४. तण्हावग्गो चतुवीसतिमो

१. कपिलमच्छं आरब्भ

मनुजस्स पमत्तचारिनो, तण्हा वड्ढति मालुवा विय।
सो प्लवती हुरा हुरं, फलमिच्छं व वनस्मि वानरो॥ ३३४॥
यं एसा सहते जम्मी, तण्हा लोके विसत्तिका।
सोका तस्स पवड्ढन्ति, अभिवट्ठं व बीरणं॥ ३३५॥
यो चेतं सहते जम्मिं, तण्हं लोके दुरच्चयं।
सोका तम्हा पपतन्ति, उदबिन्दू व पोक्खरा॥ ३३६॥

पदार्थ की प्राप्ति से जो सन्तोष हो वही सुखकर है। जीवन का क्षय होते समय पूर्वकृत पुण्य ही सुखदायी होते हैं, तथा सर्वदुःखप्रहाण (निर्वाण) ही सर्वोत्तम सुख है॥

३३२. संसार में माता बनना सुखकारी है, पिता बनना भी सुखकारी है। समानता (प्रव्रजित का सब प्राणियों में समान भाव रखना) सुखदायी है। तथा ब्राह्मण्य (**सुत्तनिपात** में निर्दिष्ट ब्राह्मण-धर्मों का पालन) भी सुखदायी होता है॥

३३३. वृद्धावस्थापर्यन्त शील (सदाचार) का पालन, अपने में प्रतिष्ठित श्रद्धा एवं प्रज्ञा का लाभ, तथा पाप का न करना सर्वदा सुखकारी होता है॥ ●



नागवर्ग तेईसवाँ समाप्त॥

२४. तृष्णावर्ग चौबीसवाँ

१. कपिलमत्स्य को : : **श्रावस्ती, जेतवन में**

३३४. प्रमत्त होकर आचरण करने वाले पुरुष की तृष्णा, मालुवा लता के समान, बढ़ती ही रहती है। ऐसा पुरुष, वन में फल की इच्छा रखने वाले वानर के समान, दिनों दिन इधर उधर भटकता ही रहता है॥

३३५. यह संसार में निरन्तर जन्म लेने की तृष्णा जिस पुरुष को आवृत कर लेती है, उसके सांसारिक दुःख उसी प्रकार बढ़ते रहते हैं जैसे जङ्गल में वीरण घास बढ़ती रहती है॥

तं वो वदामि भद्दं वो, यावन्तेत्थ समागता।
तण्हाय मूलं खणथ, उसीरत्थो व बीरणं।
मा वो नळं व सोतो व, मारो भञ्जि पुनप्पुनं॥ ३३७॥

२. गूथसूकरपोतिकं आरब्भ

यथा पि मूले अनुपद्दवे दळ्हे, [N.49, B.62, R.76]
छिन्नो पि रुक्खो पुनरेव रूहति।
एवं पि तण्हानुसये अनूहते,
निब्बत्तती दुक्खमिदं पुनप्पुनं॥ ३३८॥

यस्स छत्तिंसति सोता, मनापसवना भुसा।
बाहा वहन्ति दुद्दिट्ठिं, सङ्कप्पा रागनिस्सिता॥ ३३९॥

सवन्ति सब्बधि सोता, लता उब्भिज्ज तिट्ठति।
तं च दिस्वा लतं जातं, मूलं पञ्ञाय छिन्दथ॥ ३४०॥

सरितानि सिनेहितानि च, सोमनस्सानि भवन्ति जन्तुनो।
ते सातसिता सुखेसिनो, ते वे जातिजरूपगा नरा॥ ३४१॥

---

३३६. जो संयमी पुरुष इस निरन्तर जन्मते रहने वाली दुस्त्यज तृष्णा को परास्त कर देता है, उसके सांसारिक दुःख उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे कमलपत्र से जलबिन्दु नीचे गिर कर नष्ट हो जाता है॥

३३७. अतः मैं आप लोगों से, जो भी इस धर्मपरिषद् में उपस्थित हैं, सभी से यह कहता हूँ कि आप लोगों का कल्याण हो। तुम लोग अपनी इस तृष्णा की जड़ इसी तरह खोद डालो, जिस प्रकार खस को चाहने वाला वीरण घास को खोद डालता है। तृष्णा के वशीभूत तुम सबको यह मार उसी तरह नष्ट न कर दे, जैसे जल का प्रवाह मृणाल को बार बार नष्ट कर दिया करता है॥

२. गूथशूकरपुत्री को : : राजगृह, वेणुवन में

३३८. जैसे मूल (जड़) के दृढ़ तथा स्थिर होने से कटा हुआ वृक्ष भी पुनः वृद्धिङ्गत हो जाता है, उसी प्रकार तृष्णा के संस्कारों के नष्ट न होने से ये सांसारिक दुःख बार बार आते रहते हैं॥

३३९. जिसकी तृष्णा के ३६ स्रोत प्रिय (मनाप) वस्तुओं की तरफ बहते रहते हैं, राग से निःसृत सङ्कल्प उस मिथ्यादृष्टि मनुष्य को जलप्रवाह के समान बहा ले जाते हैं॥

३४०. तृष्णा के स्रोत सब तरफ बहते रहते हैं, जैसे लता उत्पन्न होकर स्थिर हो जाती है। उस उत्पन्न लता को देख कर प्रज्ञा के साधन (उपाय) से उसकी जड़ को छिन्न भिन्न कर डालें॥

तसिणाय पुरक्खता पजा, परिसप्पन्ति ससो व बन्धितो।
संयोजनसङ्गसत्तका, दुक्खमुपेन्ति पुनप्पुनं चिराय॥ ३४२॥
तसिणाय पुरक्खता पजा, परिसप्पन्ति ससो व बन्धितो।
तस्मा तसिणं विनोदये, आकङ्खन्त विरागमत्तनो॥ ३४३॥

३. विब्भन्तं भिक्खुं आरब्भ

यो निब्बनथो वनाधिमुत्तो, वनमुत्तो वनमेव धावति।
तं पुग्गलमेथ पस्सथ, मुत्तो बन्धनमेव धावति॥ ३४४॥

४. बन्धनागारं आरब्भ

न तं दळ्हं बन्धनमाहु धीरा, यदायसं दारुजं बब्बजं च। [B.63]
सारत्तरत्ता मणिकुण्डलेसु, पुत्तेसु दारेसु च या अपेक्खा॥ ३४५॥ [N.50]
एतं दळ्हं बन्धनमाहु धीरा, ओहारिनं सिथिलं दुप्पमुञ्चं। [R.78]
एतं पि छेत्वान परिब्बजन्ति, अनपेक्खिनो कामसुखं पहाय॥ ३४६॥

---

३४१. तृष्णा की नदियाँ इतनी स्निग्ध होती हैं कि वे प्राणियों के चित्त को अनायास ही अपने वश में कर लेती हैं। जो मनुष्य सुख की खोज में निकल कर इन नदियों के प्रवाह में पड़े रहते हैं वे जन्मजराचक्र से कभी नहीं निकल सकते॥

३४२. तृष्णा के पीछे दौड़ने वाले प्राणी, बन्धे हुए खरगोश के समान एक निश्चित स्थान पर ही चक्कर काटते रहते हैं। ऐसे बन्धनों में फँसे हुए लोग चिरकाल तक पुनः पुनः दुःखभोग के लिये ही अग्रसर होते रहते हैं॥

३४३. इस तृष्णा के पीछे चलने वाले प्राणी, बन्धे हुए खरगोशों की तरह उसके आस पास ही चक्कर लगाते रहते हैं। अतः अपने लिये वैराग्य की आकांक्षा करने वाले साधक को इस तृष्णा को स्वचित्त से दूर करना चाहिये॥ •

३. एक विभ्रान्त (परित्यक्तशासन) भिक्षु को : : राजगृह के वेणुवन में

३४४. जो तृष्णा (वन) के बन्धन से छूट जाता है, तथा इस तृष्णा के वन से छूट कर पुनः उसी वन की ओर दौड़ता है। उस मनुष्य को देखो जो मुक्त होकर भी पुनः बन्धन की ओर दौड़ लगा रहा है॥ •

४. बन्धनागार को लक्ष्य कर : : श्रावस्ती, जेतवन में

३४५. धैर्यवान् पुरुष उसको दृढ़ बन्धन नहीं कहते जो लौहनिर्मित या काष्ठनिर्मित हो, या मुञ्ज (रस्सी से) निर्मित हो। वस्तुतः धन, रत्न, मणि, कुण्डल (आभूषण), पुत्र तथा स्त्री में आसक्ति होना ही दृढतम बन्धन है॥

३४६. वे धैर्यवान् पण्डित जन उसे ही दृढ़ बन्धन कहते हैं जो नीचे (अधोगति) की ओर ले जाने वाला है, जो देखने में शिथिल है, परन्तु कठिनता से टूट पाता है। संसार में

५. खेमं थेरिं आरब्भ

ये रागरत्तानुपतन्ति सोतं, सयङ्कतं मक्कटको व जालं।
एतं पि छेत्वान वजन्ति धीरा, अनपेक्खिनो सब्बदुक्खं पहाय॥ ३४७॥

६. उग्गसेनं आरब्भ

मुञ्च पुरे मुञ्च पच्छतो, मज्झे मुञ्च भवस्स पारगू।
सब्बत्थ विमुत्तमानसो, न पुनं जातिजरं उपेहिसि॥ ३४८॥

७. चूळधनुग्गहपण्डितं आरब्भ

वितक्कमथितस्स जन्तुनो, तिब्बरागस्स सुभानुपस्सिनो।
भिय्यो तण्हा पवड्ढति, एस खो दळ्हं करोति बन्धनं॥ ३४९॥
वितक्कूपसमे च यो रतो, असुभं भावयते सदा सतो। [B.64]
एस खो ब्यन्ति काहिति, एस छेच्छति मारबन्धनं॥ ३५०॥

८. मारं आरब्भ

निट्ठङ्गतो असन्तासी, वीततण्हो अनङ्गणो।
अच्छिन्दि भवसल्लानि, अन्तिमोयं समुस्सयो॥ ३५१॥

निःस्पृह जन इसे भी तोड़ कर तथा कामसुखों से विरक्त होकर अन्त में संसार से मुँह मोड़ कर प्रव्रज्या ले लेते हैं॥
●

५. क्षेमा स्थविरा को : : श्रावस्ती, जेतवन में

३४७. जो पुरुष राग में अनुरक्त हैं, वे तृष्णा के स्रोत में उसी तरह जा पड़ते हैं जैसे मकड़ी स्वयं के बनाये जाल में फँस जाया करती है। हाँ, निःस्पृह (विरक्त) एवं धैर्यवान् साधक इस तृष्णाजाल को भी काट कर तथा सभी दुःखों का परित्याग कर संसार से उदासीन हो जाते हैं॥
●

६. उग्रसेन नटपुत्र को : : राजगृह के वेणुवन में

३४८. भूत, भविष्य, वर्तमान के बन्धन त्याग दो। तथा इस भवसागर के पार चले जाओ। जब तुम्हारा मन सब ओर से मुक्त हो जायगा तब तुम्हें ये जन्म जरा आदि धर्म पीड़ित नहीं करेंगे॥
●

७. चूड़धनुर्ग्रह पण्डित को : : श्रावस्ती के जेतवन में

३४९. जो प्राणी सन्देहजाल (तर्कवितर्क) में फँसा हुआ है, जो तीव्र राग में आसक्त है, जो सांसारिक वस्तुओं में शुभ भावना का द्रष्टा है, उसकी तृष्णा पहले की अपेक्षा से बढ़ती ही जाती है। इससे वह अपने सांसारिक बन्धनों को पहले से भी अधिक दृढ़ बनाता है॥

३५०. (इसके विपरीत—) जो प्राणी अपने सन्देहों को (साधना द्वारा) शान्त करता रहता है, जो सांसारिक वस्तुओं को अशुभ समझता है, वह एक न एक दिन मारबन्धनों को काट ही देगा। तथा उनका अन्त (नाश) कर देगा॥
●

वीततण्हो अनादानो, निरुत्तिपदकोविदो।
अक्खरानं सन्निपातं, जञ्ञा पुब्बापरानि च।
स वे अन्तिमसारीरो, महापञ्ञो महापुरिसो ति वुच्चति॥ ३५२॥

९. उपकं आजीवकं आरब्भ

सब्बाभिभू सब्बविदूहमस्मि, सब्बेसु धम्मेसु अनूपलित्तो। [N.51]
सब्बञ्जहो तण्हक्खये विमुत्तो, सयं अभिञ्ञाय कमुद्दिसेय्यं॥ ३५३॥ [R.80]

१०. सक्कं देवराजानं आरब्भ

सब्बदानं धम्मदानं जिनाति, सब्बरसं धम्मरसो जिनाति।
सब्बरतिं धम्मरति जिनाति, तण्हक्खयो सब्बदुक्खं जिनाति॥ ३५४॥

११. अपुत्तकं सेट्ठिं आरब्भ

हनन्ति भोगा दुम्मेधं, नो च पारगवेसिनो।
भोगतण्हाय दुम्मेधो, हन्ति अञ्ञेव अत्तनं॥ ३५५॥

---

८. पापी मार को : : श्रावस्ती के जेतवन में

३५१. जो निष्ठा (अर्हत्त्व) को प्राप्त कर चुका है, जो निर्भय है, जो वीततृष्ण तथा निर्दोष है, उसने अपने सभी बन्धन छिन्न भिन्न कर डाले हैं तथा इस संसार में उसका यह अन्तिम जन्म है॥

३५२. जो तृष्णारहित हो चुका है, जो अपरिग्रहयुक्त है, जो पदों के निर्वचन में दक्ष है, जो अक्षरों के आदि अन्त को भली प्रकार से पहचानता है, ऐसे महाप्राज्ञ ने निश्चय ही अब इस संसार में यह अन्तिम जन्म लिया है॥ ●

९. उपक आजीवक को : : वाराणसी जाते समय मार्ग में

३५३. "मैं सबको परास्त कर चुका हूँ। मैं सब कुछ जानने वाला हूँ। मैं सभी (सांसारिक) धर्मों से अनुपलिप्त हूँ। मैं सब कुछ त्याग चुका हूँ। मेरी सर्वविध तृष्णा क्षीण हो जाने से मैं 'विमुक्त' हो चुका हूँ"—ऐसा जान लेने के बाद, मैं किसको अपना गुरु बताऊँ॥ ●

१०. देवराज शक्र को : : श्रावस्ती के जेतवन में

३५४. धर्म का दान अन्य सभी दानों को जीत लेता है। इसी तरह, धर्मरूप अमृतपान का रस सब रसों को जीत लेता है। धर्म के प्रति अनुराग (रति=प्रेम) भी अन्य रागों को जीत लेता है। तथा तृष्णा का विनाश सब दु:खों को जीत लेता है॥ ●

११. अपुत्रक श्रेष्ठी को : : श्रावस्ती, जेतवन में

३५५. यदि कोई मनुष्य संसार से पार जाने की इच्छा नहीं करता तो उस दुर्बुद्धि पुरुष को सांसारिक विषयभोग ही नष्ट कर देते हैं। इन भोगों की तृष्णा के कारण उसे दूसरों की हत्या तो करनी ही है, साथ ही वह अपनी भी हत्या कर बैठता है॥ ●

१२. अङ्कुरं देवपुत्तं आरब्भ

तिणदोसानि खेत्तानि, रागदोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीतरागेसु, दिन्नं होति महप्फलं॥ ३५६॥
तिणदोसानि खेत्तानि, दोसदोसा अयं पजा। [B.65]
तस्मा हि वीतदोसेसु, दिन्नं होति महप्फलं॥ ३५७॥
तिणदोसानि खेत्तानि, मोहदोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीतमोहेसु, दिन्नं होति महप्फलं॥ ३५८॥
तिणदोसानि खेत्तानि, इच्छादोसा अयं पजा।
तस्मा हि विगतिच्छेसु, दिन्नं होति महप्फलं॥ ३५९॥
तिणदोसानि खेत्तानि, तण्हादोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीततण्हेसु, दिन्नं होति महप्फलं[१]॥ ●

तण्हावग्गो निट्ठितो॥



१२. अङ्कुर देवपुत्र को : : पाण्डुकम्बलशिला पर

३५६. खेतों में व्यर्थ घासपात पैदा होना—खेत का दोष कहलाता है। किसी के प्रति राग (आसक्ति) होना—यह प्रजा का दोष कहलाता है। अतः वीतरागों को दिया हुआ दान ही अधिक फलदायी होता है॥

३५७. खेतों में व्यर्थ घासपात...पूर्ववत्...अतः वीतद्वेष पुरुषों को दिया हुआ दान ही अधिक फलदायी होता है॥

३५८. खेतों में व्यर्थ घासपात...पूर्ववत्...अतः वीतमोह पुरुषों को दिया हुआ दान ही अधिक फलदायी होता है॥

३५९. खेतों में व्यर्थ घासपात...पूर्ववत्...। अतः इच्छा (तृष्णा) रहित पुरुष को दिया हुआ दान ही अधिक फलदायी होता है॥ ●

तृष्णावर्ग चौबीसवाँ समाप्त॥



१. अयं गाथा अट्ठकथायं न दिस्सति।

२५. भिक्खुवग्गो पञ्चवीसतिमो

१. पञ्च भिक्खू आरब्भ

चक्खुना संवरो साधु, साधु सोतेन संवरो।
घानेन संवरो साधु, साधु जिव्हाय संवरो॥ ३६०॥

कायेन संवरो साधु, साधु वाचाय संवरो।
मनसा संवरो साधु, साधु सब्बत्थ संवरो
सब्बत्थ संवुतो भिक्खु, सब्बदुक्खा पमुच्चति॥ ३६१॥

२. हंसघातकं भिक्खुं आरब्भ

हत्थसंयतो पादसंयतो, वाचासंयतो संयतुत्तमो। [N.52]
अज्झत्तरतो समाहितो, एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खुं॥ ३६२॥

३. कोकालिकं भिक्खुं आरब्भ

यो मुखसंयतो भिक्खु, मन्तभाणी अनुद्धतो। [R.82]
अत्थं धम्मं च दीपेति, मधुरं तस्स भासितं॥ ३६३॥

---

२५. भिक्षुवर्ग पचीसवाँ

१. पञ्चेन्द्रियोपासक पाँच भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

३६०. चक्षुरिन्द्रिय का संयम साधक के लिये हितकर है। इसी श्रोत्रेन्द्रिय पर, घ्राणेन्द्रिय पर तथा जिह्वेन्द्रिय पर संयम भी साधक के लिये हितकर ही होता है॥

३६१. समस्त शरीर पर संयम तो पूर्वोक्त इन्द्रियों के संयम की अपेक्षा साधक के लिये अधिक हितकर है। निष्कर्ष यह है कि सभी इन्द्रियों पर संयम रखने वाला भिक्षु ही सर्वविध दुःखों से छुटकारा (मुक्ति) पा सकता है॥ ●

२. किसी हंसघातक भिक्षु को : : श्रावस्ती के जेतवन में

३६२. बुद्धिमान् लोग उसी को वास्तविक भिक्षु कहते हैं जो अपने हाथों एवं पैरों पर संयम रखता है। जो अपनी वाणी पर संयम रखता है वह तो सर्वश्रेष्ठ संयमी है। तथा जो सतत समाधिनिष्ठ रहता है एवं एकाकी विचरण करता है, सन्तोषवृत्ति से जीवनयापन करता है वही वस्तुतः भिक्षु है॥ ●

३. कोकालिक भिक्षु को : : श्रावस्ती के जेतवन में

३६३. जो भिक्षु मुख (वाणी) से संयत है, मितभाषी एवं विनयशील है, वही बुद्धिमान् भिक्षु धर्म एवं अर्थ का भले प्रकार से विवेचन (व्याख्यान) कर सकता है; उसका भाषण (बोलना) मधुर भी होता है एवं कर्णप्रिय भी॥ ●

४. धम्मारामं थेरं आरब्भ

धम्मारामो धम्मरतो, धम्मं अनुविचिन्तयं। [B.66]
धम्मं अनुस्सरं भिक्खु, सद्धम्मा न परिहायति॥ ३६४॥

५. कञ्चि विपक्खसेवकं भिक्खुं आरब्भ

सलाभं नातिमञ्ञेय्य, नाञ्ञेसं पिहयं चरे।
अञ्ञेसं पिहयं भिक्खु, समाधिं नाधिगच्छति॥ ३६५॥
अप्पलाभो पि चे भिक्खु, सलाभं नातिमञ्ञति।
तं वे देवा पसंसन्ति, सुद्धाजीविं अतन्दितं॥ ३६६॥

६. पञ्चग्गदायकं ब्राह्मणं आरब्भ

सब्बसो नामरूपस्मिं, यस्स नत्थि ममायितं।
असता च न सोचति, स वे भिक्खू ति वुच्चति॥ ३६७॥

७. सम्बहुले भिक्खू आरब्भ

मेत्ताविहारी यो भिक्खु, पसन्नो बुद्धसासने।
अधिगच्छे पदं सन्तं, सङ्खारूपसमं सुखं॥ ३६८॥

---

४. धर्माराम भिक्षु को : : श्रावस्ती के जेतवन में

३६४. जो भिक्षु निरन्तर धर्माचरण में ही लगा रहता है, धर्मचिन्तन में ही रत रहता है, धर्म का मनन करता रहता है, धर्म का अनुस्मरण एवं अनुगमन करता रहता है, ऐसा साधक भिक्षुधर्म से कभी च्युत नहीं होता॥ ●

५. किसी विपक्षी भिक्षु को : : राजगृह के वेणुवन में

३६५. भिक्षु स्वलाभ की अवहेलना न करे। वह दूसरों से ईर्ष्या करता हुआ अपना जीवन न बिताये; क्योंकि दूसरों से ईर्ष्या (स्पृहा) करने वाला समाधि (ध्यान आदि धर्मों) को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता॥

३६६. भले ही वह स्वलाभ अल्प ही क्यों न हो, भिक्षु को उसकी अवमानना (तिरस्कार) नहीं करनी चाहिये। जो भिक्षु स्वलाभ की अवमानना नहीं करता, ऐसे शुद्ध आजीविका वाले भिक्षु की देवता भी प्रशंसा करते हैं॥ ●

६. पञ्च अग्रदायक ब्राह्मण को : : श्रावस्ती, जेतवन में

३६७. नामरूप वाले इस समस्त संसार में जिसकी अल्पमात्र भी ममता नहीं होती, या जो वस्तु के न रहने पर (या न मिलने पर) किसी प्रकार का शोक नहीं करता, वही 'भिक्षु' कहलाता है॥ ●

७. बहुत से भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

३६८. जो भिक्षु मैत्रीभाव से जीवनयापन करता है, जो बुद्धशासन में श्रद्धालु है, वह संस्कारों को शमन करने वाले शान्त एवं सुखद पद (निर्वाण) को प्राप्त कर लेता है॥

सिञ्च भिक्खु इमं नावं, सित्ता ते लहुमेस्सति।
छेत्वा रागं च दोसं च, ततो निब्बानमेहिसि॥ ३६९॥
पञ्च छिन्दे पञ्च जहे, पञ्च चुत्तरि भावये।
पञ्च सङ्गातिगो भिक्खु, ओघतिण्णो ति वुच्चति॥ ३७०॥
झाय भिक्खु मा पमादो, मा ते कामगुणे रमेस्सु चित्तं।
मा लोहगुळं गिली पमत्तो, मा कन्दि दुक्खमिदं ति डय्हमानो॥ ३७१॥
नत्थि झानं अपञ्ञस्स, पञ्ञा नत्थि अझायतो।
यम्हि झानं च पञ्ञा च, स वे निब्बानसन्तिके॥ ३७२॥
सुञ्ञागारं पविट्ठस्स, सन्तचित्तस्स भिक्खुनो। [N.53, B.67, R.84]
अमानुसी रति होति, सम्मा धम्मं विपस्सतो॥ ३७३॥
यतो यतो सम्मसति, खन्धानं उदयब्बयं।
लभती पीतिपामोज्जं, अमतं तं विजानतं॥ ३७४॥

---

३६९. हे भिक्षु! इस नौका में भरे जल को उडेल (उलट कर गिरा) दे। जल के उडेलने पर यह नौका तेरे लिये हल्की (लघुभार वाली) हो जायगी। तब तूँ सांसारिक राग एवं द्वेष को काट कर निर्वाण तक पहुँच सकेगा॥

३७०. पाँच (अधोभागीय संयोजनों) को काट दे, पाँच (ऊर्ध्वभागीय संयोजनों) को त्याग दे, पाँच (श्रद्धा, स्मृति, वीर्य, समाधि एवं प्रज्ञा) की भावना कर। पाँच (रूप आदि स्कन्धों) का सङ्ग छोड़ कर आगे बढ़ जाने वाला भिक्षु संसार की बाढ (औघ) को पार करने वाला (औघतीर्ण) कहलाता है॥

३७१. हे भिक्षु! ध्यानभावना का अभ्यास कर। इसमें प्रमाद न करना। तेरा चित्त भोगों के चक्र में न पड़ने पावे। प्रमत्त होकर तूँ लोहे का गोलक न निगल। संसार की अग्नि में जलते हुए 'यह दुःख है'—कह कर क्रन्दन (चिल्लाहट) न कर॥

३७२. जो साधक प्रज्ञारहित है, उसकी ध्यानभावना कैसे सिद्ध होगी! ध्यान के विना प्रज्ञा का होना भी असम्भव है। अतः जिस साधक के पास ये दोनों—ध्यान एवं प्रज्ञा है, वही निर्वाण के समीप है॥

३७३. जो साधक (भिक्षु) शून्य आगार (निर्जन स्थान) में रहता है, जिसका चित्त शान्त है, जिसने धर्म का सम्यक् साक्षात्कार कर लिया है उसे लोकोत्तर (दिव्य) आनन्द प्राप्त होने लगता है॥

३७४. साधक मनुष्य जैसे जैसे इस शरीर के तत्त्वों की उत्पत्ति एवं विनाश का चिन्तन करता है, वैसे वैसे वह ज्ञानियों के प्रेम (प्रीति) और प्रमाद (हर्ष) का अमृतमय आनन्द प्राप्त करने लगता है॥

तत्रायमादि भवति, इध पञ्ञस्स भिक्खुनो।
इन्द्रियगुत्ति सन्तुट्ठि, पातिमोक्खे च संवरो॥ ३७५॥
मित्ते भजस्सु कल्याणे, सुद्धाजीवे अतन्दिते।
पटिसन्थारवुत्यस्स, आचारकुसलो सिया।
ततो पामोज्जबहुलो, दुक्खस्सन्तं करिस्सति॥ ३७६॥

८. पञ्चसतभिक्खू आरब्भ

वस्सिका विय पुप्फानि, मद्दवानि पमुञ्चति।
एवं रागं च दोसं च, विप्पमुञ्चेथ भिक्खवो॥ ३७७॥

९. सन्तकायं थेरं आरब्भ

सन्तकायो सन्तवाचो, सन्तवा सुसमाहितो।
वन्तलोकामिसो भिक्खु, उपसन्तो ति वुच्चति॥ ३७८॥

१०. नङ्गुलकुलत्थेरं आरब्भ

अत्तना चोदयत्तानं, पटिमंसेथ अत्तना।
सो अत्तगुत्तो सतिमा, सुखं भिक्खु विहाहिसि॥ ३७९॥

---

३७५. यहाँ प्रज्ञावान् भिक्षु के लिये ये गुण सर्वप्रथम आवश्यक हैं—इन्द्रियसंयम, सन्तोष एवं प्रातिमोक्ष में संयम॥

३७६. तूँ उद्योगी एवं शुद्ध आजीविका वाले कल्याणमित्रों की सङ्गति कर। तथा आगत सज्जन का स्वागत सत्कार एवं सेवावृत्ति (पटिसन्थार) में लगा रह। ऐसे मैत्रीपूर्ण व्यवहार में कुशलता प्राप्त कर। तभी तूँ अपने लौकिक दुःखों का अन्त कर दिव्य आनन्द प्राप्त कर सकेगा॥

●

८. पाँच सौ भिक्षुओं को　:　:　श्रावस्ती के जेतवन में

३७७. जैसे चमेली लता के फूल म्लान हो (मुर्झा) कर (शाखाओं से टूट कर) गिर जाते हैं; उसी तरह, भिक्षुओ! तुम लोगों को भी स्वचित्त को राग एवं द्वेष से मुक्त कर लेना चाहिये॥

●

९. शान्तकाय स्थविर को　:　:　श्रावस्ती के जेतवनमें

३७८. उस भिक्षु को पूर्णतः शान्त कहा जा सकता है जो शारीरिक तथा मानसिक चेष्टाओं से शान्त होता है, जो शान्तिमय समाहितचित्त वाला है तथा जिसने सांसारिक प्रलोभनों का त्याग (नमन) कर दिया है॥

●

१०. नङ्गुलकुल स्थविर को　:　:　श्रावस्ती के जेतवन में

३७९. स्वयं को स्व द्वारा ही प्रेरित करो। स्वयं को स्व द्वारा ही आश्वस्त करो। इस प्रकार स्व द्वारा सुरक्षित किये गये स्मृतिमान् भिक्षु! तुम सुखपूर्वक साधना कर पाओगे॥

११. वक्कलित्थेरं आरब्भ

अत्ता हि अत्तनो नाथो, अत्ता हि अत्तनो गति[1]।
तस्मा संयमयत्तानं, अस्सं भद्रं व वाणिजो॥ ३८०॥
पामोज्जबहुलो भिक्खु, पसन्नो बुद्धसासने। [B.68]
अधिगच्छे पदं सन्तं, सङ्खारूपसमं सुखं॥ ३८१॥

१२. सुमनसामणेरं आरब्भ

यो हवे दहरो भिक्खु, युञ्जति बुद्धसासने।
सो इमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तो व चन्दिमा॥ ३८२॥ ●

भिक्खुवग्गो निट्ठितो॥



---

३८०. स्वयं आत्मा ही आत्मा का स्वामी है। आत्मा ही आत्मा की गति (शरणस्थल) है। अत: जैसे कोई व्यापारी अपने सुशिक्षित अश्व को संयत रखता है उसी प्रकार तुम भी अपनी आत्मा को संयत रखो॥ ●

११. वल्कली स्थविर भिक्षु को : : राजगृह के वेणुवन में

३८१. जो भिक्षु (धर्मश्रवण कर) अत्यधिक हर्षयुक्त होता है, जो बुद्धोपदेश में श्रद्धा रखता है, वह शान्त, संस्कारों का उपशमन करने वाला सुखकारी पद (निर्वाण) प्राप्त कर लेता है॥ ●

१२. सुमन श्रामणेर को : : श्रावस्ती के पूर्वाराम में

३८२. जो भिक्षु अपनी अल्प (छोटी) आयु में ही भगवान् बुद्ध के उपदेशों को हृदयङ्गम कर लेता है, वह इस संसार में अपना प्रिय आध्यात्मिक ज्ञानप्रकाश उसी तरह फैला देता है, जैसे मेघयुक्त चन्द्रमा आकाश में प्रकाशित होता है॥ ●

पचीसवाँ भिक्षुवर्ग समाप्त॥



---

१. "को हि नाथो परो सिया" ति अट्ठकथायं अधिको पाठो।

२६. ब्राह्मणवग्गो छब्बीसतिमो

१. प्रसादबहुलं ब्राह्मणं आरब्भ

छिन्द सोतं परक्कम्म, कामे पनुद ब्राह्मण। [R.86]
सङ्खारानं खयं ञत्वा, अकतञ्ञूसि ब्राह्मण॥ ३८३॥

२. सम्बहुले भिक्खू आरब्भ

यदा द्वयेसु धम्मेसु, पारगू होति ब्राह्मणो। [N.54]
अथस्स सब्बे संयोगा, अत्थं गच्छन्ति जानतो॥ ३८४॥

३. मारं आरब्भ

यस्स पारं अपारं वा, पारापारं न विज्जति।
वीतद्दरं विसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ३८५॥

४. अञ्ञतरं ब्राह्मणं आरब्भ

झायिं विरजमासीनं, कतकिच्चमनासवं।
उत्तमत्थमनुप्पत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ३८६॥

---

२६. ब्राह्मणवर्ग छब्बीसवाँ

१. किसी श्रद्धालु ब्राह्मण को : : श्रावस्ती, जेतवन में

३८३. हे भिक्षु! तूँ प्रयास कर अपने इस सांसारिक तृष्णास्रोत को छिन्न भिन्न कर डाल। हे क्षीणाश्रव! संस्कारों का विनाश जान कर तूँ अकृत (निर्वाण) का ज्ञाता हो जा॥ ●

२. बहुत से भिक्षुओं को : : श्रावस्ती के जेतवन में

३८४. जब कोई क्षीणाश्रव भिक्षु (=ब्राह्मण) शमथ एवं विपश्यना—इन दो धर्मों में पारगामी हो जाता है, तब इस ज्ञानवान् साधक के सभी सांसारिक बन्धन नष्ट हो जाते हैं॥ ●

३. पापी मार को : : श्रावस्ती, जेतवन में

३८५. जिसके लिये न इस पार (किनारे) का महत्त्व रह गया है, न उस पार का, या पार एवं अपार—दोनों का ही कोई महत्त्व नहीं रह गया है; ऐसे निर्भय (वीतदर) एवं सांसारिक बन्धनों से मुक्त, वीतराग तथा क्षीणाश्रव भिक्षु को ही 'ब्राह्मण' कहते हैं॥ ●

४. किसी ब्राह्मण को : : श्रावस्ती, जेतवन में

३८६. जो ध्यायी (ध्यानभावना करने वाला) है, जो विरज (रजोगुणरहित) है, जो आसीन (स्थिर आसन वाला) है, जो कृतकृत्य (अपने सभी कृत्यों को पूर्ण कर चुका) है, जो अनाश्रव (आश्रव=चित्तविकार से रहित) है, जो उत्तमार्थ (श्रेष्ठ) स्थिति (निर्वाण) को प्राप्त कर चुका है, ऐसे साधक पुरुष को ही मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥ ●

५. आनन्दत्थेरं आरब्भ

दिवा तपति आदिच्चो, रत्तिमाभाति चन्दिमा। [B.69]
सन्नद्धो खत्तियो तपति, झायी तपति ब्राह्मणो।
अथ सब्बमहोरत्तिं, बुद्धो तपति तेजसा॥ ३८७॥

६. अञ्ञतरं ब्राह्मणपब्बजितं आरब्भ

बाहितपापो ति ब्राह्मणो, समचरियो समणो ति वुच्चति।
पब्बाजयमत्तनो मलं, तस्मा पब्बजितो ति वुच्चति॥ ३८८॥

७. सारिपुत्तत्थेरं आरब्भ

न ब्राह्मणस्स पहरेय्य, नास्स मुञ्चेथ ब्राह्मणो।
धी ब्राह्मणहन्तारं, ततो धी यस्स मुञ्चति॥ ३८९॥

न ब्राह्मणस्सेतदकिञ्चि सेय्यो, यदा निसेधो मनसो पियेहि।
यतो यतो हिंसमनो निवत्तति, ततो ततो सम्मतिमेव दुक्खं॥ ३९०॥

८. महापजापतिं गोतमिं आरब्भ

यस्स कायेन वाचाय, मनसा नत्थि दुक्कटं। [R.88]
संवुतं तीहि ठानेहि, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ३९१॥

---

५. आनन्द स्थविर को : : मृगारमातृप्रासाद श्रावस्ती में

३८७. सूर्य दिन में शोभित होता है, तथा चन्द्रमा रात्रि में। क्षत्रिय युद्ध में जाने के लिये कवचबद्ध होता हुआ ही शोभित होता है। क्षीणाश्रव भिक्षु ध्यान (समाधि) निष्ठ होने पर सुन्दर लगता है; परन्तु भगवान् बुद्ध अपने अलौकिक तेज से सदा देदीप्यमान रहते हैं॥ •

६. किसी ब्राह्मण को : : श्रावस्ती के जेतवन में

३८८. जिसने पापों को वाहित (नष्ट) कर दिया है, वह 'ब्राह्मण' है। जो समत्व का आचरण करता है वह मेरी दृष्टि में 'श्रमण' है। तथा जो अपने चित्तविकारों को नष्ट कर देता है वह 'प्रव्रजित' है॥ •

७. सारिपुत्र स्थविर को लक्ष्य कर : : श्रावस्ती के जेतवन में

३८९. कोई ब्राह्मण किसी अन्य ब्राह्मण पर प्रहार न करे। तथा न उस प्रहारकर्ता पर ही कोई प्रहार करे। धिक्कार है उसको जो किसी ब्राह्मण पर प्रहार करता है, साथ ही उसे भी धिक्कार है जो उस प्रहारकर्ता पर हाथ छोड़ता (प्रहार करता) है॥

३९०. ब्राह्मण के लिये यह कुछ कम श्रेयस्कर नहीं है कि वह प्रिय वस्तुओं की ओर से अपना मन हटा लेता है; क्योंकि ऐसा देखा गया है कि जहाँ जहाँ से साधक अपना हिंस्र मन हटा लेता है वहाँ वहाँ से उसका दु:ख भी शान्त होता रहता है॥ •

९. सारिपुत्तत्थेरं आरब्भ

यम्हा धम्मं विजानेय्य, सम्मासम्बुद्धदेसितं।
सक्कच्चं तं नमस्सेय्य, अग्गिहुत्तं व ब्राह्मणो॥ ३९२॥

१०. जटिलं ब्राह्मणं आरब्भ

न जटाहि न गोत्तेन, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चं च धम्मो च, सो सुची सो च ब्राह्मणो॥ ३९३॥

११. कुहकं ब्राह्मणं आरब्भ

किं ते जटाहि दुम्मेध, किं ते अजिनसाटिया। [B.70]
अब्भन्तरं ते गहनं, बाहिरं परिमज्जसि॥ ३९४॥

१२. किसं गोतमिं आरब्भ

पंसुकूलधरं जन्तुं, किसं धमनिसन्थतं। [N.55]
एकं वनस्मिं झायन्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ३९५॥

---

८. महाप्रजापति गौतमी को : : श्रावस्ती, जेतवन में

३९१. जिस साधक के काय, वाणी एवं मन से कोई दुष्कृत नहीं हो रहा है वह तीनों स्थानों (काय, वाक् एवं मन) से संयत (संवृत) है। उसी को मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥ ●

९. सारिपुत्र स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

३९२. जिस (आचार्य) से हम सम्यक्सम्बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म का श्रवण करें, उसकी सम्मानपूर्वक उसी तरह पूजा करनी चाहिये, जैसे कोई ब्राह्मण अग्निहोत्र की पूजा किया करता है॥ ●

१०. किसी जटिल ब्राह्मण को : : श्रावस्ती के जेतवन में

३९३. न जटा बढ़ा लेने से, न गोत्र या जाति से ही कोई ब्राह्मण हो जाता है; परन्तु जिसने सत्य एवं धर्म का साक्षात्कार कर लिया है, मैं उसी को सच्चा 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥ ●

११. कुहक (ढोंगी) ब्राह्मण को : : श्रावस्ती, जेतवन में

३९४. हे दुर्बुद्धे! तुझे इस जटा एवं अजिन (चर्म) धारण का क्या लाभ मिल रहा है! क्योंकि तेरा मन तो पापों से भरा पड़ा है। केवल बाहर से ही तूँ स्वच्छता का ढोंग दिखा रहा है॥ ●

१२. कृशा गौतमी को : : राजगृह गृध्रकूट पर्वत पर

३९५. जो फटे पुराने वस्त्रों को धारण करता (पांशुकूलधर) है, जो शरीर से कृश है, जिसकी रक्तवाहिनी धमनियाँ दूर से ही दिखायी देती हैं, जो वन में एकाकी ध्यानमग्न रहता है, मैं उसी को 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥ ●

१३. एकं ब्राह्मणं आरब्भ

न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि, योनिजं मत्तिसम्भवं।
भोवादि नाम सो होति, सचे होति सकिञ्चनो।
अकिञ्चनं अनादानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ३९६॥

१४. उग्गसेनं सेट्ठिपुत्तं आरब्भ

सब्बसंयोजनं छेत्वा, यो वे न परितस्सति।
सङ्गातिगं विसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ३९७॥

१५. द्वे ब्राह्मणे आरब्भ

छेत्वा नद्धिं वरत्तं च, सन्दानं सहनुक्कमं।
उक्खित्तपलिघं बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ३९८॥

१६. अक्कोसकभारद्वाजं आरब्भ

अक्कोसं वधबन्धं च, अदुट्ठो यो तितिक्खति। [R.90]
खन्तीबलं बलानीकं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ३९९॥

---

१३. एक ब्राह्मण को : : श्रावस्ती, जेतवन में

३९६. केवल ब्राह्मणयोनि वाली माता से उत्पन्न किसी मनुष्य को मैं ब्राह्मण नहीं मानता; क्योंकि वह परिग्रही है, लोक में वह अपने आपको 'भो' शब्द से सम्बोधित करता कराता रहता है। हाँ, जो अकिञ्चन (अपरिग्रही) है या किसी से कुछ लेने की कभी इच्छा नहीं करता, ऐसे त्यागी को ही मैं 'ब्राह्मण' मानता हूँ॥ ●

१४. उग्रसेन श्रेष्ठिपुत्र को : : श्रावस्ती, जेतवन में

३९७. सभी प्रकार के सांसारिक बन्धनों (संयोजनों) को काट कर जो तृष्णा से भयभीत (त्रस्त) नहीं होता, जो विषयों की सङ्गति से विमुक्त हो चुका है, जो सांसारिक पदार्थों में अनासक्त है, मैं उसी को 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥ ●

१५. दो ब्राह्मणों को : : श्रावस्ती के जेतवन में

३९८. जिस साधक ने अपनी आध्यात्मिक नध्री (क्रोध) तथा वरत्रा (तृष्णा), सन्दान (बन्धन) एवं हनुक्रम (मुँह पर बाँधने का पट्टा) काट दिया है तथा संसार की शृङ्खला को तोड़ कर फेंक दिया है, ऐसे प्रबुद्ध (ज्ञानी) को मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥ ●

१६. आक्रोशक भारद्वाज को : : राजगृह वेणुवन में

३९९. जो मनुष्य अपना चित्त दूषित किये विना, दुर्जनों के अपशब्द, मार पीट या किसी प्रकार का बन्धन—सब कुछ सहन कर लेता है, क्षमा ही जिसका बल है, तथा वह (क्षमा) ही जिसकी युद्ध में लड़ने वाली सेना है, उसको मैं सच्चा 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥ ●

१७. सारिपुत्तत्थेरं आरब्भ

अक्कोधनं वतवन्तं, सीलवन्तं अनुस्सदं।
दन्तं अन्तिमसारीरं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४००॥

१८. उप्पलवण्णं थेरिं आरब्भ

वारि पोक्खरपत्ते व, आरग्गेरिव सासपो। [B.71]
यो न लिम्पति कामेसु, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४०१॥

१९. अञ्ञतरं ब्राह्मणं आरब्भ

यो दुक्खस्स पजानाति, इधेव खयमत्तनो।
पन्नभारं विसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४०२॥

२०. खेमं भिक्खुनिं आरब्भ

गम्भीरपञ्ञं मेधाविं, मग्गामग्गस्स कोविदं।
उत्तमत्थमनुप्पत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४०३॥

२१. पब्भारवासिं तिस्सत्थेरं आरब्भ

असंसट्ठं गहट्ठेहि, अनागारेहि चूभयं।
अनोकसारिमप्पिच्छं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४०४॥

---

१७. सारिपुत्र स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

४००. जो साधक किसी पर भी क्रोध नहीं करता, धार्मिक शील (सदाचारों) एवं व्रतों से सम्पन्न तथा सदा वीततृष्ण रहता है, इन्द्रियों पर संयम रखता है, जिसका यह शरीर (जन्म) इस लोक में अन्तिम है उसी को मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥ ●

१८. उत्पलवर्णा स्थविरा को : : श्रावस्ती, जेतवन में

४०१. जिस प्रकार लोक में कमलपत्र पर जल की स्थिति नहीं देखी जाती, या आरायन्त्र के अग्रभाग पर सरसों का दाना (बीज) नहीं ठहर पाता, वहाँ से गिर जाता है; उसी प्रकार जो क्षीणाश्रव भिक्षु साधक कामनाओं में लिप्त नहीं होता, उसी को मैं वस्तुतः 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥ ●

१९. किसी ब्राह्मण को : : श्रावस्ती, जेतवन में

४०२. जो अपने दुःखक्षय को इसी जन्म में जान लेता है, जिसने अपने लौकिक भार को अपने कन्धों से उतार कर फेंक दिया है, तथा जो संसार में निरासक्त हो चुका है, उसी को मैं 'ब्राह्मण' मानता हूँ॥ ●

२०. क्षेमा भिक्षुणी को : : राजगृह गृध्रकूट पर्वत पर

४०३. जो गम्भीर प्रज्ञावान् है, मेधावी है, मार्ग एवं अमार्ग का ज्ञाता है, तथा जिसने उत्तम अर्थ (निर्वाण) को प्राप्त कर लिया है, उसको मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥ ●

२२. अञ्ञतरं भिक्खुं आरब्भ

निधाय दण्डं भूतेसु, तसेसु थावरेसु च।
यो न हन्ति न घातेति, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४०५॥

२३. चत्तारो सामणेरे आरब्भ

अविरुद्धं विरुद्धेसु, अत्तदण्डेसु निब्बुतं।
सादानेसु अनादानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४०६॥

२४. महापन्थकं थेरं आरब्भ

यस्स रागो च दोसो च, मानो मक्खो च पातितो।
सासपोरिव आरग्गा, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४०७॥

२५. पिलिन्दवच्छत्थेरं आरब्भ

अकक्कसं विञ्ञापनिं, गिरं सच्चमुदीरये। [N.56,B.72]
याय नाभिसजे कञ्चि, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४०८॥

---

२१. प्राग्भारवासितिष्य स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

४०४. गृहस्थ एवं प्रव्रजित—दोनों से ही असम्पृक्त रहने वाला साधक एकान्तवास तथा सन्तोषवृत्ति को धारण किये रहता है। अतः मैं ऐसे साधक को 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥ ●

२२. किसी भिक्षु को : : श्रावस्ती, जेतवन में

४०५. जो तृष्णा के त्रास से त्रस्त या उसके अभाव से अत्रस्त किसी भी प्राणी पर दण्ड (शस्त्र) का प्रयोग नहीं करता तथा जो न किसी को मारता है, न किसी को मारने के लिये प्रेरित करता है, उसको मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥ ●

२३. चार श्रामणेरों को : : श्रावस्ती, जेतवन में

४०६. जो विरोधी (वैरी) के साथ भी अपना विरोध (वैर) प्रकट नहीं करता, जो दण्डधारियों के मध्य दण्ड (शस्त्र) नहीं उठाता, तथा संग्रह करने वालों के मध्य जो संग्रही नहीं है, वही मेरी दृष्टि में सच्चा 'ब्राह्मण' है॥ ●

२४. महापन्थक स्थविर को : : राजगृह वेणुवन में

४०७. जिस साधक भिक्षु का, साधना करते करते, राग द्वेष मान एवं म्रक्ष (दूसरे के गुणों का तिरस्कार करना) उसी तरह विनष्ट हो चुके हैं, जैसे आरायन्त्र के अग्रभाग से सरसों का दाना छिटक जाया करता है, ऐसे साधक को मैं वास्तविक 'ब्राह्मण' मानता हूँ॥ ●

२५. पिलिन्दवत्स स्थविर के विषय में : : राजगृह, वेणुवन में

४०८. जो आकर्षक (अपनी ओर आकृष्ट करने वाली), ज्ञानवर्धक एवं सत्य वाणी बोलता है तथा जिसे सुनकर किसी को पीड़ा नहीं होती, ऐसे साधक को मैं 'ब्राह्मण' मानता हूँ॥ ●

२६. अञ्ञतरत्थेरं आरब्भ

योध दीघं व रस्सं वा, अणुं थूलं सुभासुभं।
लोके अदिन्नं नादियति, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४०९॥

२७. सारिपुत्तत्थेरं आरब्भ

आसा यस्स न विज्जन्ति, अस्मिं लोके परम्हि च।
निरासासं विसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४१०॥

२८. महामोग्गल्लानत्थेरं आरब्भ

यस्सालया न विज्जन्ति, अञ्ञाय अकथङ्कथी।
अमतोगधमनुप्पत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४११॥

२९. रेवतत्थेरमारब्भ

योध पुञ्ञं च पापं च, उभो सङ्गमुपच्चगा। [R.92]
असोकं विरजं सुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४१२॥

३०. चन्दाभत्थेरं आरब्भ

चन्दं व विमलं सुद्धं, विप्पसन्नमनाविलं।
नन्दीभवपरिक्खीणं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४१३॥

---

२६. किसी स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

४०९. जो इस लोक में, दूसरे द्वारा न दी हुई वस्तु को, फिर भले ही वह छोटी हो या बड़ी, पतली हो या मोटी, शुभ हो या अशुभ, अपना नहीं बनाता, उसी को मैं 'ब्राह्मण' मानता हूँ॥

२७. सारिपुत्र स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

४१०. जिस साधक की इस लोक या परलोक विषयक सभी आशाएँ क्षीण हो चुकी हैं, ऐसे आशारहित एवं सांसारिक विषयों में अनासक्त साधक को मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

२८. महामौद्गल्यायन स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

४११. जिस साधक की किसी वस्तु में आसक्ति नहीं रह गयी है, जो तत्त्वज्ञानी होकर निःसंशय (असन्दिग्ध) हो चुका है, तथा जो अमृतत्व (निर्वाण) की गम्भीरता को प्राप्त कर चुका है, उस साधक को मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

२९. रेवत स्थविर को : : श्रावस्ती, पूर्वाराम में

४१२. जो साधक पुण्य एवं पाप—दोनों के सङ्ग से मुक्त हो चुका है जो वीतशोक, रजोगुणविहीन एवं विकारों के राहित्य के कारण शुद्ध (स्वच्छ) है, उसको ही मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

३१. सीवलित्थेरमारब्भ

यो इमं पलिपथं दुग्गं, संसारं मोहमच्चगा।
तिण्णो पारगतो झायी, अनेजो अकथङ्कथी।
अनुपादाय निब्बुतो, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४१४॥

३२. सुन्दरसमुद्दत्थेरं आरब्भ

योध कामे पहन्त्वान, अनागारो परिब्बजे। [B.73]
कामभवपरिक्खीणं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४१५॥

३३. जटिलत्थेरं आरब्भ

३४. जोतिकत्थेरं आरब्भ च

योध तण्हं पहन्त्वान, अनागारो परिब्बजे।
तण्हाभवपरिक्खीणं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४१६॥

३५. नटपुत्तकं थेरं आरब्भ

हित्वा मानुसकं योगं, दिब्बं योगं उपच्चगा।

---

३०. चन्द्राभ स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

४१३. जो साधक चन्द्रमा के समान निर्मल, शुद्ध, प्रसन्न एवं निष्कलङ्क है, तथा जिसकी समस्त जन्मों की तृष्णाएँ नष्ट हो चुकी हैं, उसी साधक को मैं 'ब्राह्मण' मानता हूँ॥ ●

३१. सीवलि स्थविर को : : कुण्डकोलिय के कुण्डधान वन में

४१४. जिस साधक ने इस दुर्गम संसार के मोहरूप प्रतिगामी मार्ग को पार कर लिया है, इस पार (संसार) से उस पार (निर्वाण) तक पहुँच गया है, जो ध्यान में निरन्तर रत है, निष्पाप एवं निःसंशय हो चुका है, तथा अनासक्त एवं निर्वृत हो चुका है, ऐसे साधक को मैं 'ब्राह्मण' मानता हूँ॥ ●

३२. सुन्दरसमुद्र स्थविर को : : श्रावस्ती, जेतवन में

४१५. जो साधक यहाँ कामनाओं का परित्याग कर, घर छोड़ कर प्रव्रजित हो जाता है, जिसमें जन्म लेने की कामना क्षीण हो चुकी है, उसी को मैं 'ब्राह्मण' मानता हूँ॥ ●

३३. जटिल स्थविर को : : राजगृह, वेणुवन में

४१६. जो साधक यहाँ तृष्णाओं का परित्याग कर, घर छोड़ कर प्रव्रजित हो जाता है, जिसमें यहाँ (इस लोक में) पुनः जन्म लेने की तृष्णा सर्वथा क्षीण हो चुकी है, ऐसे साधक को मैं 'ब्राह्मण' मानता हूँ॥ ●

३४. जोतिक स्थविर को : : राजगृह के वेणुवन में

४१६. जो साधक यहाँ तृष्णाओं का परित्याग कर, घर छोड़ कर प्रव्रजित हो जाता है, जिसमें इस संसार में जन्म लेने की कामना सवर्था क्षीण हो चुकी है। ऐसे साधक को ही मैं वास्तविक ब्राह्मण कहता हूँ॥ ●

सब्बयोगविसंयुत्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४१७॥

३६. तमेव नटपुत्तकं थेरं आरब्भ

हित्वा रतिं च अरतिं च, सीतिभूतं निरूपधिं।
सब्बलोकाभिभुं वीरं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४१८॥

३७. वङ्गीसत्थेरं आरब्भ

चुतिं यो वेदि सत्तानं, उपपत्तिं च सब्बसो।
असत्तं सुगतं बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४१९॥
यस्स गतिं न जानन्ति, देवा गन्धब्बमानुसा। [N.57]
खीणासवं अरहन्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४२०॥

३८. धम्मदिन्नं भिक्खुनिं आरब्भ

यस्स पुरे च पच्छा च, मज्झे नत्थि च किञ्चनं। [B.74]
अकिञ्चनं अनादानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४२१॥

३९. अङ्गुलिमालत्थेरं आरब्भ

उसभं पवरं वीरं, महेसिं विजिताविनं।

---

३५. नटपुत्रक स्थविर को : : राजगृह के वेणुवन में

४१७. जो साधक मानवसम्बन्धी वस्तुओं की आसक्ति को त्यागता हुआ स्वर्गसम्बन्धी वस्तुओं में आसक्ति त्याग चुका है, तथा जो सभी सांसारिक संयोग एवं वियोग की आसक्तियों से दूर हो चुका है उसको ही मैं 'ब्राह्मण' मानता हूँ॥ ●

३६. नटपुत्रक स्थविर के विषय में : : राजगृह के वेणुवन में

४१८. जो साधक पाँच लौकिक कामगुणों में रति (अनुराग) तथा अरति (वैराग्य)—दोनों का त्याग कर शान्तवृत्ति हो चुका है, जो क्लेशरहित है, जो सब लोकों को परास्त करने वाला वीर है, उसी को मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥ ●

३७. वङ्गीश स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

४१९. जिस साधक को प्राणियों के देहपात (च्युति) एवं उत्पत्ति (जन्म) का भले प्रकार से ज्ञान है, जो संसार में निरासक्त, सुगत एवं बुद्ध है, उसको ही मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥

४२०. जिसकी गति को देव, मनुष्य एवं गन्धर्व—इनमें से कोई भी नहीं जानता, जिसके आश्रव क्षीण हो चुके हैं तथा जो अर्हत्त्व प्राप्त कर चुका है, उसी को मैं 'ब्राह्मण' मानता हूँ॥ ●

३८. धर्मदिन्ना भिक्षुणी को : : राजगृह के वेणुवन में

४२१. जिसको अतीत काल, भविष्यत्काल तथा वर्तमान काल में किसी वस्तु में आसक्ति नहीं है; जो अकिञ्चन है, अपरिग्रही है उसको ही मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥ ●

अनेजं न्हातकं बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४२२॥

४०. देवहितब्राह्मणस्स पञ्हं आरब्भ

पुब्बेनिवासं यो वेदि, सग्गापायं च पस्सति।
अथो जातिक्खयं पत्तो, अभिञ्ञावोसितो मुनि।
सब्बवोसितवोसानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४२३॥

ब्राह्मणवग्गो निट्ठितो॥



धम्मपदे वग्गानमुद्दानं

यमकप्पमादो चित्तं, पुप्फं बालेन पण्डितो। [B.75,R.94]
अरहन्तो सहस्सं च, पापं दण्डेन ते दस॥
जरा अत्ता च लोको च, बुद्धो सुखं पियेन च।
कोधो मलं च धम्मट्ठो, मग्गवग्गेन वीसति॥

---

३९. अङ्गुलिमाल स्थविर को : : श्रावस्ती के जेतवन में

४२२. जो साधक मनुष्यों में श्रेष्ठ है, अग्र (प्रवर) है, वीर है, महर्षि (उदारचेता) है, वासनाओं पर विजय पा चुका है, निष्पाप, निष्कलङ्क, स्नातक एवं ज्ञानी है, उसको मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥ ●

४०. देवहित ब्राह्मण को उत्तर : : श्रावस्ती के जेतवन में

४२३. जो साधक अपने पूर्वजन्म की घटनाओं को प्रत्यक्षवत् देखता है, जो स्वर्ग एवं नरक का भी इन्द्रियजन्य ज्ञान रखने की सामर्थ्य रखता है, जिसकी भावी जन्मपरम्परा क्षीण हो चुकी है, तथा जो अभिज्ञा (विशिष्ट ज्ञान) में परायण है, ऐसे पूर्ण ज्ञान में पूर्णता अधिगत किये हुए मुनि को मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ॥ ●

ब्राह्मणवर्ग छब्बीसवाँ समाप्त॥



धम्मपद में पठित वर्गों की सूची

१. यमक, २. अप्रमाद, ३. चित्त, ४. पुष्प, ५. बाल, ६. पण्डित, ७. अर्हत्, ८. सहस्र, ९. पाप एवं १०. दण्डवर्ग॥

११. जरा, १२. आत्मा, १३. लोक, १४. बुद्ध, १५. सुख, १६. प्रिय, १७. क्रोध, १८. मल, १९. धर्मस्थ, एवं २०. मार्गवर्ग॥

पकिण्णं निरयो नागो, तण्हा भिक्खु च ब्राह्मणो।
एते छब्बीसति वग्गा, देसितादिच्चबन्धुना॥

गाथानमुद्दानं

यमके वीसति गाथा, अप्पमादम्हि द्वादस।
एकादस चित्तवग्गे, पुप्फवग्गम्हि सोळस॥
बाले च सोळस गाथा, पण्डितम्हि चतुद्दस।
अरहन्ते दस गाथा, सहस्से होन्ति सोळस॥
तेरस पापवग्गम्हि, दण्डम्हि दस सत्त च। [B.76]
एकादस जरावग्गे, अत्तवग्गम्हि ता दस॥
द्वादस लोकवग्गम्हि, बुद्धवग्गम्हि ठारस।
सुखे च पियवग्गे च, गाथायो होन्ति द्वादस॥
चुद्दस कोधवग्गम्हि, मलवग्गेकवीसति। [N.58]
सत्तरस च धम्मट्ठे, मग्गवग्गे सत्तरस॥
पकिण्णे सोळस गाथा, निरये नागे च चुद्दस।
छब्बीस तण्हावग्गम्हि, तेवीस भिक्खुवग्गिका॥

---

२१. प्रकीर्ण, २२. निरय, २३. नाग, २४. तृष्णा, २५. भिक्षु एवं २६. ब्राह्मणवर्ग—इस तरह ये २६ (छब्बीस) वर्ग भगवान् बुद्ध द्वारा इस **धर्मपद** में उपदिष्ट हुए हैं॥

धम्मपद में वर्गानुसार पठित गाथाओं की सूची

१. यमकवर्ग में	२० गाथा	२. अप्रमादवर्ग में	१२ गाथा
३. चित्तवर्ग में	११ ''	४. पुष्पवर्ग में	१६ ''
५. बालवर्ग में	१६ ''	६. पण्डितवर्ग में	१४ ''
७. अर्हद्वर्ग में	१० ''	८. सहस्रवर्ग में	१६ ''
९. पापवर्ग में	१३ ''	१०. दण्डवर्ग में	१७ ''
११. जरावर्ग में	११ ''	१२. आत्मवर्ग में	१० ''
१३. लोकवर्ग में	१२ ''	१४. बुद्धवर्ग में	१८ ''
१५. सुखवर्ग में	१२ ''	१६. प्रियवर्ग में	१२ ''
१७. क्रोधवर्ग में	१४ ''	१८. मलवर्ग में	२१ ''
१९. धर्मस्थवर्ग में	१७ ''	२०. मार्गवर्ग में	१७ ''
२१. प्रकीर्णवर्ग में	१६ ''	२२. निरयवर्ग में	१४ ''
२३. नागवर्ग में	१४ ''	२४. तृष्णावर्ग में	२६ ''

एकतालीसगाथायो, ब्राह्मणे वग्गमुत्तमे।
गाथासतानि चत्तारि, तेवीस च पुनापरे।
धम्मपदे निपातम्हि, देसितादिच्चबन्धुना ति॥

॥ धम्मपदपालि समत्ता ॥



---

२५. भिक्षुवर्ग में २३ गाथा २६. ब्राह्मणवर्ग में ४१ गाथा

इस प्रकार इस समस्त **धम्मपद** ग्रन्थ में भगवान् बुद्ध ने ४२३ (चार सौ तेईस) गाथाएँ जिज्ञासुओं को देशना के रूप में कही हैं॥

॥ धम्मपदपालि सम्पूर्ण ॥







धर्मपदपालिः

[संस्कृतभाषान्तरण]

नमस्तस्मै भगवतेऽर्हते सम्यक्सम्बुद्धाय

धर्मपदपालिः

१. यमकवर्गः प्रथमः

१. चक्षुष्पालस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

मनःपूर्वङ्गमा धर्माः, मनःश्रेष्ठा मनोमयाः।
मनसा चेत् प्रदुष्टेन, भाषते वा करोति वा।
ततस्तं दुःखमन्वेति, चक्रवद् वहतः पदम्॥ १॥

२. मृष्टकुण्डलिनमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

मनःपूर्वङ्गमा धर्माः, मनःश्रेष्ठा मनोमयाः।
मनसा चेत् प्रसन्नेन, भाषते वा करोति वा।
ततस्तं सुखमन्वेति, यथा छायानपायिनी॥ २॥

३–४. तिष्यस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

आक्रुष्टोऽहं हतश्चाहं, जितो भाण्डं हृतं च मे।
ये चैतदुपनह्यन्ति, वैरं तेषां न शाम्यति॥ ३॥
आक्रुष्टोऽहं हतश्चाहं, जितो भाण्डं हृतं च मे।
ये नैतदुपनह्यन्ति, वैरं तेषूपशाम्यति॥ ४॥

५. कालयक्षिणीमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

न हि वैरेण वैराणि, शाम्यन्तीह कदाचन।
अवैरेण च शाम्यन्तीत्येष धर्मः सनातनः॥ ५॥

६. कौशाम्बिवासिभिक्षूनभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

परे च न विजानन्ति, गमिष्याम इतो वयम्।
ये च तत्र विजानन्ति, ततः शाम्यन्ति मेधगाः॥ ६॥

७. महाकालस्थविरमुद्दिश्य : : श्वेतव्यनगरे शिंशपावने

पश्यन्तं वै शुभं भिक्षुमिन्द्रियेषु न्वसंवृतम्।
अमात्रज्ञं भोजने च, कुसीदं हीनवीर्यकम्।
तं वै प्रसहते मारो, वातो दुर्बलवृक्षवत्॥ ६॥

पश्यन्तमशुभं भिक्षुमिन्द्रियेषु सुसंवृतम्।
मात्रज्ञं भोजने चैव, श्रद्धालुं कृतवीर्यकम्।
तं न प्रसहते मारो, वातोऽभेद्यं गिरिं यथा॥ ८॥ •

८. देवदत्तस्य काषायलाभमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

अनिष्कषायः काषायं यो वस्त्रं धारयिष्यति।
अपेतो दमसत्याभ्यां न स काषायमर्हति॥ ९॥ •
यश्च वान्तकषायः स्यात्, शीलेषु सुसमाहितः।
उपेतो दमसत्याभ्यां, स वै काषायमर्हति॥ १०॥ •

९. सारिपुत्तप्रकरणे सञ्जयस्यानागमनमुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

असारे सारमतयः, सारे चासारदर्शिनः।
ते सारं नाधिगच्छन्ति, मिथ्यासङ्कल्पगोचराः॥ ११॥
सारं च सारतो ज्ञात्वा, असारं च असारतः।
ते सारमधिगच्छन्ति, सम्यक्सङ्कल्पगोचराः॥ १२॥ •

१०. नन्दस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

दुश्छन्नं हि यथागारं, वृष्टिः समतिविध्यति।
एवमभावितं चित्तं, रागः समतिविध्यति॥ १३॥
सुच्छन्नं हि यथागारं, वृष्टिर्न विनिविध्यति।
एवं सुभावितं चित्तं, रागो न विनिविध्यति॥ १४॥ •

११. चुन्दं शौकरिकमभिलक्ष्य : : राजगृहे वेणुवने

इह शोचति प्रेत्य शोचति, पापकारी ह्युभयत्र शोचति।
स शोचति स विहन्यते, दृष्ट्वा कर्म क्लेशनमात्मनः॥ १५॥ •

१२. कमपि धार्मिकमुपासकमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

इह मोदते प्रेत्य मोदते, कृतपुण्य उभयत्र मोदते।
स मोदते स प्रमोदते, दृष्ट्वा कर्मविशोधनमात्मनः॥ १६॥ •

१३. देवदत्तमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

इह तप्यति प्रेत्य तप्यति, पापकारी ह्युभयत्र तप्यति।
पापं मया कृतमिति तप्यति, भूयस्तप्यति दुर्गतिं गतः॥ १७॥ •

१४. सुमनोदेवीमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

इह नन्दति प्रेत्य नन्दति, कृतपुण्य उभयत्र नन्दति।
पुण्यं मया कृतमिति नन्दति, भूयो नन्दति सुगतिं गतः॥ १८॥ •

१५. सहायकभिक्षुद्वयमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

बह्वीमपि संहितां भाषमाणो, न तत्करो ना भवति प्रमत्तः।
गोपो यथा गा गणयन् परेषां, न भागवान् श्रामण्यस्य भवति॥ १९॥
अल्पामपि संहितां भाषमाणो, धर्मस्य भवत्यनुधर्मचारी।
रागं च द्वेषं च प्रहाय मोहं, सम्यग्मतिः स सुविमुक्तचित्तः।
अनुपाददान इह वा परत्र, स भागवान् श्रामण्यस्य भवति॥ २०॥•

प्रथमो यमकवर्गः सम्पन्नः॥



२. अप्रमादवर्गो द्वितीयः

१. सामावती–मागण्डियादिस्त्रीरुद्दिश्य : : कौशाम्बीनगरे घोषितारामे

अप्रमादोऽमृतपदं, प्रमादो मृत्युदायकः।
म्रियन्ते नाप्रमत्ता वै, ये प्रमत्ता यथा मृताः॥ २१॥
एवं विशेषतो ज्ञात्वा, येऽप्रमादे नु पण्डिताः।
अप्रमादे प्रमोदन्ते, आर्याणां गोचरे रताः॥ २२॥
ते ध्यायिनः साततिकाः, नित्यं दृढपराक्रमाः।
स्पृशन्ति धीरा निर्वाणं, योगक्षेममनुत्तरम्॥ २३॥ •

२. कुम्भघोषकश्रेष्ठिनमुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

उत्थायिनः स्मृतिमतः, शुचिकर्मकृतो निशम्यकारिणः।
संयतस्य धर्मजीविनोऽप्रमत्तस्य यशोऽभिवर्धते॥ २४॥ •

३. चूड़पथिकस्थविरमभिलक्ष्य : : राजगृहे वेणुवने

उत्थानेनाप्रमादेन, संयमेन दमेन च।
द्वीपं कुर्वीत मेधावी, यदौघेन(न)विकीर्यते॥ २५॥ •

४. बालनक्षत्रमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

प्रमादमनुयुञ्जन्ति, बाला दुर्मेधसो जनाः।
अप्रमादं च मेधावी, रक्षति श्रेष्ठवित्तवत्॥ २६॥

मा प्रमादमनुयुञ्जीत, मा कामरतिसंस्तवम्।
अप्रमत्तो नरो ध्यायन्, प्राप्नोति विपुलं सुखम्॥ २७॥ •

५. महाकाश्यपस्थविरमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

प्रमादमप्रमादेन, यदा नुदति पण्डितः।
प्रज्ञाप्रासादमारुह्य, अशोकः शोकिनीं प्रजाम्।
गिरिष्ठ इव भूमिष्ठान्, धीरो बालानवेक्षते॥ २८॥ •

६. प्रमत्ताप्रमत्तभिक्षुद्वयमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

अप्रमत्तः प्रमत्तेषु, सुप्तेषु बहुजागरः।
यथाऽबलाश्वं शीघ्राश्वो हित्वा याति सुबुद्धिमान्॥ २९॥ •

७. शक्रदेवराजमभिलक्ष्य : : वैशालीनगरे कूटागारशालायाम्

अप्रमादेन मघवा, देवानां श्रेष्ठतां गतः।
अप्रमादं प्रशंसन्ति, प्रमादो गर्हितः सदा॥ ३०॥ •

८. अन्यतरं भिक्षुमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

अप्रमादरतो भिक्षुः, प्रमादे भयदर्शनः।
संयोजनमणु स्थूलं गच्छत्यग्निर्दहन्निव॥ ३१॥ •

९. निगमवासितिष्यस्थविरमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

अप्रमादरतो भिक्षुः, प्रमादे भयदर्शनः।
अभव्यः परिहाणाय, निर्वाणस्यैव सन्तिके॥ ३२॥ •

• अप्रमादवर्गो द्वितीयः समाप्तः॥

३. चित्तवर्गस्तृतीयः

१. आयुष्मन्तं मेघियमुद्दिश्य : : चालिकापर्वते

स्पन्दनं चपलं चित्तं दूरक्षं दुर्निवारम्।
ऋजुकरोति मेधावी, इषुकृत् तेजनं यथा॥ ३३॥
मत्स्यो यथा स्थले क्षिप्त उदकस्यौकत उद्धृतः।
मारधेयप्रहाणाय, चित्तं स्पन्दति सर्वदा॥ ३४॥ •

२. अन्यतरभिक्षुमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

दुर्निग्रहस्य च लघोर्यत्रकामनिपातिनः।
चित्तस्य दमनं साधु, दान्तं चित्तं सुखावहम्॥ ३५॥ •

३. अन्यतरोत्कण्ठितभिक्षुमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवनविहारे

सुदुर्दर्शं सुनिपुणं यत्रकामनिपातिनम्।
चित्तं रक्षेद्धि मेधावी, गुप्तं चित्तं सुखावहम्॥ ३६॥

४. सङ्घरक्षितभागिनेयस्थविरमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

दूरङ्गममेकचरमशरीरं गुहाशयम्।
संयंस्यन्ति तु ये चित्तं मोक्ष्यन्ते मारबन्धनात्॥ ३७॥

५. चित्तहस्तस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

अनवस्थितचित्तस्य, सद्धर्ममविजानतः।
परिप्लवप्रसादस्य, प्रज्ञया नैव पूर्यते॥ ३८॥
अनवश्रुतचित्तस्य, अनन्वाहतचेतसः।
पुण्यपापप्रहीणस्य, नास्ति वै जाग्रतो भयम्॥ ३९॥

६. आरब्धविपश्यकभिक्षुमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

कुम्भोपमं कायमिमं विदित्वा, नगरोपमं चित्तमिदं गृहीत्वा।
युध्येत मारं प्रज्ञायुधेन, जितं च रक्षेदनिवेशनः स्यात्॥ ४०॥

७. पूतिगात्रतिष्यस्थविरमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

अयं बताचिरं कायः पृथिवीमधिशेष्यते।
क्षुब्धश्चापेतविज्ञानो निष्प्रयोजनकाष्ठवत्॥ ४१॥

८. नन्दं गोपालकमभिलक्ष्य : : कौशलजनपदे

द्विट् द्विषं प्रति यत् कुर्यात्, वैरी वा पन वैरिणम्।
मिथ्याप्रणिहितं चित्तं, पापीयस्तं ततः क्रियात्॥ ४२॥

९. सौरेयस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

पितरौ तन्न कुर्याताम्, अन्ये चापि नु ज्ञातिकाः।
सम्यक्प्रणिहितं चित्तं, श्रेयः कुर्यात् ततोऽधिकम्॥ ४३॥

चित्तवर्गस्तृतीयः सम्पन्नः॥



४. पुष्पवर्गश्चतुर्थः

१. पृथ्वीकथाप्रसक्तान् पञ्चशतभिक्षूनुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे

पृथ्वीमिमां कः प्रविचेष्यतीह, यमस्य लोकं नु सदेवकं च।
सूद्देशितं धर्मपदं नरः को विचक्षणः पुष्पमिव प्रचेष्यति?॥ ४४॥
विचेष्यतमीमां पृथिवीं हि शैक्ष्यो, यमस्य लोकं नु सदेवकं च।
सूद्देशितं धर्मपदं नु शैक्ष्यो, विचक्षणः पुष्पमिव प्रचेष्यति॥ ४५॥

२. मारीचिकर्मस्थानिकभिक्षूनुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे

फेनोपमं कायमिमं विदित्वा मरीचिधर्ममभिसम्बोधमानः।
छित्त्वा स मारस्य प्रपुष्पकाणि, अदर्शनं मृत्युराजस्य गच्छेत्॥ ४६॥

३. कोशलराजपुत्रं विडूडभमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे

पुष्पाण्येव प्रचिन्वन्तं, व्यासक्तमनसं नरम्।
गच्छति मृत्युरादाय, सुप्तं ग्रामं महौघवत्॥ ४७॥

४. काश्चित् पतिपूजिकां कुमारीमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे यथाप्रसङ्गम्

पुष्पाण्येव प्रचिन्वन्तं, व्यासक्तमनसं नरम्।
अतृप्तमिव कामेसु, ह्यन्तकः कुरुते वशम्॥ ४८॥

५. मात्सर्यकौषेयश्रेष्ठिनमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे

यथापि भ्रमरः पुष्पं, वर्णगन्धमहेठयन्।
परैति रसमादाय, ग्रामे एवं मुनिश्चरेत्॥ ४९॥

६. कश्चित् पावेयकमाजीवकमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे

न परेषां विलोमानि, न परेषां कृताकृतम्।
आत्मन एव पश्येद्वै, अकृतानि कृतानि च॥ ५०॥

७. छत्रपाण्युपासकमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे

यथापि रुचिरं पुष्पं, वर्णवत् सद् अगन्धकम्।
एवं सुभाषिता वाचा, निष्फला स्यादकुर्वतः॥ ५१॥
यथापि रुचिरं पुष्पं, वर्णवद्वै सगन्धकम्।
एवं सुभाषिता वाचा, सफला भवति कुर्वतः॥ ५२॥

८. विशाखामुपासिकामुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे पूर्वारामे

यथापि पुष्पराशिभ्यः, कुर्यान्मालागुणान् बहून्।
एवं जातेन मर्त्त्येन, कर्तव्यं कुशलं बहु॥ ५३॥ •

९. आयुष्मन्तमानन्दस्थविरमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे

न पुष्पगन्धः प्रतिवातमेति, न चन्दनं तगरं मल्लिका वा।
सतां च गन्धः प्रतिवातमेति, सर्वा दिशः सत्पुरुषः प्रवाति॥ ५४॥
चन्दनं तगरं वापि, उत्पलं चाथ वार्षिकी।
एतेषु गन्धजातेषु शीलगन्धो ह्यनुत्तरः॥ ५५॥ •

१०. महाकाश्यपस्थविरमभिलक्ष्य : : राजगृहे वेणुवने

गन्धोऽयं तगरादीनां स्वल्पमात्रं हि दृश्यते।
यश्च शीलवतां गन्धो वाति देवेषु चोत्तमः॥ ५६॥ •

११. गोधिकस्थविरस्य परिनिर्वाणमुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

तेषां सम्पन्नशीलानामप्रमादविहारिणाम्।
सम्यग्ज्ञानविमुक्तानां मारो मार्गं न विन्दति॥ ५७॥ •

१२. गर्हादत्तनामकं निर्ग्रन्थश्रावकमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

यथा सङ्कारधाने वै, उज्झिते नु बृहत्पथे।
पद्मं तत्र नु जायेत, शुचिगन्धं मनोरमम्॥ ५८॥
एवं सङ्कारभूतेषु, ह्यन्धभूते महाजने।
सम्यक्सम्बुद्धशिष्यो वै, प्रज्ञया रोचते भृशम्॥ ५९॥ •

पुष्पवर्गश्चतुर्थः समाप्तः॥



५. बालवर्गः पञ्चमः

१. कौशलराजप्रसेनजितमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

दीर्घा वै जाग्रतो रात्रिर्दीर्घं श्रान्तस्य योजनम्।
दीर्घो बालस्य संसारः, सद्धर्ममविजानतः॥ ६०॥ •

२. महाकाश्यपस्थविरसहविहारिकमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

चरँश्चेन्नाधिगच्छेद्वै, श्रेयांसं तुल्यमात्मनः।
एकचर्यां दृढां कुर्यान्नास्ति बाले सहायता॥ ६१॥ •

३. आनन्दश्रेष्ठिनमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

पुत्रो मेऽस्ति, धनं मेऽस्ति, इति बालो विहन्यते।
आत्मैव ह्यात्मनो नास्ति, कुतः पुत्राः कुतो धनम्!॥ ६२॥ •

४. ग्रन्थिभेदकंचौरानभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

यो बालो मन्यते बाल्यं, पण्डितो वापि तेन सः।
बालश्च पण्डितम्मन्यः, स वै बाल इतीर्यते॥ ६३॥ •

५. आयुष्मन्तमुदायिस्थविरमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

यावज्जीवं नु बालश्चेत्, पर्युपास्ते हि पण्डितम्।
न स धर्मं विजानाति, दर्वी सूपरसं यथा॥ ६४॥ •

६. त्रिंशत्पावेयकभिक्षुजनानुद्दिश्य : : जेतवने श्रावस्तीनगरे

मुहूर्तमपि चेद्विज्ञः, पर्युपास्ते हि पण्डितम्।
क्षिप्रं धर्मं विजानाति, जिह्वा सूपरसं यथा॥ ६५॥ •

७. सुप्रबुद्धं कुष्ठरोगिणमुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

चरन्ति बालाः कुधियोऽमित्रेणेवात्मना स्वयम्।
कुर्वन्तः पापकं कर्म तस्यास्ति कटुकं फलम्॥ ६६॥ •

८. एकं कृषकमारभ्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

न तत् कर्म कृतं साधु, यत् कृत्वा ह्यनुतप्यते।
रुदन्नश्रुमुखो यस्य, विपाकं प्रतिसेवते॥ ६७॥ •

९. सुमनसं मालाकारमुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

तच्च कर्म कृतं साधु, यत् कृत्वा नानुतप्यते।
यस्य प्रतीतं सुमना विपाकं प्रतिसेवते॥ ६८॥ •

१०. उत्पलवर्णां बुद्धश्राविकामुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

मध्विव मन्यते बालो यावत् पापं न पच्यते।
यदा च पच्यते पापं, दुःखं बालो निगच्छति॥ ६९॥ •

११. जम्बुकाजीवकमभिलक्ष्य : : राजगृहे वेणुवने

मासे मासे कुशाग्रेण, बालो भुंक्ते हि भोजनम्।
न स सङ्ख्यातधर्माणां, कलामर्हति षोडशीम्॥ ७०॥ •

१२. कञ्चित् अहिप्रेतमुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

नहि पापं कृतं कर्म, सद्यो मुञ्चति दुग्धवत्।
दहत् तद् बालमन्वेति, भस्मावृतवह्निवत्॥ ७१॥ •

१३. षष्टिकूटप्रेतमभिलक्ष्य : : राजगृहे वेणुवने

यावदेव ह्यनर्थाय, ज्ञप्तं बालस्य जायते।
हन्ति बालस्य शुक्लांशं, तन्मूर्धानं विपातयन्॥ ७२॥ •

१४. चित्तगृहपतिमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

असतीं भावनामिच्छेत्, पुरस्कारं च भिक्षुषु।
आवासेषु च ऐश्वर्यं, पूजां परकुलेषु च॥ ७३॥
'कृतं ममैव मन्येतां गृहिप्रव्रजितावुभौ।
ममैवातिवशौ स्यातां कृत्याकृत्येषु केषुचित्'॥ ७४॥
इति बालस्य सङ्कल्प इच्छा, मानश्च वर्धते॥ •

१५. वनवासितिष्यश्रामणेरमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

'अन्योपनिषद्धि लाभस्य, अन्या निर्वाणगामिनी'।
एवमेतदभिज्ञाय, भिक्षुर्बुद्धस्य श्रावकः।
सत्कारं नाभिनन्देद् वै, विवेकमनुबृंहयेत्॥ ७५॥ •

बालवर्गः पञ्चमः समाप्तः॥

६. पण्डितवर्गः षष्ठः

१. आयुष्मन्तं राधस्थविरमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

निधीनां च प्रवक्तारं सम्पश्येद्वर्ज्यदर्शिनम्।
निगृह्यवादिसुधियं तादृशं पण्डितं भजेत्॥
तादृशं भजमानस्य श्रेय एव न पापकम्॥ ७६॥ •

२. अश्वजित्–पुनर्वसुभिक्षू आरभ्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

उपदिशेदनुशिष्याद्वै, असभ्याच्च निवारयेत्।
सतां हि स प्रियो भूयादप्रियश्चासतां ननु॥ ७७॥ •

३. आयुष्मन्तं छन्नस्थविरमारभ्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

भजेन्न पापमित्राणि, न भजेत् पुरुषाधमान्।
भजेत् कल्याणमित्राणि, भजेत पुरुषोत्तमान्॥ ७८॥ •

४. महाकप्पिनस्थविरमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

धर्मप्रीतिः सुखं शेते, विप्रसन्नेन चेतसा।
आर्यप्रवेदिते धर्मे, पण्डितो रमते सदा॥ ७९॥ •

५. पण्डितश्रामणेरमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

उदकं हि नयन्ति नेतृकाः, इषुकारा नमयन्ति तेजनम्।
नमयन्ति हि दारु तक्षकाः, आत्मानं दमयन्ति पण्डिताः॥ ८०॥ •

६. लकुण्टकभद्रियस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

यथा ह्येकघनः शैलो, वातेन न समीर्यते।
एवं निन्दाप्रशंसासु, समीर्यन्ते न पण्डिताः॥ ८१॥ •

७. काणमातरमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

ह्रदो यथा हि गम्भीरो, विप्रसन्नो ह्यनाविलः।
मत्तः श्रुत्वा तथा धर्मान्, विप्रसीदन्ति पण्डिताः॥ ८२॥ •

८. पञ्चशतभिक्षूनुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

सर्वत्र वै सत्पुरुषास्त्यजन्ति, न कामकामा लपयन्ति सन्तः।
दुःखेन स्पृष्टा अथवा सुखेन, नोच्चावचं पण्डिता दर्शयन्ति॥ ८३॥ •

९. धार्मिकस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

न स्वस्य हेतोर्न परस्य हेतोर्न पुत्रमिच्छेन्न धनं न राष्ट्रम्।
नेच्छेदधर्मेण समृद्धिमात्मनः, स शीलवान् पण्डितो धार्मिकः स्यात्॥ ८४॥•

१०. धर्मश्रवणार्थं भिक्षूणामुत्साहसंवर्धनाय : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

अल्पकास्ते मनुष्येषु, ये जनाः पारगामिनः।
अथेयमितरा प्रजा, तीरमेवानुधावति॥ ८५॥
ये खलु सम्यगाख्याते, धर्मे धर्मानुदर्शिनः।
ते जनाः पारमेष्यन्ति, मृत्युधेयं सुदुस्तरम्॥ ८६॥ •

११. पञ्चशतमागन्तुकान् भिक्षूनुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

कृष्णं धर्मं विप्रहाय, सुधीः शुक्लं नु भावयेत्।
ओकादनोकमागत्य, विवेके यत्र दूरमम्॥ ८७॥
तत्राभिरतिमिच्छेद्वै, हित्वा कामानकिञ्चनः।
पर्यवदापयेत् स्वं वै, चित्तक्लेशैः स पण्डितः॥ ८८॥

सम्बोध्यङ्गेषु येषां च, सम्यक् चित्तं सुभावितम्।
आदान-प्रतिनिःसर्गे, अनुपादाय ये रताः।
क्षीणाश्रवा द्युतियुतास्ते लोके परिनिर्वृताः ॥ ८९ ॥ •

पण्डितवर्गः षष्ठः समाप्तः ॥



७. अर्हद्वर्गः सप्तमः

१. जीवकपृष्टप्रश्नमुद्दिश्य : : राजगृहे जीवकाम्रवने

गताध्वनो विशोकस्य, विप्रमुक्तस्य सर्वतः।
सर्वग्रन्थविहीनस्य, परिदाहो न विद्यते ॥ ९० ॥ •

२. महाकाश्यपस्थविरमुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

यतन्ते स्मृतिमाधाय, रमन्ते न गृहेषु ते।
हंसवत् पल्वलं हित्वा ओकमोकं तरन्ति ते ॥ ९१ ॥ •

३. विल्वास्थिशीर्षस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

येषां सन्निचयो नास्ति, ये परिज्ञातभोजनाः।
शून्यतो ह्यनिमित्तश्च, विमोक्षो यस्य गोचरः।
नभसीव शकुन्तानां गतिस्तस्य दुरन्वया ॥ ९२ ॥ •

४. अनुरुद्धस्थविरमभिलक्ष्य : : राजगृहे वेणुवने

यस्याश्रवाः परिक्षीणाः, आहारे खल्वनिःसृतः।
अनिमित्तः शून्यतश्च, विमोक्षो यस्य गोचरः।
शकुन्तानामिवाकाशे, पदं तस्य दुरन्वयम् ॥ ९३ ॥ •

५. महाकात्यायनस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे पूर्वारामे

यस्येन्द्रियाणि शमथं गतानि, अश्वा यथा सारथिना सुदन्ताः।
प्रहीणमानस्य अनाश्रवस्य, देवा नु तस्मै स्पृहयन्ति तादृशे ॥ ९४ ॥ •

६. सारिपुत्रस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

पृथ्वीसमो न विरुध्यते, इन्द्रकीलोपमः सुव्रतस्तादृक्।
ह्रदवदपेतकर्दमः, संसाराणि न सन्ति तादृशः ॥ ९५ ॥ •

७. कौशाम्बिवासितिष्यस्थविरमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

शान्तं कर्म शमा वाचा, शान्तं भवति तन्मनः।
सम्यगाज्ञाविमुक्तस्य, ह्युपशान्तस्य तादृशः॥ ९६॥ •

८. सारिपुत्रस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

अश्रद्धश्चाकृतज्ञश्च, सन्धिच्छेदश्च यो नरः।
हतावकाशो वान्ताशः, स वै उत्तमपूरुषः॥ ९७॥ •

९. खदिरवनीयरेवतस्थविरमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

ग्रामे वा यदि वारण्ये, निम्ने वा यदि वा स्थले।
अर्हन्तो यत्र विहरन्ति, सा भूमी रमणीयका॥ ९८॥ •

१०. काञ्चिदन्यतरां स्त्रियमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवनारामे

रमणीयान्यरण्यानि, न यत्र रमते जनः।
वीतरागा हि रंस्यन्ते, न ते कामगवेषिणः॥ ९९॥ •

अर्हद्वर्गः सप्तमः समाप्तः॥

८. सहस्रवर्गोऽष्टमः

१. ताम्रदंष्ट्रिकचौरघातकमुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

सहस्रमपि चेद्वाचो, ह्यनर्थपदसंहिताः।
एकमर्थपदं श्रेयः, श्रुत्वा यदुपशाम्यति॥ १००॥ •

२. बाह्यदारुचीवरीयस्थविरमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

सहस्रमपि चेद् गाथाः, अनर्थपदसंहिताः।
एकं गाथापदं श्रेयः, श्रुत्वा यदुपशाम्यति॥ १०१॥ •

३. कुण्डलकेशीं श्राविकामुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

गाथाः शतं यो भाषेत, ह्यनर्थपदसंहिताः।
एकं धर्मपदं श्रेयः, श्रुत्वा यदुपशाम्यति॥ १०२॥
यः सहस्रं सहस्रेण, संग्रामे मानुषान् जयेत्।
जयेदात्मानमेकं च, स संग्राममजिदुत्तमः॥ १०३॥ •

४. अनर्थप्रश्नं कञ्चिद् ब्राह्मणमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

आत्मा ह वै जितः श्रेयान्, या चेयमितरा प्रजा।
पुरुषस्यात्मदान्तस्य, नित्यं संयतचारिणः॥ १०४॥

नैव देवो न गन्धर्वो न मारो ब्रह्मणा सह।
जितमपजितं कुर्याज्जन्तोस्तु खलु तादृशः॥ १०५॥ •

५. सारिपुत्रमातुलब्राह्मणमुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

मासे मासे सहस्त्रेण, यो यजेत शतं समाः।
एकं च भावितात्मानं, मुहूर्तमपि पूजयेत्।
श्रेयसी पूजना सैव, यन्न वर्षशतं हुतम्॥ १०६॥ •

६. सारिपुत्रस्थविरभागिनेयमुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

यश्च वर्षशतं जन्तुरग्निं परिचरेद् वने।
एकं च भावितात्मानं, मुहूर्तमपि पूजयेत्।
पूजना श्रेयसी सैव, न यद् वर्षशतं हुतम्॥ १०६॥ •

७. सहायकब्राह्मणमुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

यत् किञ्चिदिष्टं च हुतं च लोके, संवत्सरं यजते पुण्यकांक्षः।
तत् सर्वमपि न चतुर्थांशमेति, श्रेयस्करी यार्जुगतेषु वन्दना॥ १०६॥•

८. दीर्घायुष्कुमारमभिलक्ष्य : : दीर्घलङ्घिकनगरे अरण्यकुट्याम्

अभिवादनशीलस्य, नित्यं वृद्धोपजिविनः।
चत्त्वारो धर्मा वर्धन्ते, आयुर्वर्णः सुखं बलम्॥ १०९॥ •

९. साङ्कृत्यश्रामणेरमुद्दिश्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

यश्च वर्षशतं जीवेद्, दुश्शीलश्चासमाहितः।
एकाहो जीवितं श्रेयः, शीलिनो ध्यायिनस्तथा॥ ११०॥ •

१०. स्थाणुकौण्डिन्यस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

यश्च वर्षशतं जीवेद्, दुष्प्रज्ञश्चासमाहितः।
एकाहो जीवितं श्रेयः, प्रज्ञायुक्तस्य ध्यायिनः॥ १११॥ •

११. सर्पदासस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

यश्च वर्षशतं जीवेत् कुसीदो हीनवीर्यवान्।
एकाहो जीवितं श्रेयो वीर्यमारभतो दृढम्॥ ११२॥ •

१२. पटाचारश्राविकामारभ्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

यश्च वर्षशतं जीवेद्, अपश्यँश्चोदयव्ययम्।
एकाहो जीवितं श्रेयः पश्यतो ह्युदयव्ययम्॥ ११३॥ •

१३. कृशां गौतमीमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

यश्च वर्षशतं जीवेद्, अपश्यन्नमृतं पदम्।
एकाहो जीवितं श्रेयः, पश्यतो ह्यमृतं पदम्॥ ११४॥ •

१४. बहुपुत्रिकां श्राविकामारभ्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

यश्च वर्षशतं जीवेद्, अपश्यन् धर्ममुत्तमम्।
एकाहो जीवितं श्रेयः पश्यतो धर्ममुत्तमम्॥ ११५॥ •

सहस्त्रवर्गोऽष्टमः सम्पन्नः॥

९. पापवर्गो नवमः

१. क्षुद्रैकशाटकं ब्राह्मणमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

त्वरां कुर्याद्धि कल्याणे, पापाच्चित्तं निवारयेत्।
मन्दं हि कुर्वतः पुण्यं पापे हि रमते मनः॥ ११६॥ •

२. श्रेयस्कस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

पापं चेत् पुरुषः कुर्यान्न तत् कुर्यात् पुनः पुनः।
न तस्मिन् स्वैरितां कुर्याद् दुःखं पापस्य तूच्छ्रयः॥ ११६॥ •

३. लाजदेवधीतरमारभ्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

पुण्यं चेत् पुरुषः कुर्यादेतत् कुर्यात् पुनः पुनः।
तस्मिंश्च छन्दं कुर्यात् स सुखं पुण्यस्य चोच्छ्रयः॥ ११८॥ •

४. अनाथपिण्डदश्रेष्ठिनमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

भद्रं पश्यति पापोऽपि, यावत् पापं न पच्यते।
यदा च पच्यते पापम् (अथ) पापः पापानि पश्यति॥ ११९॥ •
पापं पश्यति भद्रोऽपि, यावद् भद्रं न पच्यते।
यदा च पच्यते भद्रम्, (अथ) भद्रो भद्राणि पश्यति॥ १२०॥ •

५. असंयतपरिष्कारभिक्षुमभिलक्ष्य : : श्रावस्तीनगरे जेतवने

मावमन्येत[१] पापं वै, न मामेतद्धि पक्ष्यति।
उदबिन्दुनिपातेन, ह्युदकुम्भोऽपि पूर्यते॥
बालः पूरयते पापमाचिन्वन् स्तोकमप्यथ॥ १२१॥ •

---

१. माल्पं मन्येत—पाठा०। एवमग्रिमश्लोकेऽपि।

६. विडालपादकश्रेष्ठिनमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

मावमन्येत पुण्यं वै, न मामेतद्धि पक्ष्यति।
उदबिन्दुनिपातेन, ह्युदकुम्भोऽपि पूर्यते।
बालः पूरयते पुण्यमाचिन्वन् स्तोकमप्यथ॥ १२२॥ •

७. महाधनवणिजमारभ्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

वणिग्वत् सभयं मार्गमल्पसार्थो महद्धनः।
विषवज्जीवितं वाञ्छन् पापानि परिवर्जयेत्॥ १२३॥ •

८. कुक्कुटमित्रनिषादमारभ्य : : राजगृहे वेणुवने

पाणौ यदि व्रणं नास्य, स हरेत् पाणिना विषम्।
नाव्रणं विषमन्वेति, नास्ति पापमकुर्वतः॥ १२४॥ •

९. कोकं सुनखलुब्धकमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

यो ह्यप्रदुष्टाय नराय दुष्यति, शुद्धाय सत्त्वाय निरञ्जनाय।
प्रत्येति पापं नु तदेव बालं, यथा हि सूक्ष्मः प्रतिवातरेणुः॥ १२५॥•

१०. मणिकारकुलोपगतिष्यस्थविरमालक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

उत्पद्यन्ते गर्भमेके, निरयं पापिनस्तथा।
स्वर्गं सुगतयो यन्ति, परिनिर्वान्त्यनाश्रवाः॥ १२६॥ •

११. जनत्रयमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

न ह्यन्तरिक्षे न समुद्रमध्ये, न पर्वतानां विवरं प्रविश्य।
न विद्यते स जगति प्रदेशो, यतो हि मुच्येत नु पापकर्मणः॥ १२७॥•

१२. सुप्रबुद्धशाक्यमभिलक्ष्य : : न्यग्रोधारामे (कपिलवस्तुनगरे)

न ह्यन्तरिक्षे न समुद्रमध्ये, न पर्वतानां विवरं प्रविश्य।
न विद्यते स जगति प्रदेशो, यतो हि मुच्येत नु मृत्युपाशात्॥ १२८॥•

नवमः पापवर्गः सम्पन्नः॥



१०. दशमो दण्डवर्गः

१. षड्वर्गीयान् भिक्षूनारभ्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

सर्वे त्रस्यन्ति दण्डाद्वै, सर्वे बिभ्यति मृत्युतः।
आत्मानमुपमां कृत्वा, न हन्यान्न च घातयेत्॥ १२९॥ •

२. षड्वर्गीयान् भिक्षूनेवारभ्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

सर्वे त्रस्यन्ति दण्डाद्वै, सर्वेषां जीवितं प्रियम्।
आत्मानमुपमां कृत्वा, न हन्यान्न च घातयेत्॥ १३०॥ •

३. सम्बहुलकुमारानुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

सुखकामानि भूतानि, दण्डेन हि हिनस्ति यः।
आत्मनः सुखमिच्छन् स, न प्रेत्य लभते सुखम्॥ १३१॥
सुखकामानि भूतानि, दण्डेन न हिनस्ति यः।
आत्मनः सुखमिच्छन् स, प्रेत्य वै लभते सुखम्॥ १३२॥ •

४. कोण्डधानस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

मा वोचः परुषं किञ्चित्, त्वां वक्ष्यन्ति तथैव ते।
दुःखा हि संरम्भकथाः, त्वां स्पृशेयुः सदण्डकाः॥ १३३॥
नेर्यसे चेत्त्वमात्मानं, कांस्यमुपहतं यथा।
एष प्राप्तोऽसि निर्वाणं, संरम्भस्ते न विद्यते॥ १३४॥ •

५. 'उपोसथ'व्रतधारिकाः स्त्रीरुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

यथा दण्डेन गोपालो गाः प्राजयति गोचरम्।
एवं जरा च मृत्युश्चायुः प्राजयति देहिनाम्॥ १३५॥ •

६. अजगरप्रेतमभिलक्ष्य : : राजगृहे वेणुवने

अथ पापानि कर्माणि, कुर्वन् बालो न बुध्यते।
स्वकर्मभिश्च दुर्मेधास्तप्यते ह्यग्निदग्धवत्॥ १३६॥ •

७. महामौद्गल्यायनस्थविरमुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

दण्डेन यो ह्यदण्ड्येषु, अप्रदुष्टेषु दुष्यति।
दशस्वन्यतमं स्थानं, क्षिप्रमेव निगच्छति॥ १३७॥
वेदनां परुषां हानिं, शरीरस्य च भेदनम्।
आबाधं वा हि गुरुकं, चित्तक्षेपं च प्राप्नुयात्॥ १३८॥

उपसर्गं राजतो वा, अभ्याख्यानं हि दारुणम्।
परिक्षयं वा ज्ञातीनां, भोगानां वा प्रभञ्जनम्॥ १३९॥
अथ वास्य ह्यगाराणि, अग्निर्दहति पावकः।
कायस्य भेदाद् दुष्प्रज्ञो, निरयं ह्युपपद्यते॥ १४०॥ •

८. बहुभण्डकं भिक्षुमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

न नग्नचर्या न जटा न पङ्कः, तथोपवासः खलु भूमिशय्या।
रजोजलं नोत्कटिकप्रधानं विशोधयेन्मर्त्यमतीर्णकांक्षम्॥ १४१॥ •

९. सन्ततिमहामात्यमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

अलंकृतश्चापि शमं चरेद्यः, शान्तो दान्तो नियतो ब्रह्मचारी।
सर्वेषु भूतेषु निधाय दण्डं, स ब्राह्मणः स श्रमणः स भिक्षुः॥ १४२॥ •

१०. 'पिलोतिक'स्थविरमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

ह्रीनिषेधो न पुरुषः, कश्चिल्लोके हि विद्यते!
यो निन्दां न प्रबोधयति, अश्वो भद्रः कशामिव॥ १४३॥
भद्रो यथाश्वः कशया निविष्टः, आतापसंवेगयुता भवेयुः।
शीलेन वीर्येण च श्रद्धया वा, समाधिना धर्मविनिश्चयेन।
सम्पन्नविद्याचरणः प्रतिस्मृतो जहास्यथो दुःखमिदं ह्यनल्पकम्॥ १४४॥ •

११. सुखश्रामणेरमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

उदकं हि नयन्ति नेतृकाः, इषुकारा नमयन्ति तेजनम्।
नमयन्ति हि दारु तक्षकाः, आत्मानं दमयन्ति पण्डिताः॥ १४५॥ •

दण्डवर्गो दशमः सम्पन्नः॥



११. जरावर्ग एकादशः

१. विशाखायाः सहायिका अभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

को नु हासः क आनन्दो नित्यं प्रज्वलिते सति!
अन्धकारावृता यूयं गवेषयथ दीपकम्॥ १४६॥ •

२. सिरिमानामिकां गणिकामुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

पश्य चित्रकृतं बिम्बमरुष्कायं समुच्छ्रितम्।
आतुरं बहुसङ्कल्पं यस्य नास्ति ध्रुवा स्थितिः॥ १४७॥ •

३. उत्तरां स्थविरामभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

परिजीर्णमिदं रूपं रोगनीडं प्रभङ्गुरम्।
भिद्यते पूतिसन्देहो मरणान्तं हि जीवितम्॥ १४८॥ •

४. सम्बहुलाधिमानिकभिक्षूनालक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

इमानि यान्यपास्तानि, अलाबूनीव शारदे।
कपोतवर्णान्यस्थीनि, तानि दृष्ट्वा नु का रतिः!॥ १४९॥ •

५. रूपनन्दां स्थविरामुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

अस्थ्नामस्ति पुरं ह्येतत्, मांसलोहितलेपनम्।
जरा यत्र च मृत्युश्च, मानो म्रक्षः प्रतिष्ठितः॥ १५०॥ •

६. मल्लिकादेवीमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

जीर्यन्ति वै राजरथाः सुचित्राः, एतच्छरीरं जरया ह्युपेतम्।
सतां तु धर्मो न जरामुपैति, सभ्या हवै सत्पुरुषा भवन्ति॥ १५१॥ •

७. लाडुदायिस्थविरमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

अल्पश्रुतोऽयं पुरुषो जीर्यते बलिवर्दवत्।
वर्धन्ते तस्य मांसानि, प्रज्ञा त्वस्य न वर्धते॥ १५२॥ •

८. आनन्दस्थविरमुद्दिश्य : : बोधिवृक्षमूले उदानम्

अनेकजातिसंसारमधाविषमितस्ततः ।
गृहकारं गवेषयन्, दुःखा जातिः पुनः पुनः॥ १५३॥
गृहकारक! दृष्टोऽसि, (पुनः) गेहं नैव करिष्यसि!
सर्वास्ते पार्शुका भग्नाः, गृहकूटं विसंस्कृतम्।
विसंस्कारगतं चित्तं, तृष्णानां क्षयमध्यगात्॥ १५४॥ •

९. महाधनं श्रेष्ठिपुत्रमभिलक्ष्य : : ऋषिपतने मृगदावे

अचरित्वा ब्रह्मचर्यम्, अलब्ध्वा यौवने धनम्।
जीर्णक्रौञ्चाः क्षीणमत्स्ये यथा ध्यायन्ति पल्वले॥ १५५॥
अचरित्वा ब्रह्मचर्यम्, अलब्ध्वा यौवने धनम्।
पुराणानिव स्तुन्वन्तः शेरते भग्नचापवत्॥ १५६॥ •

जरावर्ग एकादशः सम्पन्नः॥



१२. आत्मवर्गो द्वादशः

१. बोधिराजकुमारमुद्दिश्य : : भेषकड़ावने (सुंसुमारगिरौ)

जानीयात् प्रियमात्मानम्, इमं रक्षेत् सुरक्षितम्।
त्रिषु चान्यतमं यामं, पण्डितः प्रतिजाग्रियात्॥ १५७॥ •

२. उपनन्दशाक्यपुत्रमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

आत्मानमेव प्रथमं, प्रतिरूपं निवेशयेत्।
अथायमन्यमनुशिष्यात्, क्लिश्येदेवं न पण्डितः॥ १५८॥ •

३. प्राधानिकतिष्यस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

आत्मानं चेत्तथा कुर्यात्, यथान्य उपदिश्यते।
परं सुदान्तो दमयेत्, आत्मा हि किल दुर्दमः॥ १५९॥ •

४. कुमारकाश्यपमातरमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

आत्मा वै आत्मनो नाथः, को नाथो हि परो भवेत्।
आत्मना हि सुदान्तेन, नाथं प्राप्नोति दुर्लभम्॥ १६०॥ •

५. महाकालोपासकमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

आत्मनैव कृतं पापमात्मजं ह्यात्मसम्भवम्।
अभिमथ्नाति दुर्बुद्धिं, वज्रमश्ममणिं यथा॥ १६१॥ •

६. देवदत्तमुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

यस्यात्यन्तं हि दौःशील्यं मालुवाततशालवत्।
करोति स तथात्मानम्, द्विट् यथैनं हि वाञ्छति॥ १६२॥ •

७. सङ्घभेदक्रियाप्रसङ्गे : : राजगृहे वेणुवने

सुकराणि ह्यसाधूनि, आत्मनश्चाहितानि वै।
यद्वै हितं च साधु च, तद्वै परमदुष्करम्॥ १६३॥ •

८. कालस्थविरमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

शासनमर्हतां यद्वै, आर्याणां धर्मजीविनाम्।
प्रतिक्रोशति दुर्मेधाः, दृष्टिं निःश्रित्य पापिकाम्॥
फलानि काष्ठकस्येव, आत्मघाताय वर्धते॥ १६४॥ •

९. चूड़कालमुपासकमधिकृत्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

आत्मना हि कृतं पापमात्मना संक्लिश्यति।
आत्मना चाकृतं पापमात्मनैव विशुध्यति।
शुद्धिरशुद्धिः प्रत्यात्ममन्यो नान्यं विशोधयेत्॥ १६५॥ •

१०. आत्मार्थस्थविरमधिकृत्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

आत्मनोऽर्थं परार्थेन बहुनापि न हापयेत्।
आत्मनोऽर्थमभिज्ञाय, सदर्थप्रसृतो भवेत्॥ १६६॥ •

आत्मवर्गो द्वादशः सम्पन्नः॥



१३. लोकवर्गस्त्रयोदशः

१. अन्यतरं युवानं भिक्षुमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

हीनं धर्मं न सेवेत, प्रमादेन न संवसेत्।
मिथ्यादृष्टिं न सेवेत, न स्याल्लोकस्य वर्धनः॥ १६७॥ •

२. पितरं (शुद्धोदनम्) अभिलक्ष्य : : न्यग्रोधारामे कपिलवस्तुनगरे

उत्तिष्ठेन्न प्रमाद्येत, धर्मं सुचरितं चरेत्।
धर्मचारी सुखं शेते, अस्मिन् लोके परत्र च॥ १६८॥
धर्मं चरेत् सुचरितं, न नं दुश्चरितं चरेत्।
धर्मचारी सुखं शेते, अस्मिन् लोके परत्र च॥ १६९॥ •

३. पञ्चशतविपश्यकभिक्षूनधिकृत्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

यथा बुद्बुदकं पश्येद्, यथा पश्येन्मरीचिकाम्।
एवं लोकं नु पश्यन्तं, मृत्युराजो न पश्यति॥ १७०॥ •

४. अभयराजकुमारमभिलक्ष्य : : राजगृहे वेणुवने

एत, पश्यतेमं लोकं, चित्रं राजरथोपमम्।
यत्र बाला विषीदन्ति, नास्ति सङ्गो विजानताम्॥ १७१॥ •

५. सम्मार्जनिस्थविरमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

यश्च पूर्वं प्रमाद्यापि, पश्चात् स न प्रमाद्यति।
प्रभासयति लोकं वै, अभ्रमुक्तो यथा शशी॥ १७२॥ •

६. अङ्गुलिमालस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्या जेतवने

यस्य पापं कृतं कर्म, कुशलेन पिधीयते।
प्रभासयति लोकं वै, अभ्रान्मुक्तो यथा शशी॥ १७३॥ •

७. तन्तुवायपुत्रीमुद्दिश्य : : अग्गालवचैत्ये

चक्षुर्विहीनो लोकोऽयं, तनुकोऽत्र विपश्यति।
पक्षी यथा जालमुक्तः, अल्पः स्वर्गं गमिष्यति॥ १७४॥ •

८. त्रिंशद् भिक्षूनुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

हंसाः सूर्यपथे यन्ति, आकाशे यन्ति ऋद्धिकाः।
धीरा लोकाद्धि नीयन्ते जित्वा मारं ससेनकम्॥ १७५॥ •

९. चिञ्चमाणविकामुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

धर्ममेकमतीतस्य, प्राणिनोऽसत्यभाषिणः।
वितृष्णपरलोकस्य, नास्ति पापमकृत्यकम्॥ १७६॥ •

१०. असदृशदानप्रशंसा : : श्रावस्त्यां जेतवने

स्वर्गं न गच्छन्ति कदापि लोभिनो, दानं प्रशस्तं न कदापि मूर्खैः।
धीरश्च दानं ह्यनुमोदमानः, सुखी भवत्यत्र परत्र लोके॥ १७७॥•

११. कालमनाथपिण्डदपुत्रमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

पृथिव्याश्चैकराज्याद्वै, स्वर्गस्य गमनादथ।
श्रेयसी स्त्रोतआपत्तिः, सर्वलोकाधिपत्यतः॥ १७८॥ •

लोकवर्गस्त्रयोदशः सम्पन्नः॥



१४. बुद्धवर्गश्चतुर्दशः

१. मारपुत्रीमुद्दिश्य : : बोधिमण्डे

यस्य जितं नावजीयते, जितमस्य न याति कश्चिल्लोके।
तं बुद्धमनन्तगोचरम्, अपदं केन पदेन नेष्यथ!॥ १७९॥
यस्य जालिनी विषात्मिका, तृष्णा नास्ति क्वचिन्नेतुम्।
तं बुद्धमनन्तगोचरम्, अपदं केन पदेन नेष्यथ!॥ १८०॥

२. बहून् देवान् मनुष्याँश्चाभिलक्ष्य : : साङ्काश्यनगरद्वारे

ये ध्यानप्रसृता धीराः, नैष्कर्म्योपशमे रताः।
देवास्तेभ्यः स्पृहयन्ति बुद्धेभ्यः स्मरणशीलेभ्यः॥ १८१॥

३. एरकपत्रनागराजमुद्दिश्य : : वाराणस्याम्

कृच्छ्रा मनुष्यताप्राप्तिः, कृच्छ्रं मानवजीवनम्।
कृच्छ्रं सद्धर्मश्रवणं, कृच्छ्रा बुद्धस्थितिर्भृशम्॥ १८२॥

४. आनन्दस्थविरमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

सर्वपापस्याकरणं कुशलस्योपसम्पदा।
स्वचित्तपर्यवदानम्, एतद् बुद्धानुशासनम्॥ १८३॥
क्षान्तिः परमं तपस्तितिक्षा, निर्वाणं परमं वदन्ति बुद्धाः।
नहि प्रव्रजितः परोपघाती, श्रमणो भवति परं विहेठमानः॥ १८४॥
अनपवादोऽनपघातः, प्रातिमोक्षे च संवरः।
मात्राज्ञता च भक्ते वै, प्रान्ते च शयनासनम्।
आयोगश्चाधिचित्तं वै, एतद् बुद्धानुशासनम्॥ १८५॥

५. कञ्चिद् अभिरतभिक्षुमुद्दिश्य : : जेतवने श्रावस्त्याम्

न कार्षापणवर्षेण तृप्तिः कामेषु विद्यते।
'अल्पस्वादयुतान् दुःखान् कामान् विज्ञाय पण्डितः॥ १८६॥
अपि दिव्येषु कामेषु स रतिं नाधिगच्छति।
तृष्णाक्षयरतश्चासौ सम्यक्सम्बुद्धश्रावकः॥ १८७॥

६. अग्निदत्तब्राह्मणमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

बहु वै शरणं यान्ति, पर्वताँश्च वनानि च।
आरामवृक्षचैत्यानि, मनुष्या भयतर्जिताः॥ १८८॥

नैतत् खलु शरणं क्षेमं, नैतच्छरणमुत्तमम्।
नैतत् शरणमागत्य, सर्वदुःखात् प्रमुच्यते॥ १८९॥
यश्च बुद्धं च धर्मं च, सङ्घं च शरणं गतः।
चत्वारि आर्यसत्यानि, पश्यति सम्यक्प्रज्ञया॥ १९०॥
दुःखं दुःखसमुत्पादं, दुःखस्य समतिक्रमम्।
आर्यं चाष्टाङ्गिकं मार्गं दुःखोपशमगामिनम्॥ १९१॥
एतत् खलु शरणं क्षेमम्, एतच्छरणमुत्तमम्।
एतच्छरणमागत्य सर्वदुःखात् प्रमुच्यते॥ १९२॥ •

७. आनन्दस्थविरमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

दुर्लभः पुरुषः श्रेष्ठो न स सर्वत्र जायते।
यत्र स जायते धीरस्तत् कुलं सुखमेधते॥ १९३॥ •

८. सम्बहुलभिक्षूनधिकृत्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

बुद्धोत्पादः सुखः प्रोक्तः, सुखा सद्धर्मदेशना।
सुखा सङ्घस्य सामग्री, समग्राणां तपः सुखम्॥ १९४॥ •

९. काश्यपदशबलसौवर्णचैत्यमारभ्य : : चारिकायाम्

पूज्यान् पूजयतो बुद्धान्, यदि वा श्रावकानथ।
प्रपञ्चसमतिक्रान्तान्, तीर्णशोकपरिद्रवान्॥ १९५॥
ताँस्तादृशः पूजयतो निर्वृतानकुतोभयान्।
न शक्यं पुण्यं सङ्ख्यातुमियन्मात्रं तु केनचित्॥ १९६॥ •

बुद्धवर्गश्चतुर्दशः सम्पन्नः॥

१५. सुखवर्गः पञ्चदशः

१. ज्ञातिकानां कलहोपशान्त्यर्थम् : : शाक्यदेशे

सुसुखं बत जीवामो, यथा वैरिष्ववैरिणः।
वैरिष्वपि मनुष्येषु, विहरामो ह्यवैरिणः॥ १९७॥
सुसुखं बत जीवामः, आतरेषु त्वनातुराः।
आतुरेषु मनुष्येषु, विहरामो ह्यनातुराः॥ १९८॥
सुसुखं बत जीवामः, उत्सुकेषु त्वनुत्सुकाः।
उत्सुकेषु मनुष्येषु, विहरामो ह्यनुत्सुकाः॥ १९९॥ •

२. मारं पापिनमारभ्य : : पञ्चशालायां ब्राह्मणग्रामे

सुसुखं बत जीवामो, येषां नो नास्ति किञ्चन।
प्रीतिभक्षा भविष्यामः, देवा आभास्वरा यथा॥ २००॥ •

३. कोशलराजस्यपराजयप्रसङ्गे : : श्रावस्त्यां जेतवने

जयो वैरं प्रसूतेऽत्र, दुःखं शेते पराजितः।
उपशान्तः सुखं शेते, हित्वा जयपराजयौ॥ २०१॥ •

४. अन्यतरां कुलदारिकामुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

अग्नी रागसमो नान्यः, नास्ति द्वेषसमः कलिः।
न स्कन्ध इव दुःखानि, नास्ति शान्तिपरं सुखम्॥ २०२॥ •

५. कञ्चिदेकमुपासकमारभ्य : : आळव्याम्

जिघत्सा परमो रोगः, संस्कारः परमं दुःखम्।
एतज्ज्ञात्वा यथाभूतं निर्वाणं परमं सुखम्॥ २०३॥ •

६. कौशलराजानं प्रसेनजितमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

आरोग्यपरमा लाभाः, सन्तुष्टिः परमं धनम्।
विश्वासः परमो ज्ञातिः, निर्वाणं परमं सुखम्॥ २०४॥ •

७. तिष्यस्थविरमारभ्य : : वैशालिनगरे

प्रविवेकरसं पीत्वा, रसं चोपशमस्य वै।
निद्दरो भवति निष्पापो, धर्मप्रीतिरसं पिबन्॥ २०५॥ •

८. देवराजशक्रमारभ्य : : वेणुवग्रामे

साधु दर्शनमार्याणाम्, सन्निवासः सदा सुखम्।
अदर्शनेन बालानां नित्यमेव सुखी भवेत्॥ २०६॥
बालसङ्गतचारी हि, दीर्घमध्वानं शोचति।
दुःखो बालेन संवासः, अमित्रेणेव सर्वदा।
धीरश्च सुखसंवासः, यथा ज्ञातिसमागमः॥ २०७॥
धीरं च प्राज्ञं च बहुश्रुतं च, धौरेयशीलं व्रतवन्तमार्यम्।
तं तादृशं सत्पुरुषं सुबुद्धिं, भजेत नक्षत्रपथं यथा शशी॥ २०८॥ •

सुखवर्गः पञ्चदशः सम्पन्नः॥



१६. प्रियवर्गः षोडशः

१. प्रव्रजितत्रयमारभ्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

युञ्जन्नयोग आत्मानम्, तथा योगे न्वयोजयन्।
अर्थं हित्वा प्रियग्राही, ईर्ष्येदात्मानुयोगिनम्॥ २०९॥
न प्रियैः सङ्गतिं कुर्यात्, अप्रियैश्च कदाचन।
प्रियस्य दर्शनं दुःखमप्रियाणां च दर्शनम्॥ २१०॥
तस्मात् प्रियं न कुर्याद्धि, प्रियापायो हि पापकः।
तेषां न जायते ग्रन्थिः, नास्ति येषां प्रियाप्रियम्॥ २११॥ •

२. अन्यतरं कञ्चित् कौटुम्बिकमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

प्रियतो जायते शोकः, प्रियतो जायते भयम्।
प्रियतो विप्रमुक्तस्य, नास्ति शोकः कुतो भयम्!॥ २१२॥ •

३. विशाखामुपासिकामुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

प्रेमतो जायते शोकः, प्रेमतो जायते भयम्।
प्रेमतो विप्रमुक्तस्य, नास्ति शोकः कुतो भयम्!॥ २१३॥ •

४. लिच्छविकुमारानाधृत्य : : कूटागारशालायाम् (वैशालीनगरे)

रत्या हि जायते शोकः, रत्या वै जायते भयम्।
रत्या हि विप्रमुक्तस्य, नास्ति शोकः कुतो भयम्!॥ २१४॥ •

५. अस्त्रीगन्धकुमारमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

कामतो जायते शोकः, कामतो जायते भयम्।
कामतो विप्रमुक्तस्य, नास्ति शोकः कुतो भयम्!॥ २१५॥ •

६. अन्यतरं ब्राह्मणमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

तृष्णाया जायते शोकः, तृष्णाया जायते भयम्।
तृष्णाया विप्रमुक्तस्य, नास्ति शोकः कुतो भयम्!॥ २१६॥ •

७. पञ्चशतदारकानभिलक्ष्य : : राजगृहे वेणुवने

शीलदर्शनसम्पन्नं, धर्मस्थं सत्यवादिनम्।
आत्मनः कर्म कुर्वन्तं, तं जनः कुरुते प्रियम्॥ २१७। •

८. किञ्चिद नागामिनं स्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

अनाख्यातश्छन्दजाते, मनसा च स्फुटो भवेत्।
अबद्धचित्तः कामेषूर्ध्वस्त्रोता अभिधीयते ॥ २१८ ॥ •

९. नन्दियमारभ्य : : ऋषिपतने मृगदावे

जनं प्रवासिनं कञ्चिद् दूरतः स्वस्थमागतम्।
सुहृदो ज्ञातिमित्राणि, अभिनन्दन्ति चागतम् ॥ २१९ ॥
तथैव कृतपुण्यं तम्, अस्माल्लोकात् परं गतम्।
पुण्यानि प्रतिगृह्णन्ति, प्रियं ज्ञातिमिवागतम् ॥ २२० ॥ •

प्रियवर्गः षोडशः सम्पन्नः ॥

१७. क्रोधवर्गः सप्तदशः

१. क्षत्रियकन्यां रोहिणीमभिलक्ष्य : : न्यग्रोधारामे (कपिलवस्तुनगर्याम्)

क्रोधं जहीत, प्रजहीत मानं, संयोजनं सर्वमतिक्रमध्वम्।
असज्यमानं खलु नामरूपयोरकिञ्चनं नानुपतन्ति तापाः ॥ २२१ ॥ •

२. अन्यतरं भिक्षुमुद्दिश्य : : अग्गाळवचैत्ये

यो वै उत्पतितं क्रोधं, रथं भ्रान्तं च धारयेत्।
तमहं सारथिं वच्मि, रश्मिग्राहोऽपरो जनः ॥ २२२ ॥ •

३. उत्तरामुपासिकामभिलक्ष्य : : राजगृहे वेणुवने

अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधुं साधुना जयेत्।
जयेत् कदर्यं दानेन, सत्येनालीकवादिनम् ॥ २२३ ॥ •

४. महामौद्गल्यायनस्थविरमभिलक्ष्य : : जेतवने श्रावस्त्याम्

सत्यं भणेन्न क्रुध्येद्धै, दद्यादल्पं नु याचितम्।
प्राप्नोति देवतावासं स्थानैरेभिस्त्रिभिर्नरः ॥ २२४ ॥ •

५. भिक्षुभिः पृष्टं प्रश्नमारभ्य : : अञ्जनवने (साकेते)

अहिंसका ये मुनयो, नित्यं कायेन संवृताः।
ते गच्छन्त्यच्युतं स्थानं यत्र गत्वा न चिन्त्यते ॥ २२५ ॥ •

६. पूर्णां दासीमुद्दिश्य : : राजगृहे गृध्रकूटे

सदैव जाग्रतां शिक्षाकामानां च दिवानिशम्।
निर्वाणमधिमुक्तानामस्तं गच्छन्ति आश्रवाः ॥ २२६ ॥ •

७. अतुलमुपासकमारभ्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

पौराणमेतदतुल! नैतदद्यतनमिव।
निन्दन्ति तूष्णीमासीनं, निन्दन्ति बहुभाणिनम्॥
निन्दन्ति मितवक्तारं, नास्ति लोके ह्यनिन्दितः॥ २२७॥
न चाभून्न भविष्यति, नेदानीमस्ति कश्चन।
एकान्तं पुरुषो निन्द्यः, एकान्तं वा प्रशंसितः॥ २२८॥
यं चेद् विज्ञाः प्रशंसन्ति, अनुविच्य दिनं दिनम्।
अच्छिन्नवृत्तिं सुधियं, प्रज्ञाशीलसमाहितम्॥ २२९॥
निष्कं जम्बूनदस्येव, कस्तं निन्दितुमर्हति!
देवा अपि प्रशंसन्ति, ब्रह्मणापि प्रशंसितः॥ २३०॥ •

८. षड्वर्गीयान् भिक्षूनधिकृत्य : : राजगृहे वेणुवने

कायप्रकोपं रक्षेद्वै, कायेन संवृतो भवेत्।
कायदुश्चरितं हित्वा, कायेन (सु) चरितं चरेत्॥ २३१॥
वाक्प्रकोपं च रक्षेद्वै, वचसा संवृतो भवेत्।
वचोदुश्चरितं हित्वा, वाचा सुचरितं चरेत्॥ २३२॥
मनःप्रकोपं रक्षेद्वै, मनसा संवृतो भवेत्।
मनोदुश्चरितं हित्वा, मनसा (सु) चरितं चरेत्॥ २३३॥
कायेन संवृता धीराः, अथ वाचा सुसंवृताः।
मनसा संवृता धीराः, ते वै सुपरिसंवृताः॥ २३४॥ •

क्रोधवर्गः सप्तदशः सम्पन्नः॥

१८. मलवर्गोऽष्टादशः

१. गोघातकपुत्रमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

पाण्डुपलाशवदिदानीमसि, यमपुरुषा अपि त्वामुपस्थिताः।
उद्योगमुखे च तिष्ठसि, पाथेयमपि ते न विद्यते॥ २३५॥
स द्वीपमात्मनः कुरु, क्षिप्रं व्यायच्छ, पण्डितो भव।
निर्धूतमलो निरञ्जनो, दिव्यां प्राप्स्यस्यार्यजनस्य भूमिम्॥ २३६॥
अपनीतवयाश्च साम्प्रतं, संयातोऽसि यमस्य सन्तिकम्।
वासोऽपि च ते नु नास्ति मध्ये, पाथेयमपि ते न विद्यते॥ २३७॥

स कुरु द्वीपमात्मनः, क्षिप्रं व्यायच्छ, पण्डितो भव।
निर्धूतमलो निरञ्जनो, न पुनर्जातिजरे उपैष्यसि॥ २३८॥

२. अन्यतरं ब्राह्मणमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

आनुपूर्व्येण मेधावी, स्तोकं स्तोकं क्षणे क्षणे।
कर्मारो रजतस्येव, निर्धमेन्मलमात्मनः॥ २३९॥

३. तिष्यस्थविरमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

अयस इव मलं समुत्थितं, तत उत्थाय तदेव खादति।
एवमतिधावनचारिणं स्वानि कर्माणि नयन्ति दुर्गतिम्॥ २४०॥

४. लाडुदायिस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

अस्वाध्यायमला मन्त्राः, अनुत्थानमलं गृहम्।
मलं वर्णस्य कौसीद्यं प्रमादो रक्षतो मलम्॥ २४१॥

५. अन्यतरं कुलपुत्तमुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

स्त्रिया मलं दुश्चरितं, मात्सर्यं ददतो मलम्।
मलं वै पापका धर्माः, अस्मिन् लोके परत्र च॥ २४२॥
ततो मलान्मलतरम्, अविद्या परमं मलम्।
प्रहायैतन्मलं यूयं, निर्मला भवथ भिक्षवः॥ २४३॥

६. क्षुद्रसारिभिक्षुमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

सुजीवमह्रीकेण, काकशूरेण ध्वंसिना।
प्रस्कन्दिना प्रगल्भेन, संक्लिष्टेन सुजीवितम्॥ २४३॥
ह्रीमता च नु दुर्जीवं, नित्यं शुचिगवेषिणा।
अलीनेनाप्रगल्भेन, शुद्धाजीवेन पश्यता॥ २४३॥

७. पञ्चशतमुपासकानभिसमीक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

यः प्राणमतिपातयति, मृषावादं च भाषते।
लोके चादत्तमादत्ते, परदारांश्च गच्छति॥ २४६॥
सुरामैरेयपानं च, यो युनक्ति नरः सदा।
इहैवमेष लोके वै, मूलं खनति चात्मनः॥ २४६॥
एवं भोः पुरुष! जानीहि, पापधर्मा असंयताः।
मा त्वां लोभो न्वधर्मश्च चिरं दुःखाय रन्धतु॥ २४८॥

८. तिष्यनामकं दहरमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

ददाति वै यथाश्रद्धं, यथाप्रीति च यो जनः।
यस्तत्र मूको भवति, परेषां पानभोजने।
दिवा वा यदि वा रात्रौ समाधिं नाधिगच्छति॥ २४९॥
यस्य चैतत् समुच्छिन्नं, मूलघात्यं समुद्धतम्।
दिवा वा यदि वा रात्रौ समाधिं सोऽधिगच्छति॥ २४९॥ •

९. पञ्चोपासकानुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

नास्ति रागसमो वह्निः, नास्ति द्वेषसमो ग्रहः।
नास्ति मोहसमं जालं, नास्ति तृष्णासमा सरित्॥ २४९॥ •

१०. मेण्डकश्रेष्ठिनमालक्ष्य : : जातिवने (भद्रीयनगरे)

सुदर्शं वद्यमन्येषाम्, दुर्दर्शं पुनरात्मनः।
परेषां स हि वद्यान्य, अवपुनाति यथा बुसम्।
छादयत्यात्मनो भूयः कलिमिव कितवाच्छठः॥ २४९॥ •

११. उद्ध्यानसंज्ञिनं स्थविरमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

उद्ध्यानसंज्ञिनो नित्यं परवद्यं प्रपश्यतः।
आसवास्तस्य वर्धन्ते, आरात् स आसवक्षयात्॥ २५३॥ •

१२. सुभद्रं परिव्राजकमुद्दिश्य : : कुशीनगरे

आकाशे च पदं नास्ति, श्रमणो नास्ति बाह्यतः।
प्रजाः प्रपञ्चाभिरताः, निष्प्रपञ्चास्तथागताः॥ २५३॥
आकाशे च पदं नास्ति, श्रमणो नास्ति बाह्यतः।
संस्काराः शाश्वता नैव, बुद्धानामस्ति नेङ्गितम्॥ २५५॥ •

मलवर्गोऽष्टादशः सम्पन्नः॥



१९. धर्मस्थवर्ग एकोनविंशः

१. विनिश्चयनामकं महामात्यमधिकृत्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

तेन नास्ति स धर्मस्थो, येनार्थं साहसान्नयेत्।
अर्थानर्थावुभौ यश्च, निश्चिनुयात् स पण्डितः॥ २५६॥
असाहसेन धर्मेण, समेन नयते परान्।
धर्मस्य गुप्तो मेधावी, धर्मस्थ इति प्रोच्यते॥ २५७॥ •

२. षड्वर्गीयान् भिक्षूनधिकृत्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

पण्डितो नहि तेनास्ति, यावता बहु भाषते।
क्षेमी ह्यवैरी ह्यभयः, पण्डित इति कथ्यते॥ २५८॥ •

३. एकोदानस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

न तावता धर्मधरो, यावता बहु भाषते।
यश्चाल्पमपि श्रुत्वैव, धर्मं कायेन पश्यति।
स वै धर्मधरः प्रोक्तः, यो धर्मान्न प्रमाद्यति॥ २५८॥ •

४. लकुण्टकभद्रियस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

स्थविरो नहि तेनास्ति, येनास्य पलितं शिरः।
परिपक्कं वयस्तस्य, 'मोघजीर्णः' स उच्यते॥ २६०॥
यस्मिन् सत्यं च धर्मश्च, अहिंसा संयमो दमः।
स वै वान्तमलो धीरः, स्थविर इति कथ्यते॥ २६१॥ •

५. सम्बहुलभिक्षूनुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

न वाक्करणमात्रेण, वर्णाधिकतयाऽथ वा।
साधुरूपो नरो भवति, ईर्ष्यकी मत्सरी शठः॥ २६२॥
यस्य चैतत् समुच्छिन्नं, मूलघात्यं समूहतम्।
स वान्तदोषो मेधावी, साधुरूपः स कथ्यते॥ २६३॥ •

६. हत्थकनामानं कश्चिद् वादक्षिप्तमारभ्यः : श्रावस्त्यां जेतवने

मौण्ड्येन श्रमणो नैव, अव्रतश्च मृषा भणन्।
इच्छालोभसमापन्नः, श्रमणः किं भविष्यति!॥ २६४॥
यः शमयति पापानि, अणुस्थूलानि सर्वशः।
शमितत्वाद्धि पापानां, श्रमण इति कथ्यते॥ २६५॥ •

७. अञ्ञतरं ब्राह्मणमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

न तेन भिक्षुर्भवति, यावता भिक्षते परान्।
विश्वं धर्मं समादाय भिक्षुः स्यान्न तावता॥ २६६॥
वाहयित्वा पुण्यपापं, भवति ब्रह्मचर्यवान्।
लोके चरति सङ्ख्यातः, स वै भिक्षुरिहोच्यते॥ २६७॥ •

८. तीर्थिकानुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

मौनेन तु मुनिर्नैव, सोऽविद्वान् मूढसंज्ञकः।
तुलावद् यश्च प्रगृह्य वरमादाय पण्डितः॥ २६८॥
परिवर्जयति पापानि, स मुनिस्तेन स मुनिः।
मनुते य उभौ लोकौ, मुनिस्तेन स कथ्यते॥ २६९॥ •

९. आर्यं वाडिशिकमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

न च तेन स आर्यःस्यात्, येन प्राणान् हिनस्ति सः।
अहिंस्त्रः सर्वप्राणानामार्य इति स कथ्यते॥ २६९॥ •

१०. शीलादिसम्पन्नान् भिक्षूनुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

न शीलव्रतमात्रेण, बाहुश्रुत्येन वा पुनः।
समाधिलाभमात्रेण, विविक्तशयनेन वा॥ २७१॥
स्पृशामि नैष्कर्म्यसुखम्, अपृथग्जनसेवितम्।
भिक्षो! विश्वासं मा पादीः, अप्राप्त्वा आश्रवक्षयम्॥ २७२॥ •



धर्मस्थवर्ग एकूनविंशः सम्पन्नः॥

२०. मार्गवर्गो विंशः

१. पञ्चशतभिक्षूनुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

मार्गेष्वष्टाङ्गिकः श्रेष्ठः, सत्येषष्वार्य चतुष्टयम्।
श्रेष्ठो विरागो धर्मेषु, द्विपदेषु चक्षुषा युतः॥ २७३॥
एष मार्गोऽस्ति, नास्त्यन्यो, दर्शनस्य विशुद्धिकृत्।
एनं हि यूयं गृह्णत, मारस्यैतत् प्रमोहनम्॥ २७४॥
एनं हि यूयं प्रतिपन्नाः, दुःखस्यान्तं करिष्यथ।
आख्यातो वै मया मार्गः, ज्ञात्वा शल्यस्य कृन्तन॥ २७५॥
युष्माभिः कार्यमातप्यमाख्यातारस्तथागताः।
प्रतिपन्नाः प्रमोक्ष्यन्ते, ध्यायिनो मारबन्धनात्॥ २७६॥ •

२. पञ्चशतभिक्षूनुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

'अनित्याः सर्वसंस्काराः' यो हि बुद्ध्या प्रपश्यति।
निर्विन्दत्यथ दुःखानि, एष मार्गो विशुद्धिकृत्॥ २७७॥
'दुःखा हि सर्वसंस्काराः' यो हि बुद्ध्या प्रपश्यति।
निर्विन्दत्यथ दुःखानि, एष मार्गो विशुद्धिकृत्॥ २७८॥
'सर्वे धर्मा अनात्मानः' यो हि बुद्ध्या प्रपश्यति।
निर्विन्दत्यथ दुःखानि, एष मार्गो विशुद्धिकृत्॥ २७९॥ •

३. प्रधानकार्मिकतिष्यस्थविरमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

उत्थानकाले न करोति उत्थितिं चालस्ययुक्तोऽथ युवा बली वा।
संसन्नसङ्कल्पमनाः कुशीदः, मार्गं हि बुद्धेरलसो न विन्दति॥ २८०॥•

४. शूकरप्रेतमुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

वाचानुरक्षो मनसा सुसंवृतः, कायेन चैवाकुशलं न कुर्यात्।
विशोधयेत् कर्मपथत्रयं वै, आराधयेन्मार्गमृषिप्रवेदितम्॥ २८१॥•

५. पोटलिस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

योगाद् वै जायते भूरि, अयोगात् भूरिसंक्षयः।
एतं द्वेधापथं ज्ञात्वा, भवाय विभवाय च॥
निवेशयेत् तथात्मानं, यथा भूरि प्रवर्धते॥ २८२॥ •

६. पञ्च वृद्धभिक्षूननुरुध्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

वनं छिन्दथ, मा वृक्षं, वनतो जायते भयम्।
छित्त्वा वनं च वनथं निर्वणा भवत भिक्षवः॥ २८३॥
यावद्धि वनथोऽच्छिन्नोऽणुमात्रं नुर्हि नारीषु।
बद्धचित्तः स तावद्वै, क्षीरप इव मातरि॥ २८४॥ •

७. सारिपुत्रस्थविरसहविहारिणमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

आत्मनः स्नेहमुच्छिन्धि, शारदं कुमुदं यथा।
सुगतप्रोक्तनिर्वाणं, गम्यः शान्तिपथो ह्ययम्॥ २८५॥ •

८. महाधनवणिजमभिप्रेत्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

'वर्षास्विह वसिष्यामि, इह हेमन्तग्रीष्मयोः।'
इति बालश्चिन्तयति, अन्तरायं न बुध्यते॥ २८६॥ •

९. कृशां गौतमीमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

तं पुत्रपशुसम्पृक्तं व्यासक्तमनसं नरम्।
गच्छति मृत्युरादाय सुप्तं ग्रामं महौघवत्॥ २८७॥ •

१०. पटाचारां श्राविकामभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

न सन्ति पुत्रास्त्राणाय, न पिता नापि बान्धवाः।
अन्तकेनाधिपन्नस्य, त्राणता नास्ति ज्ञातिषु॥ २८८॥
एतमर्थवशं ज्ञात्वा पण्डितः शीलसंवृतः।
निर्वाणगमनं मार्गं क्षिप्रमेव विशोधयेत्॥ २८९॥ •

मार्गवर्गो विंशः सम्पन्नः॥



२१. प्रकीर्णकवर्ग एकविंशः

१. आत्मनः पूर्वकर्मविषयमधिकृत्य : : राजगृहे वेणुवने

मात्रासुखपरित्यागात् पश्येच्चेद् विपुलं सुखम्।
त्यजेन्मात्रासुखं धीरः सम्पश्यन् विपुलं सुखम्॥ २९०॥ •

२. काञ्चित् कुक्कुटाण्डखादिकामभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

परदुःखोपधानेन, आत्मनः सुखमिच्छति।
वैरसंसर्गसंसक्तो वैरान्न परिमुच्यते॥ २९१॥ •

३. भद्रीयभिक्षुमधिकृत्य : : भद्दियनगरे जातिवने

यद्यत् कृत्यमपविद्धम्, भूयोऽकृत्यं करोति यः।
उन्मलानां प्रमत्तानां, तेषां वर्धन्त आश्रवाः॥ २९१॥
येषां च सुसमारब्धा, नित्यं कायगता स्मृतिः।
अकृत्यं ते न सेवन्ते, कृत्ये सातत्यकारिणः॥
सतां च सम्प्रजानानामस्तं गच्छन्ति आस्त्रवाः॥ २९३॥ •

४. लकुण्टकभद्रियस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

मातरं पितरं हत्वा, राजानौ द्वौ च क्षत्रियौ।
राष्ट्रं सानुचरं हत्वा, अनघो याति ब्राह्मणः॥ २९४॥
मातरं पितरं हत्वा, राजानौ द्वौ च श्रोत्रियौ।
व्याघ्रं च पञ्चमं हत्वा, अनघो याति ब्राह्मणः॥ २९५॥ •

५. दारुशाकटिकपुत्रमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

सुप्रबुद्धं प्रबुध्यन्ते, गौतमश्रावकाः सदा।
येषां दिवा च रात्रौ च, नित्यं बुद्धगता स्मृतिः ॥ २९६ ॥

सुप्रबुद्धाः प्रबुध्यन्ते, गौतमश्रावकाः सदा।
येषां दिवा च रात्रौ च, नित्यं धर्मगता स्मृतिः ॥ २९७ ॥

सुप्रबुद्धाः प्रबुध्यन्ते, गौतमश्रावकाः सदा।
येषां दिवा च रात्रौ च, नित्यं सङ्घगता स्मृतिः ॥ २९८ ॥

सुप्रबुद्धाः प्रबुध्यन्ते, गौतमश्रावकाः सदा।
येषां दिवा च रात्रौ च, नित्यं कायगता स्मृतिः ॥ २९९ ॥

सुप्रबुद्धाः प्रबुध्यन्ते, गौतमश्रावकाः सदा।
येषां दिवा च रात्रौ च, अहिंसायां रतं मनः ॥ ३०० ॥

सुप्रबुद्धाः प्रबुध्यन्ते, गौतमश्रावकाः सदा।
येषां दिवा च रात्रौ च, भावनायां रतं मनः ॥ ३०१ ॥ •

६. अन्यतरवृजिपुत्रकभिक्षुमारभ्य : : वैशालीनगरे महावने

दुष्प्रव्रजं दुरभिरमं, दुरावासं गृहं ततः।
दुःखश्चासमसंवासः, दुःखानुपतिताध्वगः।
अध्वगो न भवेत् तस्मान्न दुःखपतितो भवेत्॥ ३०२ ॥ •

७. चित्तगृहपतिमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

श्रद्धालुः, शीलसम्पन्नः, यशोभोगसमर्पितः।
यं यं प्रदेशं भजति, तत्र तत्रैव पूजितः ॥ ३०३ ॥ •

८. अनाथपिण्डिकस्य धीतरमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

द्योतन्ते दूरतः सन्तः, हिमवान् पर्वतो यथा।
इहासन्तो न दृश्यन्ते, रात्रौ क्षिप्ता यथा शराः ॥ ३०४ ॥ •

९. एकविहारिकं स्थविरमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

एकासनम् एकशय्यां, चरन्नेको न्वतन्द्रितः।
दमयन्नेक आत्मानं, वनान्ते स रतो भवेत्॥ ३०५ ॥ •

प्रकीर्णकवर्ग एकविंशः सम्पन्नः ॥



२२. निरयवर्गो द्वाविंशः

१. सुन्दरीं परिव्राजिकामुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

अभूतवादी निरयं उपैति, यो वापि कृत्वा न करोमि चाह।
उभावपि प्रेत्य समौ भविष्यतः, निहीनकृत्यौ मनुजौ परत्र॥ ३०६॥ •

२. दुश्चरितफलपीडितसत्त्वमुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

काषायकण्ठा बहवः, पापधर्मा असंयताः।
पापाः पापैः कर्मभिस्ते निरयं यान्ति निश्चितम्॥ ३०७॥ •

३. वल्गुमुदा–तीरवासिनं भिक्षुमुद्दिश्य : : वैशाल्यां महावने

भुक्तं त्वयोगुलं श्रेयः, तप्तमग्निशिखोपमम्।
यच्चेद् भुञ्जीत दुःशीलो राष्ट्रपिण्डमसंयतः॥ ३०८॥ •

४. अनाथपिण्डकभागिनेयं क्षेमकं प्रति : : श्रावस्त्यां जेतवने

स्थानानि चत्वारि नरः प्रमत्तः, प्राप्नोत्यवश्यं परदारसेवी।
अपुण्यलाभं न निकामशय्यां, निन्दां तृतीयां निरयं चतुर्थम्॥ ३०९॥
अपुण्यलाभश्च गतिश्च पापिका, रतिश्च भीतां प्रति तस्य स्तोका।
राजा च दण्डं प्रददात्यनल्पं तस्मान्न सेवेत नरः परस्त्रीः॥ ३१०॥ •

५. अन्यतरं दुर्वचसं भिक्षुमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

कुशो यथा दुर्गृहीतो, हस्तमेवानुकृन्तति।
श्रामण्यं दुष्परामृष्टं, निरयायोपकर्षति॥ ३११॥
यत् किञ्चित् शिथिलं कर्म, संक्लिष्टं चैव यद् व्रतम्।
सङ्कृच्छ्रं ब्रह्मचर्यं वै, न तदस्ति महाफलम्॥ ३१२॥
कुर्याच्चेत् ननु कुर्वीत, दृढमेतत् पराक्रमेत्।
शिथिला हि परिव्रज्या, भूय आकिरते रजः॥ ३१३॥ •

६. काञ्चिदीर्ष्याप्रकृतिकां स्त्रियमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

अकृतं दुष्कृतं श्रेयः, पश्चात् तपति दुष्कृतम्।
कृतं च सुकृतं श्रेयो, यत्कृत्वा नानुतप्यते॥ ३१४॥ •

७. सम्बहुलानागन्तुकान् भिक्षूनुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

नगरं यथा प्रत्यन्तं, गुप्तमन्तश्च बाह्यतः।
आत्मानं गोपयेदेवं क्षणो मा वै उपातिगाः।

क्षणातीता हि शोचन्ति, निरयं ते समर्पिताः ॥ ३१५ ॥ •

८. निर्ग्रन्थान् उद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

अलज्ज्ये ये हि लज्जन्ते, लज्जन्ते च न लज्ज्यके।
मिथ्यादृष्टिसमादानाः, सत्त्वा गच्छन्ति दुर्गतिम्॥ ३१६ ॥
अभये भयं पश्यन्ति, भये चाभयदर्शिनः।
मिथ्यादृष्टिसमादानाः, सत्त्वा गच्छन्ति दुर्गतिम्॥ ३१७ ॥ •

९. तीर्थिकश्रावकानुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

अवर्ज्ये वर्ज्यमतयो, वर्ज्ये चावर्ज्यदर्शिनः।
मिथ्यादृष्टिसमादानाः, सत्त्वा गच्छन्ति दुर्गतिम्॥ ३१८ ॥
वर्ज्यं च वर्ज्यतो ज्ञात्वा, अवर्ज्यं वै अवर्ज्यतः।
सम्यग्दृष्टिसमादानाः, गच्छन्ति सुगतिं नराः॥ ३१९ ॥ •

निरयवर्गो द्वाविंशः सम्पन्नः॥



२३. नागवर्गस्त्रयोविंशः

१. आत्मानमारभ्य आनन्दं प्रति : : कौशाम्बीनगरे

संग्रामेऽहं यथा नागः चापवत् पतितं शरः।
अतिवाक्यं तितिक्षिष्ये, दुःशीला बहवो जनाः॥ ३२० ॥
दान्तं नयन्ति समितिं, दान्तं राजाभिरूहति।
दान्तः श्रेष्ठो मनुष्येषु, योऽतिवाक्यं तितिक्षति॥ ३२१ ॥
वरमश्वतरा दान्ताः, आजानेयाश्च सैन्धवाः।
कुञ्जराश्च महानागाः, आत्मदान्तस्ततो वरम्॥ ३२२ ॥ •

२. हस्त्याचार्यपूर्वकं भिक्षुमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

न ह्येतैर्हि यानैर्ना, गच्छेत् क्वाप्यगतां दिशम्।
यथात्मना सुदान्तेन, दान्तो दान्तेन गच्छति॥ ३२३ ॥ •

३. कश्चित् परिजीर्णब्राह्मणमुद्दिश्य : : श्रावस्त्याम्

धनपालः कुञ्जरो नाम कटकभेदी दुर्निवारः।
बद्धः कबलं न भुंक्ते, स्मरति नागबलस्य कुञ्जरम्॥ ३२४ ॥ •

४. राजानं प्रसेनजितं कौशलमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

मृद्धो यथा स्याद्धि महाघसश्च, निद्रायितः सम्परिवर्तशायी।
निवापपुष्टो हि यथा वराहः, पुनः पुनर्गर्भमुपैति मन्दः॥ ३२५॥•

५. सानुश्रामणेरमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

पुराऽचरच्चित्तमिदं यतस्ततः, यथेप्सितं यत्रकामं यथासुखम्।
तदद्याहं योनिशो निगृहीष्यामि गजं निगृह्णाति यथाङ्कुशेन॥ ३२६॥•

६. पावेयकहस्तिनमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

अप्रमादेन संयुक्ताः, स्वचित्तमनुरक्षथ।
दुर्गादुद्धरतात्मानं, पङ्के सक्तो यथा गजः॥ ३२७॥ •

७. सम्बहुलभिक्षूनधिकृत्य : : पारिलेयकवने

कञ्चिल्लभेत चतुरं सहायं, सहचारिणं साधुविहारिधीरम्।
अभिभूय सर्वांश्च परिश्रयान्वै, चरेद्धि तेनात्तमनाः स धीमान्॥ ३२८॥
न चेल्लभेत चतुरं सहायं सार्धञ्चरं साधुविहारिधीरम्।
राजेव राष्ट्रं विजितं प्रहाय, एकश्चरेद्धस्तिपतिर्यथा वने॥ ३२९॥
एकस्य चरितं श्रेयो, नास्ति बाले सहायता।
एकश्चरेन्न च पापानि कुर्याद्, गजो यथा वै विचरत्यरण्ये॥ ३३०॥•

८. मारं पापिनमारभ्य : : हिमवदरण्यकुटिकायाम्

सुखाः सहायाः खलु अर्थजाते, तुष्टिः सुखा या इतरेतरेण।
पुण्यं सुखं जीवितसंक्षये वै, सर्वस्य दुःखस्य सुखं प्रहाणम्॥ ३३१॥
मातृसेवा सुखा लोके, पितृसेवा तथा सुखा।
सुखा श्रमणता लोके, ब्राह्मण्यं च तथा सुखम्॥ ३३२॥
सुखं यावज्जरं शीलं, सुखा श्रद्धा प्रतिष्ठिता।
प्रज्ञालाभः सुखः प्रोक्तः, पापस्याकरणं सुखम्॥ ३३३॥•

नागवर्गस्त्रयोविंशः सम्पन्नः॥



२४. तृष्णावर्गश्चतुर्विंशः

१. कपिलमत्स्यमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

मनुजस्य प्रमत्तचारिणस्तृष्णा वर्धते मालुवा लता इव।
स प्लवते इहापरत्र च, फलमिच्छन् हि यथा वने कपिः ॥ ३३४॥

यमेषा जन्मिनी सहते तृष्णा लोके विषात्मिका।
शोकास्तस्य प्रवर्धन्तेऽभिवृद्धमिव वीरणम्॥ ३३५॥

यश्चैनां सहते जन्मिनीं तृष्णां लोके दुरत्ययाम्।
शोकास्तस्य प्रपतन्ति, उदबिन्दुरिव पुष्करात्॥ ३३६॥

तद् वो वदामि भद्रं वो यावन्त इह आगताः।
मूलं खनत तृष्णायाः, उशीरार्थीव वीरणम्।
मा वो नडवत् स्रोतो मारो भाङ्क्षीः पुनः पुनः॥ ३३७॥ •

२. गूथशूकरपोतिकामुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

यथापि मूले ह्यनुपद्रवे दृढे, छिन्नोऽपि वृक्षः पुनरेव रोहति।
एवं हि तृष्णानुशये अनूहते, निर्वर्तते दुःखमिदं पुनः पुनः॥ ३३८॥

यस्य स्रोतांसि षट्त्रिंशत्, मनः प्रस्रवणानि स्युः।
वाहा वहन्ति दुर्दृष्टिं, सङ्कल्पा रागनिःसृताः॥ ३३९॥

स्रवन्ति सर्वस्रोतांसि, लता उद्भिद्य तिष्ठति।
तां च दृष्ट्वा लतां जातां मूलं छिन्दत प्रज्ञया॥ ३४०॥

स्रोतांसि स्निग्धानि च प्राणिनां स्युरथापि सौजन्ययुतानि तानि।
स्रोतःसृतास्ते च सुखैषिणः स्युस्तथैव ते जातिजरोपगा नराः॥ ३४१॥

तृष्णापुरस्कृता लोकाः परिसर्पन्ति शशा इव।
संयोजनासक्तचित्ताः दुःखं यान्ति पुनश्चिरम्॥ ३४२॥

तृष्णापुरस्कृता लोकाः परिसर्पन्ति शशा इव।
तृष्णां विनोदयेत्तस्मात् वैराग्यस्याभिलाषुकः॥ ३४३॥ •

३. एकं विभ्रान्तचित्तं भिक्षुमुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

यो निर्वनतो वनाधिमुक्तो वनमुक्तो वनमेव धावति।
तं पुद्गलमेव पश्यत, मुक्तो बन्धनमेव धावति॥ ३४४॥ •

४. बन्धनागारमधिकृत्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

न तं दृढं बन्धनमाहुर्धीराः यदायसं दारुजबब्बजं च।
सारक्तरक्ता मणिकुण्डलेषु पुत्रेषु दारेषु च या अपेक्षा॥ ३४५॥
एतद् दृढं बन्धनमाहुर्धीराः, अवहारि यच्छिथिलं दुष्प्रमोचम्।
एतत्तु छित्त्वा नु परिव्रजन्ति, अनपेक्षिणः कामसुखं प्रहाय॥ ३४६॥ •

५. बिम्बिसारस्य क्षेमां पट्टमहिषीमभिलक्ष्य : : राजगृहे वेणुवने

ये रागरक्ता हि पतन्ति स्रोतः, स्वयंकृते मर्कटको हि जाले।
एतत्तु छित्त्वा नु व्रजन्ति धीराः, अनपेक्षिणः सर्वदुःखं प्रहाय॥ ३४७॥ •

६. उग्रसेनमुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

मुञ्च पुरा मुञ्च पश्चात्, मध्ये मुञ्च भवस्य पारग!
सर्वत्र विमुक्तमानसो, न पुनर्जातिजरामुपैष्यसि॥ ३४८॥ •

७. क्षुद्रधनुर्ग्रहपण्डितमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

वितर्कमथितस्य प्राणिनस्तीव्ररागस्य शुभानुदर्शिनः।
भूयस्तृष्णा प्रवर्धते, एषा खलु दृढं करोति बन्धनम्॥ ३४९॥
रतो वितर्कोपशमे, ह्यशुभं भावयते सदा।
एष खलु व्यन्तीकरिष्यति, एष छेत्स्यति मारबन्धनम्॥ ३५०॥ •

८. पापिमन्तं मारमारभ्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

निष्ठां गतो ह्यसन्त्रासी, वीततृष्णो ह्यनङ्गणः।
अच्छिनद् भवशल्यानि, अन्तिमोऽयं समुच्छ्रयः॥ ३५१॥
वीततृष्णो ह्यनादानो, निरुक्तिपदकोविदः।
अक्षराणां सन्निपातं वेत्ति पूर्वापराणि च।
स वै अन्तिमशारीरो, महाप्राज्ञः स उच्यते॥ ३५२॥ •

९. उपकमाजीवकमुद्दिश्य : : अन्तरामार्गम्

सर्वाभिभूः सर्वविच्चाहमस्मि सर्वेषु धर्मेषु अनूपलिप्तः।
सर्वञ्जहस्तृष्णाक्षये विमुक्तः स्वयं ह्यभिज्ञाय कमुद्दिशेयम्!॥ ३५३॥ •

१०. शक्रं देवराजमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

धर्मदानं सर्वदानं जिनाति, धर्मरसो सर्वरसं जिनाति।
धर्मरतिः सर्वरतिं जिनाति, तृष्णाक्षयः सर्वदुःखं जिनाति॥ ३५४॥ •

११. अपुत्रकं श्रेष्ठिनमारभ्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

भोगाः दुर्मेधसं घ्नन्ति, न चेत् पारगवेषिणः।
हन्त्यन्यमिव चात्मानं, दुर्मेधा भोगतृष्णया॥ ३५५॥ •

१२. अङ्कुरदेवपुत्रमारभ्य : : पाण्डुकम्बलशिलायां त्रायस्त्रिंशलोके

क्षेत्राणि तृणदोषाणि, रागदोषा इयं प्रजा।
तस्माद्धि वीतरागेषु, दत्तमस्ति महाफलम्॥ ३५६॥
क्षेत्राणि तृणदोषाणि, द्वेषदोषा इयं प्रजा।
वीतद्वेषेषु तस्माद्धि, दत्तमस्ति महाफलम्॥ ३५७॥
क्षेत्राणि तृणदोषाणि, मोहदोषा इयं प्रजा।
तस्माद्धि वीतमोहेषु, दत्तमस्ति महाफलम्॥ ३५८॥
क्षेत्राणि तृणदोषाणि, इच्छादोषा इयं प्रजा।
विगतेच्छुषु तस्माद्धि, दत्तमस्ति महाफलम्॥ ३५९॥ •
क्षेत्राणि तृणदोषाणि, तृष्णादोषा इयं प्रजा।
तस्माद्धि वीतमोहेषु, दत्तमस्ति महाफलम्॥ ३५८॥

तृष्णावर्गश्चतुर्विंशः सम्पन्नः॥



२५. भिक्षुवर्गः पञ्चविंशः

१. पञ्च भिक्षूनुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

चक्षुषा संवरः साधुः, साधुः श्रोत्रेण संवरः।
घ्राणेन संवरः साधुः, संवरः साधु जिह्वया॥ ३६०॥
कायेन संवरः साधुः, साधुर्वाचा हि संवरः।
मनसा संवरः साधुः, साधुः सर्वत्र संवरः॥
सर्वत्र संवृतो भिक्षुः, सर्वदुःखात् प्रमुच्यते॥ ३६१॥ •

२. कश्चिद् हंसघातकं भिक्षुमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

संयतो हस्तपादाभ्यामथ वाचा हि चोत्तमः।
समाहितोऽध्यात्मरतः, सन्तुष्टो भिक्षुरुच्यते॥ ३६२॥ •

३. कोकालिकभिक्षुमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

मुखेन संयतो भिक्षुर्मन्त्रभाणी ह्यनुद्धतः।
दीपयत्यर्थधर्मौ च, मधुरं तस्य भाषितम्॥ ३६३॥ •

४. धर्मारामस्थविरमारभ्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

धर्मारामो धर्मरतो, धर्मं चानुविचिन्तयन्।
धर्मं ह्यनुस्मरन् भिक्षुः, धर्मान्न परिहीयते॥ ३६४॥ •

५. कञ्चिद्विपक्षसेवकमभिलक्ष्य : : राजगृहे वेणुवने

स्वलाभं नाति मन्येत, नान्येभ्यः स्पृहयँश्चरेत्।
अन्येभ्यः स्पृहयन् भिक्षुः, समाधिं नाधिगच्छति॥ ३६५॥
अल्पलाभोऽपि चेद् भिक्षुः, स्वलाभं नाति मन्यते।
तं वै देवाः प्रशंसन्ति, शुद्धाजीवमतन्द्रितम्॥ ३६६॥ •

६. पञ्चाग्रदायकं ब्राह्मणमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

सर्वशो नामरूपे वै, यस्य नास्ति ममायितम्।
योऽसति च न शोचति, भिक्षुः स खलु कथ्यते॥ ३६७॥ •

७. सम्बहुलभिक्षूनधिकृत्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

मैत्रीविहारी यो भिक्षुः, प्रसन्नो बुद्धशासने।
अधिगच्छेत् पदं शान्तं संस्कारोपशमं सुखम्॥ ३६८॥
सिञ्च भिक्षो! इमां नावं, सिक्ता लाघवमेष्यति।
छित्त्वा रागं च द्वेषं च, ततो निर्वाणमेष्यसि॥ ३६९॥
पञ्च छिन्द्यात् पञ्च जह्यात्, भावयेत् पञ्च चोत्तरम्।
पञ्चसङ्गातिगो भिक्षुः, औघतीर्णो हि कथ्यते॥ ३७०॥
ध्याय भिक्षो मा प्रमद, मा ते कामगुणे भ्रमतु चित्तम्।
मा लोहगुडं गिल प्रमत्तः, मा क्रन्दीः दुःखमिति दह्यमानः॥ ३७१॥
नास्ति ध्यानमप्रज्ञस्य, प्रज्ञा नास्त्यध्यायतः।
यस्य ध्यानं च प्रज्ञा च, निर्वाणस्य स सन्तिके॥ ३७२॥
शून्यागारं प्रविष्टस्य, शान्तचित्तस्य योगिनः।
अमानुषी रतिर्भवति, धर्मं सम्यग् विपश्यतः॥ ३७३॥
यतो यतः सम्मृशति, स्कन्धानामुदयव्ययम्।

लभते प्रीतिप्रामोद्यममृतं तद् विजानताम्॥ ३७४॥
तत्रायमादिर्भवति, इह प्राज्ञस्य योगिनः।
इन्द्रियगुप्तिः सन्तुष्टिः, प्रातिमोक्षे च संवरः॥ ३७५॥
भज कल्याणमित्राणि, शुद्धाजीवानतन्द्रितान्।
प्रतिसंस्तारवृत्तः स्याः, आचारकुशलो भवेः॥
ततः प्रामोद्यबहुलो दुःखस्यान्तं करिष्यसि॥ ३७६॥ •

८. पञ्चशतभिक्षूनभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

वर्षिका इव पुष्पाणि, मृदूनि खलु मुञ्चति।
एवं रागं च द्वेषं च, विप्रमुञ्चत भिक्षवः॥ ३७७॥ •

९. शान्तकायस्थविरमालक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

शान्तवाक् शान्तकायश्च, शान्तचित्तः समाहितः।
वान्तलोकामिषो भिक्षुः, उपशान्तो हि कथ्यते॥ ३७८॥ •

१०. नङ्गुलकुलस्थविरमालक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

चोदयेदात्मनात्मानं, विमर्शेदात्मना स्वयम्।
स्मृतिमान् आत्मगुप्तश्च, सुखेन विहरिष्यति॥ ३७९॥
आत्मा हि आत्मनो नाथः, को हि नाथः परो भवेत्।
तस्मात् संयमयात्मानं, भद्रमश्वं यथा वणिक्॥ ३८०॥ •

११. वल्कलिस्थविरमुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

प्रामोद्यबहुलो भिक्षुः प्रसन्नो बुद्धशासने।
अधिगच्छेत् पदं शान्तं संस्कारोपशमं सुखम्॥ ३८१॥ •

१२. सुमनश्रामणेरमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां पूर्वारामे

यो ह वै दहरो भिक्षुः, युनक्ति बुद्धशासने।
प्रभासयतीमं लोकम्, अभ्रान्मुक्तो यथा शशी॥ ३८२॥ •

भिक्षुवर्गः पञ्चविंशो निष्पन्नः॥



२६. ब्राह्मणवर्गः षड्विंशः

१. प्रसादबहुलब्राह्मणमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

छिन्धि स्त्रोतः पराक्रम्य, कामान् प्रणुद ब्राह्मण।
संस्काराणां क्षयं ज्ञात्वा, अकृतज्ञोऽसि ब्राह्मण॥ ३८३॥ •

२. सम्बहुलभिक्षूनधिकृत्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

यदा धर्मद्वये ह्यस्मिन्, विप्रो भवति पारगः।
अथास्य सर्वे संयोगाः, अस्तं गच्छन्ति जानतः॥ ३८॥ •

३. पापिनं मारमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

यस्य पारमपारं वा, पारापारं न विद्यते।
वीतदरं विसंयुक्तं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ३८५॥ •

४. अन्यतरं ब्राह्मणमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

विरजं ध्यायिनमासीनं, कृतकृत्यमनाश्रवम्।
उत्तमार्थमनुप्राप्तं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ३८६॥ •

५. आनन्दस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां पूर्वारामे मृगारमातृप्रासादे

दिवा तपति आदित्यः, रात्रिमाभाति चन्द्रमाः।
क्षत्रियस्तपति सन्नद्धः, ध्यायी तपति ब्राह्मणः॥
अथ सर्वमहोरात्रं, बुद्धस्तपति तेजसा॥ ३८७॥ •

६. अन्यतरं ब्राह्मणमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

बाहितपापो ब्राह्मणः, श्रमणः समचर्यया।
मलं नाशयति स्वस्य, प्रव्रजितः स उच्यते॥ ३८८॥ •

७. सारिपुत्रस्थविरमारभ्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

नायं ब्राह्मणं प्रहरेत्, नास्मै मुञ्चेद्धि ब्राह्मणः।
धिग् ब्राह्मणस्य हन्तारं, धिक् तं यं प्रहरिष्यति॥ ३८९॥
न ब्राह्मणस्यैतदनल्पश्रेयः, यदा निषेधो मनसा प्रियेभ्यः।
यतो यतो हिंस्त्रमनो निवर्तते, ततस्ततः शाम्यति दुःखमेतत्॥ ३९०॥•

८. महाप्रजापतिगौतमीमधिकृत्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

यस्य कायेन वाचा च, मनसा नास्ति दुष्कृतम्।
स्थानत्रयेण संवृतं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ३९१॥ •

९. सारिपुत्रस्थविरमधिकृत्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

यस्माद्धर्मं विजानीयात्, सम्यक्सम्बुद्धदेशितम्।
सत्कृत्य तं नमेन्नित्यमग्निहोत्रं यथा द्विजः॥ ३९२॥

१०. कञ्चिज्जटिलं ब्राह्मणमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

न जटाभिर्न गोत्रेण, न वै जात्यास्ति ब्राह्मणः।
यस्मिन् सत्यं च धर्मश्च, स शुचिः, स च ब्राह्मणः॥ ३९३॥

११. एकं कुहकं ब्राह्मणमुद्दिश्य : : महावने कूटागारशालायाम्

किं ते जटाभिर्दुर्बुद्धे! वल्कलेनाजिनेन किम्!
आभ्यन्तरं ते गहनं, परिमार्जयसि बाह्यतः॥ ३९४॥

१२. कृशां गौतमीमधिकृत्य : : राजगृहे गृध्रकूटपर्वते

पांशुकूलधरं जन्तुं, कृशं धमनिश्रन्थतम्।
एकं वने हि ध्यायन्तं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ३९५॥

१३. एकं ब्राह्मणमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

न चाहं ब्राह्मणं वच्मि, योनिजं मातृसम्भवम्।
स हि भवति भोवादी, स वै अस्ति सकिञ्चनः॥
अकिञ्चनमनादानं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ३९६॥

१४. उग्रसेनं श्रेष्ठिपुत्रमभिलक्ष्य : : राजगृहे वेणुवने

सर्वसंयोजनं छित्त्वा, यो वै न परित्रस्यति।
सङ्गातिगं विसंयुक्तम्, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ३९७॥

१५. ब्राह्मणद्वयमधिकृत्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

छित्त्वा नध्रीं वरत्रां च, सन्दानं सहनुक्रमम्।
उत्क्षिप्तपरिघं बुद्धं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ३९८॥

१६. आक्रोशकभारद्वाजं प्रति : : राजगृहे वेणुवने

आक्रोशं वधबन्धं च, अदु(द्वि)ष्टो यस्तितिक्षति।
क्षान्तिबलं बलानीकं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ३९९॥

१७. सारिपुत्रस्थविरं प्रति : : राजगृहे वेणुवने

अक्रोधनं व्रतवन्तं, शीलवन्तमनुत्सदम्।
दान्तमन्तिमशरीरं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४००॥

१८. उत्पलवर्णां श्राविकां प्रति : : श्रावस्त्यां जेतवने

जलं यथा पद्मपत्रे, आराग्रे सर्षपो यथा।
यो न लिम्पति कामेषु, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४०१॥ •

१९. अन्यतरं ब्राह्मणं प्रति : : श्रावस्त्यां जेतवने

यो दुःखस्य प्रजानाति, इहैव क्षयमात्मनः।
पन्नभारं विसंयुक्तम्, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४०२॥ •

२०. क्षेमां श्राविकामभिलक्ष्य : : राजगृहे गृध्रकूटे

मेधाविनं च गम्भीरं, मार्गामार्गस्य कोविदम्।
उत्तमार्थमनुप्राप्तं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४०३॥ •

२१. प्राग्भारवासितिष्यस्थविरं प्रति : : श्रावस्त्यां जेतवने

असंसृष्टं गृहस्थैर्वा, प्रव्रजितैस्तथोभयैः।
अनोकसारमल्पेच्छं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४०४॥ •

२२. अन्यतरं भिक्षुं प्रति : : श्रावस्त्यां जेतवने

दण्डं निधाय भूतेषु त्रसेषु स्थावरेषु च।
यो न हन्ति न घातयति, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४०५॥ •

२३. चतुरः श्रामणेरानुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

अविरुद्धं विरुद्धेषु, आत्मदण्डेषु निर्वृतम्।
सादानेषु अनादानं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४०६॥ •

२४. महापथकस्थविरमारभ्य : : राजगृहे वेणुवने

येन रागश्च द्वेषश्च, मानो म्रक्षश्च पातितः।
सर्षप इव आराग्रात्, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४०७॥ •

२५. पिलिन्दवत्सस्थविरमुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

अकर्कशां ज्ञापनीं च, गिरं सत्यामुदीरयेत्।
यथा नाभिष्वजेत् किञ्चित्, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४०८॥ •

२६. अन्यतरं ब्राह्मणमुद्दिश्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

इह यो दीर्घं ह्रस्वं वा, अणु स्थूलं शुभाशुभम्।
लोके ह्यदत्तं नादत्ते, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४०९॥ •

२७. सारिपुत्रस्थविरमालक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

आशा यस्य न विद्यन्ते, अस्मिन् लोके परत्र च।
निराशयं विसंयुक्तं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४१०॥ •

२८. महामौद्गल्यायनस्थविरमारभ्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

यस्यालया न विद्यन्ते, आज्ञाय अकथङ्कथी।
अगाधममृतं प्राप्तं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४११॥ •

२९. रेवतस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्याम्, पूर्वारामे

पुण्यं य इह पापं च, उभयोः सङ्गमत्यगात्।
अशोकं विरजं बुद्धं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४१२॥ •

३०. चन्द्राभस्थविरमारभ्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

विमलं चन्द्रवच्छुद्धं, विप्रसन्नमनाविलम्।
नन्दीभवपरिक्षीणं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४१३॥ •

३१. शिवलिस्थविरमारभ्य : : कुण्डकौलिये (कुण्डधानवने)

इमं प्रतिपथं दुर्गं संसारं मोहमत्यगात्।
तीर्णः पारं गतो ध्यायी अकम्प्यश्चाकथङ्कथी।
अनुपादाय निर्वृत्तो, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४१४॥ •

३२. सुन्दरसमुद्रस्थविरमारभ्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

प्रहाय कामान् यः सर्वान् अनागारः परिव्रजेत्।
कामभवपरिक्षीणं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४१५॥ •

३३. जटिलस्थविरमुपलक्ष्य : : राजगृहे वेणुवने

प्रहाय तृष्णा यः सर्वाः, अनागारः परिव्रजेत्।
तृष्णाभवपरिक्षीणं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ •

३४. ज्यौतिष्कस्थविरमारभ्य : : राजगृहे वेणुवने

प्रहाय तृष्णा यः सर्वाः, अनागारः परिव्रजेत्।
तृष्णाभवपरिक्षीणं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४१६॥ •

३५. एकं नटपूर्वस्थविरमभिलक्ष्य : : राजगृहे वेणुवने

हित्त्वा मानुषकं योगं, दिव्यं योगमुपात्यगात्।
सर्वयोगविसंयुक्तं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४१७॥ •

३६. तमेव नटपुत्तकमभिलक्ष्य : : राजगृहे वेणुवने

हित्त्वा रत्यरती चोभे, शीतीभूतं निरुपधिम्।
सर्वलोकाभिभूं वीरं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४१८॥ •

३७. वङ्गेशस्थविरमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्यां जेतवने

च्युतिं यो वेद सत्त्वानामुत्पत्तिं चैव सर्वशः।
असक्तं सुगतं बुद्धं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४१९॥
गतिं यस्य न जानन्ति, देव गन्धर्व मानवाः।
क्षीणाश्रवं च अर्हन्तं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४२०॥ •

३८. धर्मदिन्नां(धर्मदत्तां)स्थविरामुद्दिश्य : : राजगृहे वेणुवने

पुरो यस्य च पश्चाच्च, मध्ये नास्ति च किञ्चन।
अकिञ्चनमनादानं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४२१॥ •

३९. अङ्गुलिमालस्थविरमारभ्य : : श्रावस्त्याम्, जेतवने

ऋषभं प्रवरं वीरं महर्षिं जयकारकम्।
अनेजं स्नातकं बुद्धं, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४२२॥ •

४०. देवहितं ब्राह्मणमभिलक्ष्य : : श्रावस्त्याम्, जेतवने

पूर्वनिवासं यो वेद, स्वर्गापायं च पश्यति।
सर्वव्यवसितान्तो यो, ब्राह्मणं तं ब्रवीम्यहम्॥ ४२३॥ •

॥ ब्राह्मणवर्गः षड्विंशः सम्पन्नः ॥



॥ निष्ठिता धर्मपदपालिः ॥

परिशिष्ट–१

धम्मपद की यथाप्रसङ्ग पाद-टिप्पणियाँ

(गाथाक्रम से)

१. गाथा : मनोपुब्बङ्गमा धम्मा—शास्त्र में चतुर्विध 'धर्म' गिनाये गये हैं; जैसे—१. गुणधर्म, २. देशनाधर्म, ३. परियत्तिधर्म एवं ४. नि:सत्त्व धर्म। यहाँ प्रसङ्गवश 'नि:सत्त्व धर्म' अभिप्रेत है। अत: वह वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध एवं संस्कारस्कन्ध—इन तीन अरूपी (नि:सत्त्व) धर्मों के लिये प्रयुक्त हुआ है।

यहाँ यह **प्रश्न** हो सकता है—एक वस्तु में, एक आलम्बन में, आद्यन्तरहित एक क्षण में उत्पद्यमान मन की 'पूर्वङ्गमता' क्या होगी ?

उत्तर—उत्पादप्रत्यय के कारण 'पूर्वङ्गमता' बन सकती है। जैसे बहुत से पुरुष मिलकर किसी ग्राम में लूटपाट या चौरी करें, वहाँ पूछा जाय कि इनमें प्रधान कौन है ? वहाँ उत्तर दिया जाता है कि जो इन (चौरों) का प्रत्यय (हेतु) या आश्रय (निदेशक) है, जिसके सहारे से वे इस कार्य में प्रवृत्त हुए हैं, वही इनका प्रधान है, फिर भले ही वह इनका स्वामी हो या मित्र; वैसे ही इस प्रकरण में समझना चाहिये। अत:, उत्पादक होने के कारण, मन ही इन धर्मों का प्रधान (पूर्वङ्गम) है। अत: ये धर्म **मनोपुब्बङ्गम** कहलाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वे धर्म मन के अनुत्पन्न होने पर उत्पन्न ही नहीं हो सकते। इसके विपरीत, मन, उन उपर्युक्त चैतसिक धर्मों के उत्पन्न न होने पर भी, उत्पन्न होता रहता है, अत: यही इनका 'पूर्वङ्गम' है।

मनोसेट्ठा—अधिपतिप्रत्यय के कारण मन ही जिनका प्रधान है, ऐसे धर्म 'मन:श्रेष्ठ' कहलाते हैं। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में (लूटपाट करने वाले चौरसमूह में) अपेक्षाकृत बड़ा चौर प्रधान (श्रेष्ठ) कहलाता है; वैसे ही यहाँ, मन के अधिपति होने के कारण, वही इन धर्मों का प्रधान है, श्रेष्ठ है।

मनोमया—जैसे दारु (काष्ठ) से निर्मित पात्र 'दारुमय' कहलाते हैं उसी तरह उक्त वेदनादि धर्म भी, मन से निष्पन्न होने के कारण, 'मनोमय' कहलाते हैं।

व्यवहार में—मन का अर्थ 'सङ्कल्पमूलक भावना' कह कर भी कार्य निष्पन्न किया जा सकता है॥

चक्कं व वहतो पदं—गाड़ी में जोते हुए (जूआ खींचते हुए) बैल के पैर का, गाड़ी का पहिया अनुगमन करता है। जैसे वह बैल एक दिन, दो दिन, पाँच दिन, दस दिन, पन्द्रह दिन या एक मास तक जूआ खींचता हुआ उस पहिये से पीछा नहीं छुड़ा सकता। यदि वह आगे

बढ़ता है तो उसकी ग्रीवा में जूए की रगड़ (सङ्घर्ष) से कष्ट होता है, तथा यदि पीछे हटता है तो उसके पैरों में पहिये की टक्कर लगने से उसको पीड़ा होती है; अन्त में उसके पैरों का मांस कटने लगता है। इस प्रकार, दोनों ही तरह से, उस पहिये द्वारा बैल को कष्ट देने का यह क्रम निरन्तर चलता रहता है।

यही बात प्रदुष्ट मन द्वारा किये जा रहे त्रिविध दुश्चरितों को पूर्ण कर रहे पुद्गल के विषय में भी समझनी चाहिये। उस पुद्गल को भी नरक आदि दु:खद स्थानों में पहुँच कर कायिक एवं चैतसिक दु:खों से अनुबद्ध रहना पड़ता है॥

गाथा २ : छायेव अनपायिनी—जैसे मनुष्य की छाया (प्रतिबिम्ब) शरीर के साथ साथ ही चलते समय चलती है, बैठते समय बैठती है, खड़े रहते हुए खड़ी रहती है। उसे किसी भी तरह, मृदु या कठोर वचन बोलकर या दण्ड प्रहार कर, दूर नहीं हटाया जा सकता; क्योंकि वह शरीर के साथ सम्पृक्त है, प्रतिबद्ध है। इसी तरह इन दश कुशल कर्मों से प्राप्त, इनके सहारे से एकत्र किया हुआ, कामावचरादि भेद से विविध कायिक चैतसिक सुख, उसकी छाया की तरह, उसके साथ ही लगा रहता है, भले ही वह कहीं भी जावे या आवे॥

गाथा ३, ४ : अक्कोच्छि—कुस (अक्कोसे) धातु + अज्जतनी विभत्ति (सं० लुङ्लकार) पठम पुरिस एकवचन—अक्कोसि। 'कुसस्मादीच्छि' (क०सू० ३/४/१७) से 'सि' को 'च्छि' आदेश॥

गाथा ६: मयमेत्थ यमामसे—इस गाथा का आचार्य बुद्धघोष ने यह अर्थ (व्याख्यान) भी किया है—"ये (मेरे विरोधी) कलहकारक भिक्षु नहीं जानते—'हम मनमौजी बनकर मिथ्यापक्ष का ग्रहण करते हुए इस सङ्घ में कलहादि उत्पन्न करने में अपना बुद्धिव्यायाम कर रहे हैं'"। इत्यादि॥ (विस्तार के लिये इस गाथा की **धम्मपदट्ठकथा** देखें।)

गाथा ७ : कुसीतं हीनवीरियं—बुद्धघोष 'कुसीतं' का अर्थ करते हैं—"कामच्छन्द, व्यापाद, विहिंसा एवं वितर्क आदि के कारण आलसी को।" अन्यत्र संस्कृत बौद्ध साहित्य में भी 'कुसीत' शब्द 'आलसी' के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। इसके विपरीत, संस्कृत साहित्य में 'कुसित' 'कुसीद' 'कुसिद'—ये शब्द मूलधन की वृद्धि (व्याज) अर्थ में प्रयुक्त होते हैं; जैसे—"कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता" (मनु० ८/१५१)॥

पालि साहित्य में 'वीर्य' शब्द का दो प्रकार से प्रयोग हुआ है—१. 'वीरियं' या २. 'विरियं'। दोनों ही प्रयोग यहाँ (इस साहित्य में) बहुलता से मिलते हैं॥

तं वे पसहति मारो—बुद्धघोष कहते हैं—"तथा अब्भन्तरे उप्पज्जमानो पि दुब्बलकिलेसमारो नप्पसहति, खोभेतुं वा चालेतुं वा न सक्कोतीति अत्थो"। बौद्ध साहित्य में 'मार' शब्द भिक्षुओं को नानाविध सांसारिक प्रलोभन देकर श्रमणभाव से च्युत करने का प्रयास करने वाले किसी अधम देवता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत साहित्य के पुराणादि धर्मग्रन्थों में भी त्यागी तपस्वी सन्तों को प्रलोभन देने वाली अप्सराओं की चर्चा तो सुनी जाती

है; परन्तु वहाँ किसी 'मार' की कल्पना नहीं है। यहूदियों के धर्मशास्त्र में अवश्य इसी 'मार' की तरह 'शैतान' की चर्चा है। इसीलिये हम लोग भी कभी कभी 'मार' के अर्थ में ही 'शैतान' शब्द का प्रयोग कर देते हैं॥

गाथा १० : सीलेसु सुसमाहितो—परिशुद्धिचतुष्टययुक्त शील (सदाचार) में भली भाँति स्थित। इस परिशुद्धिचतुष्टययुक्त शील का आचार्य बुद्धघोष ने स्वरचित **विसुद्धिमग्ग** ग्रन्थ में—१. पातिमोक्खसंवर, २. इन्द्रियसंवर, ३. आजीवपारिसुद्धिसंवर एवं ४. पच्चय-सन्निस्सित नाम से **प्रथम परिच्छेद** में विस्तृत व्याख्यान किया है। जिज्ञासुओं को यह प्रसङ्ग वहाँ से अवश्य पढ़ लेना चाहिये॥

गाथा ११ : असारे सारमतिनो सारे चासारदस्सिनो—१. चीवर, २. पिण्डपात, ३. शयनासन एवं ४. रोग—इन चार प्रत्ययों के विषय में, तथा आत्मा को नित्य, सुखमय एवं अविनाशी मानना—आदि दशविध वस्तुओं में मिथ्यादृष्टि रखते हुए देशना करना ही 'असार' है। इस 'असार' को 'सार' समझना। इसी प्रकार उक्त चार प्रत्यय एवं उक्त दशविध वस्तुओं में सम्यग्दृष्टि रखते हुए देशना करना 'सार' कहलाता है। इस 'सार' को 'असार' समझने वाले कभी सार (वस्तुसत्य) को अधिगत नहीं कर सकते। आचार्य बुद्धघोष ने इन सारों का परिगणन इस तरह किया है—१. शीलसार, २. समाधिसार, ३. प्रज्ञासार, ४. विमुक्तिसार, ५. विमुक्तिज्ञानदर्शनसार, ६. परमार्थसार (निर्वाणसार)। उक्त मिथ्यादृष्टि साधक इन छह प्रकार के सारों का अधिग्रहण नहीं कर सकते॥

गाथा १३ : एवं अभावितं चित्तं—शमथ एवं विपश्यना रूप समाधि के अभ्यास से रहित चित्त को 'अभावित' कहते हैं॥

गाथा १४ : एवं सुभावितं चित्तं—शमथ एवं विपश्यना रूप समाधिद्वय के अभ्यास से युक्त चित्त को 'सुभावित' कहते हैं॥

गाथा १५ : बहुं पि चे संहितं भासमानो—जैसे संस्कृत साहित्य में श्रुति, स्मृति, पुराण आदि ग्रन्थों को 'संहिता' माना गया है, उसी तरह, आचार्य बुद्धघोष के अनुसार, बौद्धों में बुद्धप्रोक्त त्रिपिटक ग्रन्थसमूह में 'संहिता' शब्द रूढ है॥

गाथा २१ : अप्पमादो अमतपदं—व्याख्याकारों ने यहाँ 'अप्पमाद' शब्द के अनेक अर्थ किये हैं। किसी ने इसका अर्थ 'धर्म' माना है, किसी ने 'श्रम', तो किसी ने 'सावधानता' तथा किसी ने 'आलस्य न करना' आदि अर्थ माने हैं। हमारी दृष्टि में 'असावधनता' (आचरण में भूल न करना) ही इस प्रसङ्ग में उचित अर्थ है। वैदिक साहित्य में भी आता है—'सत्यान्न प्रमदितव्यम्' 'धर्मान्न प्रमदितव्यम्'। इसका—'सत्य के आचरण में भूल न करनी चाहिये', 'धर्म के आचरण में भूल न करनी चाहिये'—यही सर्वसम्मत अर्थ है। यहाँ भी यही समझना चाहिये। इसी विचार से यहाँ आचार्य भी कहते हैं—'' '**अप्रमाद**' यह शब्द विशाल अर्थ को बोधित करता है। अर्थात् यह विस्तृत अर्थ को अपने में अन्तर्भुक्त किये हुए है। समग्र त्रिपिटक

(बुद्धवचन) 'अप्रमाद' पद में समाया है। इसीलिये **अङ्गुत्तरनिकाय** (५/२१) में कहा है—'जैसे जङ्गम प्राणियों के सभी पैर हाथी के पैर में समाये रहते हैं, अतः उनमें हाथी का पैर ही सर्वश्रेष्ठ है; उसी तरह, भिक्षुओ! सभी कुशल धर्मों में 'अप्रमाद' ही श्रेष्ठ धर्म है'। अतः 'अप्रमाद' का अर्थ है—स्मृति का अविप्रवास, अर्थात् स्मृति का निरन्तर उपस्थित रहना।''

अमतपदं—'अमृत' कहते हैं—निर्वाण को। वह (निर्वाण) अज्ञात होने से न जन्मता है, न मरता है, अतः वह 'अमृत' कहलाता है। जिससे प्राप्त किया जाय वह 'पद' कहलाता है; अतः इसका स्पष्ट अर्थ हुआ—अमृत (निर्वाण) की प्राप्ति का उपाय (मार्ग)॥

गाथा २२ : अरियानं गोचरे रता—बुद्धिमान् पुरुष अप्रमत्त आचरण में ही प्रसन्न रहते हुए अप्रमत्त साधना को वृद्धिङ्गत करते हुए **आर्यों** (बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध एवं श्रावकों) की साधनाभूमि (गोचर) में—अर्थात् चार (४) स्मृतिप्रस्थानों में, सैंतीस (३७) बोधिपक्षीय धर्मों में एवं नौ (९) लोकोत्तर धर्मों की साधना में मग्न रहते हैं। निरन्तर उस साधना में लगे रहते हैं॥

गाथा २३ : ते झायिनो सातितिका—झायिनो अर्थात् वे अप्रमत्त बुद्धिमान् पुरुष आठ (शमथ) समापत्तियुक्त आलम्बन के उपनिध्यान (मनन) से, विपश्यनामार्ग—फलयुक्त लक्षण के उपनिध्यान से—इस प्रकार इन दो ध्यानों के सहारे से साधना करने वाले। **सातितिका**—(घर से) अभिनिष्क्रमणकाल से आरम्भ कर अर्हत्त्वमार्गप्राप्ति तक तदर्थ निरन्तर कायिक एवं चैतसिक उद्योग करने वाले।

फुसन्ति धीरा निब्बानं—१. ज्ञानस्पर्शना एवं २. विपाकस्पर्शना—ये दो स्पर्शनाएँ कहलाती हैं। इनमें चार मार्गों को ज्ञानस्पर्शना एवं चार फलों को विपाकस्पर्शना कहते हैं। यहाँ विपाकस्पर्शना अभिप्रेत है। आर्यफल से निर्वाण का साक्षात्कार करते हुए धृतिमान् पुरुष उस विपाकस्पर्शना का अधिगम करते हैं, निर्वाण (अर्हत्त्व) का साक्षात्कार करते हैं।

योगक्खेमं अनुत्तरं—१. काम, २. भव, ३. दृष्टि एवं ४. अविद्या—ये चार योग साधक को संसारावर्त में फँसा कर दुःखी करते हैं। उन चारों से निर्भय होकर लौकिक एवं लोकोत्तर धर्मों में श्रेष्ठता प्राप्त करना ही अनुत्तर (अद्वितीय) है॥

गाथा २४ : सञ्ञतस्स धम्मजीविनो—यदि साधक गृहस्थ है तो व्यापार कर्म में तुलाकूट आदि धोखा देने वाले कर्म छोड़कर कृषि एवं गोपालन आदि विधिसम्मत कर्म करने वाले का; यदि प्रव्रजित है तो वैद्यकर्म या दूतकर्म आदि हीन कर्म छोड़कर धर्मपूर्वक भिक्षाचर्या करते हुए जीवनयापन करने वाले का। **अप्पमत्तस्स**—अलुप्त स्मृति वाले का॥

गाथा २५ : दीपं कयिराथ मेधावी—१. वीर्यरूप उत्थान, २. स्मृति-अविप्रवास (स्मृतिसातत्य) रूप अप्रमाद, ३. परिशुद्धिचतुष्टययुक्त शीलरूप संयम एवं ४. इन्द्रियनिग्रह—इन कारणभूत चार धर्मों से धर्मोजःस्वरूप प्रज्ञा से युक्त होकर बुद्धिमान् साधक इस कठिनता से प्रतिष्ठापनायोग्य अतिगम्भीर संसार सागर में स्वकीय प्रतिष्ठारूप अर्हत्त्वफल को द्वीप (शरण

स्थल) बना ले या बनाने का प्रयत्न करे। जिसको काम, भव, दृष्टि, अविद्या—यह चतुर्विध दुःखौघ भी नष्ट करने में समर्थ नहीं हो सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि बड़े से बड़ा दुःख का झञ्झावात भी अर्हत्त्व को नष्ट नहीं कर सकता॥

गाथा २९ : हित्वा याति सुमेधसो—जैसे पैरों तथा गति से दुर्बल किसी अश्व को सिन्धुदेशोत्पन्न अच्छी जाति का अश्व दौड़ में पीछे छोड़ देता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् (उत्तम प्रज्ञायुक्त) साधक मन्दमति साधक को साधना में आगम एवं अधिगम—दोनों ही प्रकार से पीछे छोड़ देता है। यहाँ **आगम से पीछे छोड़ने** का तात्पर्य है—जितने समय में मन्दबुद्धि साधक एक सूत्र का अधिग्रहण करता है, उतने ही काल में प्रज्ञासम्पन्न साधक एक वर्ग का अधिग्रहण कर लेता है। तथा **अधिगम से पीछे छोड़ने** का तात्पर्य है—मन्दप्रज्ञ साधक किसी साध्य के अधिगम के लिये पहले वह रात्रिस्थान एवं दिवास्थान का विभाजन करने का प्रयास, फिर कर्मस्थान का गुरु से अधिग्रहण, फिर उसका स्वाध्याय करता है तब उसकी साधना में प्रवृत्ति होती है; परन्तु मेधावी पुरुष पहले से ही अन्य किसी साधकद्वारा कृत रात्रिस्थान एवं दिवास्थान में प्रवेश कर कर्मस्थान को पूर्ण करता हुआ, अपने सभी क्लेशों को क्षीण कर नौ (९) लोकोत्तर धर्मों को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वह इस संसारावर्त में उस मन्दप्रज्ञ को पीछे छोड़कर स्वयं भवचक्र (संसारावर्त) से निकल ही जाता है॥

गाथा ३३ : दुरक्खं दुन्निवारयं—जैसे अपने तीक्ष्ण सींगों से भूमि को कभी यहाँ कभी वहाँ खोदता हुआ मदोन्मत्त वृषभ मनुष्यों द्वारा बहुत कठिनाई से रोका जा सकता है, वैसी ही स्थिति चित्त (मन) की भी समझनी चाहिये। **दुन्निवारयं**—प्रतिकूल आलम्बनों में जाता हुआ चित्त बहुत कठिनता से रोका जा सकने योग्य होता है॥

गाथा ३४ : ओकमोकत उब्भतो—'ओक' शब्द शास्त्रों में दो अर्थों में गृहीत होता है; पहला अर्थ है—उदक (जल)। जैसे—'ओकपुण्णेहि चीवरेहि' (जल से भीगे हुए वस्त्रों से)। दूसरा अर्थ है—आश्रय (आवास)। जैसे—'ओकं पहाय अनिकेतसारी' (किसी भी आश्रय के विना गृहविहीन रहता हुआ)। यहाँ इस 'ओक' शब्द के दोनों ही अर्थ लिये जा सकते हैं। मछली का आश्रय (आवास) जल प्रसिद्ध है ही। **उब्भतो**—उद्धृत (निकाला गया)॥

गाथा ३५ : चित्तस्स दमथो साधु—'दमथ' शब्द 'दमन' अर्थ में संस्कृत भाषा में भी प्रसिद्ध है। जैसे—'दान्तिस्तु दमथो दमः' (अ०को० ३/२/३)

गाथा ३६ : यत्थकामनिपातिनं—जाति, गोत्र आदि का विचार किये विना ही, प्राप्य अप्राप्य, युक्त अयुक्त स्थानों पर जहाँ कहीं भी गिर पड़ने वाला (आसक्त होने वाला)॥

चित्तं दन्तं सुखावहं—इस प्रकार यह निगृहीत चित्त साधक के लिये व्यवहार में मार्गसुख, फलसुख एवं निर्वाणसुख—यों त्रिविध सुखों का दाता सिद्ध होगा॥

गाथा ३९ : अनन्वाहतचेतसो—त्रिपिटक में 'आहतचित्तो, खिलचित्तो'—ऐसा

प्रयोग आता है, वहाँ 'आहत' का अर्थ होता है—द्वेष के कारण अत्यधिक हत (आबद्ध) चित्त। यहाँ उस शब्द के साथ नञ् समास होने के कारण उक्त से विरुद्ध अर्थ करना पड़ेगा, अर्थात् द्वेष से अनाहत (सर्वथा अनासक्त) चित्त॥

नत्थि जागरतो भयं—इस वाक्यांश से क्षीणाश्रव एवं सावहित साधक पुरुष का अभयभाव दिखाया गया है। ऐसा पुरुष साधना में पाँच श्रद्धादि सावहितिकारक धर्मों से युक्त **जाग्रत्** कहलाता है। इसलिये साधक पुरुष को सावधान या असावधान रहने पर क्लेशभय नहीं सताता; क्योंकि साधना की उत्पत्तिदशा में क्लेशों के पुनः लौटने की सम्भावना ही नहीं रहती। कारण, ऐसे पुरुष की उन उन मार्गों की प्रबल साधना के प्रभाव से उसके क्लेश, एक बार क्षीण हो जाने के बाद, पुनः उस का अनुगमन नहीं कर पाते॥

४४. गाथा : को धम्मपदं सुदेसितं—यहाँ **धम्मपदं** का अर्थ है धर्म का मार्ग। आचार्य बुद्धघोष इस वाक्यांश का व्याख्यान यों करते हैं—"यहाँ स्वभावानुसार कहे जाने से सम्यगुपदिष्ट ३७ बोधिपक्षीय धर्म नाम से प्रसिद्ध धर्मपदों को, जो कि 'बोधि' प्राप्त कराते हैं, कुशल मालाकार द्वारा चुने गये पुष्पों की तरह कौन चयन करेगा, जानेगा, समझेगा, परीक्षण करेगा, या इनका साक्षात्कार करेगा!"॥

४६. गाथा : छेत्वान मारस्स पपुप्फकानि—संस्कृत साहित्य में कामदेव को 'पुष्पबाण' कहा गया है। यहाँ 'पपुप्फकानि' शब्द से पालिसाहित्य में भी कुछ विद्वानों ने मार को 'पुष्पवाण' होने का अनुमान लगाया; परन्तु आचार्य बुद्धघोष ने इस (पपुप्फकानि) शब्द का अर्थ किया है—"मार के प्रपुष्पक संज्ञक त्रैभूमक वर्त (घेरे) को आर्यमार्ग की भावना से छिन्न भिन्न करते हुए क्षीणाश्रव भिक्षु मृत्युराज (यम) के लिये अदृश्य (अविषय) हो जाय और वह अमृतमय महानिर्वाण प्राप्त कर ले॥"

५०. गाथा : न परेसं विलोमानि—'विलोमानि' का साधारणतः अर्थ होता है—विपरीत आचरण या वचन; परन्तु यहाँ 'कताकतं' शब्द से विपरीत आचरण का बोध हो ही रहा है, अतः यहाँ 'विलोमानि' से केवल विपरीत वचन का ही ग्रहण करना चाहिये। अतएव आचार्य 'विलोमानि' का व्याख्यान 'विपरीत वचन' ही करते हैं। वे कहते हैं—"दूसरों के विरोधी एवं रूक्ष (परुष), मर्मच्छेदक वचनों पर ध्यान नहीं देना चाहिये"॥

७५. गाथा : विवेकमनु ब्रूहये—यद्यपि 'विवेक' शब्द संस्कृत या हिन्दी भाषा में 'बोध', 'विचार' 'हित अहित या सत् असत् के प्रभेदक ज्ञान' अर्थ में प्रयुक्त होता है; परन्तु पालिसाहित्य में यह शब्द पृथक्करण या अलग करना अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। जैसे—कायविवेक अर्थात् शरीर का एकाकित्व (अकेलापन)।

७६. गाथा : अरियप्पवेदिते धम्मे—यद्यपि मनु आदि आर्ष संहिताकारों ने 'आर्य' शब्द का अर्थ 'आदर्श चरित्र, धार्मिक सदाचारी पुरुष' किया है; परन्तु पालिसाहित्य में आचार्य बुद्धघोष आदि ने भगवान् बुद्ध तथा उनके श्रावकों को ही 'आर्य' माना है। वे इस

वाक्यांश की व्याख्या में लिखते हैं—"**अरियप्पवेदिते** ति। बुद्धादीहि अरियेहि पवेदिते सतिपट्ठानादिभेदे बोधिपक्खियधम्मे" ति॥

८२. गाथा : एवं धम्मानि सुत्वान—जैसे संस्कृत व्याकरण में पूर्वकालिक क्रिया को 'क्त्वा' प्रत्यय होता है वैसे ही यहाँ पूर्वकाल में क्रिया को 'तून' 'त्वान' एवं 'त्वा'—इन प्रत्ययों में से कोई एक प्रत्यय होता है। यहाँ 'सुत्वान' में 'सु' धातु से 'त्वान' प्रत्यय हुआ है॥

८३. गाथा : सब्बत्थ वे सप्पुरिसा चजन्ति—यहाँ **फासबोल एवं मैक्समूलर चजन्ति** के स्थान पर **वजन्ति** पाठ मानते हैं। परन्तु आचार्य **बुद्धघोष** यहाँ **चजन्ति** पाठ मानते हुए इस वाक्यांश का यों अर्थ करते हैं—"पञ्चस्कन्धादि भेदों वाले सभी धर्मों को सज्जन अर्हत्त्वमार्गज्ञान से निष्कासित करते हुए छन्दराग का सर्वथा त्याग कर देते हैं।"

८६. गाथा : ते जना पारमेस्सन्ति मच्चुधेय्यं सुदुत्तरं—यहाँ आचार्य ने 'मच्चुधेय्यं' के बाद **तरित्वा** का अध्याहार कर इस वाक्यांश का यह अर्थ किया है—"ये जना धम्मानुवत्तिनो ते एतं सुदुत्तरं दुरतिक्कमं मारधेय्यं (मच्चुधेय्यं) तरित्वा=अतिक्कमित्वा निब्बानपारं गमिस्सन्तीति अत्थो॥

८८. गाथा : परियोदपेय्य अत्तानं—यहाँ आचार्य ने 'परियोदपेय्य' का अर्थ किया है—**परिसोधेय्य,** परिशुद्ध करे अर्थात् उससे अपने को मुक्त करे।

चित्तक्लेसेहि पण्डितो—यद्यपि अन्यत्र पालि में चित्तक्लेश दश माने गये हैं (द्र० धम्मसङ्गणि); परन्तु आचार्य बुद्धघोष ने यहाँ पाँच नीवरणों को ही महत्त्व दिया है। वे पाँच नीवरण क्रमशः ये हैं—१. अभिध्या, २. व्यापाद, ३. स्त्यानमृद्ध, ४. औद्धत्यकौकृत्य एवं ५. विचिकित्सा। इन्हें सरल भाषा में काम, क्रोध, मोह, मद एवं दम्भ कहा जा सकता है॥

८९. गाथा : येसं सम्बोधियङ्गेसु—पालि के अनुसार सम्बोध्यङ्ग सात होते हैं; जैसे—१. स्मृति, २. धर्मविचय (धर्ममीमांसा), ३. वीर्य (शक्ति, सामर्थ्य), ४. प्रीति (आनन्द), ५. प्रश्रब्धि (शान्ति), ६. समाधि एवं ७. उपेक्षा। (विशेष द्रष्टव्य—दी०नि०, द्वि०भा०, पृ० ३३६, बौ०भा० संस्करण)।

ते लोके परिनिब्बुता—इस वाक्यांश का आचार्य बुद्धघोष इस प्रकार स्पष्टीकरण करते हैं—"इस स्कन्धादिलोक में अर्हत्त्वप्राप्ति से क्लेशसमूह को दूर हटाने के कारण, १. सउपादिशेष (आसक्तिसहित) से, तथा चरम (अन्तिम), २. चित्तनिरोध से स्कन्धवृत्त को क्षिप्त करने के कारण अनुपादिशेष (आसक्तिरहित=निर्वाण धातु से—इस तरह इन द्विविध निर्वाणों से परिनिर्वृत। जैसे कि तैल वर्ति आदि उपादानरहित दीपक अप्रज्ञप्तिक भाव को प्राप्त हो जाता है॥

९०. गाथा : विप्पमुत्तस्स सब्बधि—सभी स्कन्धादि धर्मों के सम्बन्धों से विशेषेण (सर्वथा) मुक्त। सब्बधि(सब्बोपाधि)विमुत्तस्सेत्यत्थो।

परिळाहो न विज्जति—परिदाह (परिळाह) दो प्रकार का होता है—१. कायिक,

२. वाचिक। उनमें क्षीणाश्रव भिक्षु का शीत, उष्ण आदि के कारण उत्पन्न शीतादि परिदाह निवृत्त हो नहीं पाता, इसी भाव से जीवक ने प्रश्न किया था; परन्तु शास्ता ने, धर्मराज होने के कारण तथा देशनाकुशल होने के कारण, चैतसिक परिदाह को प्रधानता देकर उत्तर देते हुए कहा—''जीवक! परमार्थ रूप से ऐसा परिदाह क्षीणाश्रव को नहीं होता''॥

९१. गाथा : उय्युञ्जन्ति सतीमन्तो—इसका अर्थ है—स्मृति की विपुलता को प्राप्त क्षीणाश्रव भिक्षु स्वयं द्वारा ज्ञात विशेषताओं वाले ध्यान, विपश्यना आदि में आवर्जन, समापादन, व्युत्थान, अधिष्ठान एवं प्रत्यवेक्षण आदि के द्वारा उद्योग (प्रयास) करते हैं।

न निकेते रमन्ति ते—उन (क्षीणाश्रव) भिक्षुओं के चित्त में 'आलयरति' नाम की कोई वस्तु (धर्म) नहीं होती।

हंसा व पल्ललं हित्वा—यह भगवान् की देशना का शीर्षकमात्र है। इसका निष्कृष्टार्थ यह है—जैसे अवगाहनयोग्य किसी स्वच्छ सरोवर में हंस कुछ समय अपना आश्रय ग्रहण करते हुए भी वहाँ से जाते समय—'यह जल मेरा है', 'यह पद्म मेरा है', 'यह उत्पल मेरा है', 'यह कमल का फूल मेरा है'—इस तरह वहाँ अपनी कोई आसक्ति न बनाकर, वहाँ से कोई अपेक्षा न करते हुए, वह स्थान छोड़कर, वहाँ से उड़कर आकाश में विविध क्रीड़ा करते हुए चले जाते हैं; उसी प्रकार कोई क्षीणाश्रव भिक्षु कहीं भी साधना करते हुए वहाँ के निवासी परिवारों में अनासक्त रहते हुए, वहाँ से चलते हुए विना किसी अपेक्षा के निरासक्त भाव से चल देते हैं, तथा वहाँ ऐसा कोई ममत्व नहीं बाँधते कि यह मेरा विहार है, यह मेरा परिवेष है या ये मेरे उपासक हैं॥

९२. गाथा : गति तेसं दुरन्नया—यहाँ बुद्धघोष आदि सभी विद्वानों ने 'दुरन्वया' का अर्थ 'कठिनता से जानने योग्य' ही अर्थ किया है; परन्तु कुछ विद्वान् इसका 'अनुसरण करने योग्य' भी अर्थ करते हैं। तथा उसमें **महाभारत** का यह श्लोक उदाहरण के रूप में उपस्थित करते हैं; जैसे—

शकुनानामिवाकाशे, मत्स्यानामिव चोदके।
पदं यथा न दृश्यते, तथा ज्ञानविदां गतिः॥ (महाभा० शान्ति० १८१/२९)

९२. गाथा : ये परिञ्ञातभोजना—यहाँ आचार्य **बुद्धघोष** ने भोजन के विषय में तीन परिज्ञाएँ (स्थिर त्याग) कही हैं; १. **ज्ञातपरिज्ञा** (यागु आदि का त्याग), २. **तीरणपरिज्ञा** (कवलीकार आहार में प्रतिकूल संज्ञावशात् भोजन का त्याग) तथा ३. **प्रहाणपरिज्ञा** (कबलीकार आहार में छन्दराग का त्याग)। इनका विस्तार वहीं (अट्ठकथा में) देखना चाहिये।

सुञ्ञतो अनिमित्तो च—शास्त्र में तीन विमोक्ष कहे गये हैं—१. शून्यतः, २. अनिमित्ततः, एवं ३. अप्रणिहिततः। ये तीनों ही 'निर्वाण' के नाम (पर्याय) हैं। यहाँ अप्रणिहित विमोक्ष का भी ग्रहण है। विस्तार इस गाथा की बुद्धघोषकृत **अट्ठकथा** में देखें।

येसं सन्निचयो नत्थि—'सन्निचय' का अर्थ है—संग्रह। यह दो प्रकार का होता है—१. कर्मसन्निचय तथा २. प्रत्ययसन्निचय। वहाँ कुशल तथा अकुशल कर्मों के संग्रह को 'कर्मसन्निचय' कहते हैं, तथा चीवर आदि प्रत्ययों के संग्रह को 'प्रत्ययसन्निचय' कहते हैं। अन्यत्र 'आमिषसन्निचय' एवं 'धर्मसन्निचय' नाम से भी दो सन्निचय संगृहीत हैं (द्र०—अ०नि०, प्र०भा०, पृ० ८६, नालन्दा संस्करण)॥

९५. गाथा : पठवीसमो न विरुज्झति—यहाँ साधक भिक्षु के संसार के प्रति उपेक्षामय जीवन के तीन दृष्टान्त (उपमा) दिये हैं—१. पृथ्वी, २. इन्द्रकील एवं ३. स्वच्छ सरोवर। जैसे पृथ्वी पर कुछ लोग गन्ध, माला आदि डालते हैं, तथा दूसरे लोग उस पर कूड़ा, कर्कट या मैला फेंकते हैं; इसी तरह नगर द्वार पर गड़े हुए इन्द्रकील (स्तम्भ) पर कुछ लोग माला फूल चढ़ाते हैं तो कुछ लोग वहाँ कूड़ा, कर्कट या मैला फेंकते हैं; परन्तु पृथ्वी एवं इन्द्रकील का उन दोनों ही प्रकार के कर्मों के प्रति उपेक्षाभाव ही रहता है। इसी तरह भिक्षु भी सत्कार एवं असत्कार दोनों के प्रति ही उपेक्षाभाव (तटस्थता) रखता हुआ अपनी साधना में लगा रहता है; क्योंकि किसी स्वच्छ सरोवर की तरह उस भिक्षु का चित्त (विकाररहित) होने के कारण सदा स्वच्छ ही रहता है॥

तादिनो—यह संस्कृत भाषा के 'तादृश्' या 'तादृक्ष्' के अपभ्रष्ट रूप 'तादि' का षष्ठी एकवचन में प्रयोग है।

९७. गाथा : अस्सद्धो अकतञ्ञू च—यहाँ ये दोनों ही शब्द कुछ विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ '**अस्सद्ध**' का अर्थ है—स्वयं साक्षात्कृत धर्मों में दूसरों के कथनमात्र से, जबकि उसमें कोई तर्क (युक्ति) न उपस्थित किया गया हो, साधक श्रद्धा (विश्वास) नहीं करता। इसी तरह, '**अकतञ्ञू**' का अर्थ है—अकत अर्थात् अकृत्रिम, अविनाशी तत्त्व (निर्वाण) को जानने वाला। अर्थात् जिसने निर्वाण का साक्षात्कार कर लिया है॥

१०५. गाथा : नेव देवो न गन्धब्बो न मारो सह ब्रह्मुना—इस उद्धरण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि बौद्धसाहित्य में भी संस्कृत साहित्य के समान इन्द्र, ब्रह्मा, वरुण आदि देवताओं तथा गन्धर्व आदि हीन देवताओं की सत्ता मानी गयी है तथा उन्हें मनुष्यों की अपेक्षा अधिक शक्तिसम्पन्न भी माना गया है; परन्तु वे सब भी भगवान् बुद्ध की अपेक्षा हीन (शक्तिविहीन) माने गये हैं। वीर्यबल एवं ज्ञानबल में भगवान् ही इनसे श्रेष्ठ हैं—ऐसी उनकी धारणा है॥

१०८. गाथा : यं किञ्चि यिट्ठं च हुतं च लोके—इस उद्धरण से स्पष्ट है कि बौद्धों का भी साधारण यज्ञ या हवन आदि को समर्थन प्राप्त है। अजितकेशकम्बल आदि अन्य नास्तिक आचार्य शास्ताओं के समान ये इनके एकान्ततः विरोधी नहीं थे। ये इन यज्ञ यागादि से प्राप्त होने वाली स्वर्गादिफलसाधनता से तो आश्वस्त हैं; परन्तु ये यज्ञ यागादि भवपरम्परा को क्षीण नहीं कर सकते, अतः ये निर्वाणप्राप्ति में कथमपि सहायक नहीं हैं। अथ च, इनके क्रियान्वयन में होने वाली हिंसा तो श्रमणसाधना के पूर्णतः विपरीत है, इसलिये, एतन्मात्र में

बौद्धों का यज्ञ हवनादि के प्रति विरोध ज्ञात होता है। परन्तु आचार्य बुद्धघोष ने यहाँ **यिट्ठं** का अर्थ किया है—माङ्गलिक क्रियाओं में बार बार प्रदत्त दान। **हुतं** का अर्थ किया है—अभिसंस्कार कर अतिथि को दान, तथा कर्म या फल पर श्रद्धा करते हुए प्रदत्त दान॥

११३. गाथा : अपस्सं उदयब्ययं—बौद्ध साधना में रूप, वेदना आदि पञ्चस्कन्धों का पचीस लक्षणों से उत्पाद एवं नाश का अनुसन्धान भी एक आवश्यक अङ्ग है॥

१२१. गाथा : न मं तं आगमिस्सति—यहाँ **बुद्धघोष** यों व्याख्यान करते हैं—''मैने यह अल्पमात्र (थोड़ा सा) ही पाप किया है, इसका क्या विपाक होगा, कुछ नहीं होगा''—इस तरह उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि जैसे कोई रिक्त घट (खाली घड़ा) एक एक बूँद गिरते गिरते भर जाता है उसी तरह यह पाप अल्पमात्र भी करते करते एक दिन विशाल राशि में एकत्र हो जाता है॥

१२३. गाथा : अप्पसत्थो महद्धनो—यहाँ 'अप्पसत्थ' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं। १. **अल्पसार्थ**, अर्थात् अल्प साथियों (सहायकों) वाला। 'सार्थ' अर्थात् वणिक्समूह तथा २. **अल्पशस्त्र** कम सुरक्षा वाला। प्रकरण में दोनों ही अर्थ लग सकते हैं॥

१२५. गाथा : सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स—वस्तुतः इस प्रसङ्ग में 'अङ्गण' शब्द का अर्थ (सं० अञ्जन) 'विकार' या 'क्लेश' हो सकता है। इसीलिये आचार्य ने यहाँ लिखा है—''निरङ्गणस्स=निक्किलेसस्स''। **शङ्कराचार्य** भी (मुण्ड० उ०, ३/१/३ में) इस अर्थ से सहमत हैं। या फिर **अङ्गणसुत्त** (म०नि०, मू०प० ५ सुत्त) में वर्णित 'अनङ्गण' का अर्थ विकाररहित भी हो सकता है। ये दो ही अर्थ यहाँ उचित प्रतीत होते हैं।

पोसस्स—'पुरिसस्स' का अपभ्रंश, छन्द की दृष्टि से लिखा गया है।

पच्चेति—प्रत्येति (सं०)=पुनः लौट आता है॥

१३६. अग्गिदड्ढो व तप्पति—संस्कृत भाषा का 'दग्ध' शब्द प्राकृत में 'दद्ध', परन्तु पालि में 'दड्ढ' हो जाता है। (द्र०—कच्चायन सूत्र ४/३/६ एवं ४/५/६)॥

१३९ गाथा : राजतो वा उपसग्गं—यहाँ 'उपसर्ग' का अर्थ होता है—उपद्रव या दुर्घटना। यहाँ आचार्य ने इसी को यह लिखकर स्पष्ट किया है—यशोविलोप (कीर्तिनाश=निन्दा) या सेनापति आदि प्रतिष्ठित पदों से हटाना आदि दण्ड।

भोगानं वा पभङ्गुरं—यहाँ आचार्य लिखते हैं—''**पभङ्गुरं** ति। पभङ्गुरभावं=पूतिभावं (पुराना होना, सड़ जाना)। यं हिस्सं गेहे धञ्ञं होति तं पूतिभावं आपज्जति, सुवण्णं अङ्गारभावं, मुत्ता कप्पासट्ठिभावं, कहापणं कपालखण्डादिभावं, द्विपद-चतुप्पदा काण-कुणादिभावं ति अत्थो॥''

१४१. गाथा : रजोजल्लं उक्कुटिकप्पधानं—रजोजल्लं—कीचड़ या भस्म आदि लपेट कर शरीर को धूलिधूसरित रखना॥

उक्कुटिकप्पधानं—उकडू बैठ कर साधना करना॥

१४३. गाथा : यो निन्दं अपबोधेति—यहाँ दो तरह का पाठ मिलता है—१. अपबोधेति, एवं २. अप्पबोधेति। दोनों के अर्थ में कोई भिन्नता नहीं है। दोनों का ही अर्थ 'सहन न करना' हो सकता है। परन्तु कुछ विद्वान् 'अप्पबोधेति' पर शास्त्रदृष्टि से गम्भीर विचार करते हुए, उनमें से कुछ 'अप्पबोधेति' को नञ्समासयुक्त समझते हुए 'नहीं सहन करता' यह-अर्थ करते हैं। यहीं कुछ विद्वान् बोधेति के साथ अप्प (अल्प) शब्द का समास समझते हैं। यदि शास्त्र की दृष्टि ऐसा हो पाता हो तो पीछे इस ग्रन्थ की १२१ गाथा में भी 'माप्पमञ्ञेथ' पाठ रखने में कोई हानि नहीं दिखायी देती॥

१४८. गाथा : मरणन्तं हि जीवितं—यहाँ विद्वान् को शकार **चाइल्डर्स** ने 'मरणन्तं हि' पाठ माना है, परन्तु **फासबोल** ने 'मरणं तम्हि' माना है। आचार्य बुद्धघोष ने 'मरणन्तं' पाठ मान कर इसका 'मरणपरियोसानं' व्याख्यान किया है॥

१४९. गाथा : यानिमानि अपत्थानि—किसी किसी ने यहाँ 'अपथ्यानि' पाठान्तर दिया है; परन्तु आचार्य ने यहाँ 'छड्डितानि' व्याख्यान किया है जो 'अपत्थानि' पाठ मानने पर ही सङ्गत होगा। तथा **दिव्यावदान** में उपलब्ध इसकी संस्कृत-छाया भी इसी अर्थ में उचित बैठती है॥

१५३. गाथा : सन्धाविस्सं अनिब्बिसं—'सन्धाविस्सं' यह अज्जतनी विभत्ति (सं० लुङ् लकार) का रूप है, इसीलिये आचार्य ने इसकी व्याख्या की है—''**सन्धाविस्सं** ति संसरिं। अपरापरं अनुविचरिं ति अत्थो।'' यहाँ इसको भविष्यत्काल का प्रयोग मानना पण्डित **मैक्समूलर** का अपाण्डित्य ही है, क्योंकि यह बुद्धवचन है, तथा बुद्ध का अब आगे जन्म होना असम्भव है॥

१५७. गाथा : तिण्णं अञ्ञतरं यामं—यहाँ आचार्य बुद्धघोष कहते हैं—**याम** शब्द से अपनी धर्मस्वामिता एवं देशनाकौशल दिखाते हुए भगवान् (प्राणी की) आयु को तीन यामों (भागों) में बाँट रहे हैं। अतः इस गाथा का यह अर्थ करना चाहिये—'यदि प्राणी को अपने से स्नेह है तो उसकी पूर्णतः रक्षा करनी चाहिये।' विस्तार के लिये इस गाथा की अट्ठकथा (पृ० ११७२) भी देखें॥

१६१. गाथा : वजिरं वस्ममयं मणिं—इस वाक्यांश को सन्धिविच्छेद कर यों पढ़ना चाहिये—वजिरं व अस्ममयं मणिं। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे पाषाण से उत्पन्न वज्र उसी पाषाण से उत्पन्न अश्मणि को, अपनी उत्थान एवं पतन क्रियाओं से, खा कर, उसमें छिद्र कर, उसको खण्ड खण्ड कर किसी कार्य के उपयुक्त नहीं छोड़ता; वैसे ही स्वयं कृत, स्वयं में उत्पन्न तथा स्वयं से परिपुष्ट पाप (दुष्कर्म) प्रज्ञाविहीन पुद्गल को चारों नरकयोनियों में गिरा गिरा कर मथता रहता है।

यहाँ 'वज्र' का अर्थ है—हीरामणि। (द्र०—अमरकोष—३-१८४ ''वज्रोऽस्त्री हीरके

पवौ'')। हीरा बहुत अधिक कठोर होता है, अतः वह दूसरी मणियों में छिद्र करने में सर्वथा समर्थ होता है॥

१६४. गाथा : यो सासनं अरहतं—पालि साहित्य में बौद्ध साधकों (भिक्षुओं) को चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है। वे श्रेणियाँ क्रमशः ये हैं—१. स्रोतआपन्न, २. सकृदागामी, ३. अनागामी एवं ४. अर्हत्। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. स्रोतआपन्न साधक तथा **स्रोत आपत्तिफल**—कोई साधक स्रोतआपन्न इसलिये कहलाता है कि उसने अष्टाङ्गिक मार्ग रूप बुद्धोपदिष्ट धर्म को साधनाहेतु स्वीकार किया है। इन स्रोतआपन्न साधकों के ये **चार अवश्य पालनीय व्रत** हैं—भगवान् बुद्ध, तदुपदिष्ट धर्म तथा उनके अनुयायी भिक्षुसङ्घ में श्रद्धा एवं शील (सदाचार) के पालन में विश्वास रखना। **स्रोतआपत्ति के** ये **चार अङ्ग** हैं—१. सत्पुरुष की सेवा, २. सद्धर्म का श्रवण, ३. योनिशः मनस्कार (कारणपूर्वक तत्त्वों का चिन्तन-मनन) धर्मानुधर्मप्रतिपत्ति (लोकोत्तर धर्म की अनुधर्मभूत पूर्वभाग की प्रतिपत्ति (आचरण)। इस **स्रोतआपत्ति** अवस्था **का** महत्त्वपूर्ण **फल** यह है कि उस का (स्रोतआपन्न साधक) १. सत्कायदृष्टि (आत्मदृष्टि), २. विचिकित्सा (धर्म के प्रति सन्देह) एवं ३. शीलव्रतपरामर्श (अन्य सम्प्रदायों के कथित शीलव्रतों के पालन में मुग्ध रहना)—इन तीन संयोजनों (बन्धनों) का क्षय हो जाता है। (विशेष द्र०—दी०नि०, तृ०भा०, पृ० ७७९ बौ० भा० सं०।

ऐसा स्रोतआपत्तिप्राप्त साधक अधिक से अधिक सात बार ही इस संसार में मनुष्यजन्म लेता है। इसी बीच, धर्मसाधना करते करते उसे निर्वाण का साक्षात्कार हो जाता है।

२. सकृदागामी साधक तथा **इस अवस्था का फल**—यह (सकृदागामी अवस्था) बौद्ध साधकों की द्वितीय कोटि है। इसका वर्णन शास्त्र में यों मिलता है—इस (सकृदागामी) साधक के भी उपर्युक्त (सत्कायदृष्टि आदि) संयोजनों के क्षीण हो जाने से तथा राग, द्वेष, मोह के तनु (दुर्बल) हो जाने के कारण यह साधक सकृदागामी भाव को प्राप्त हो जाता है। अतः वह एक ही बार इस लोक में पुनः जन्म ग्रहण करता है, और उतने समय में साधना करता हुआ अपने दुःखों का अन्त कर निर्वाण का साक्षात्कार कर लेता है। (द्र०—दी०नि०, प्र०भा०, पृ० १६७, बौ०भा०सं०)।

३. अनागामी साधक तथा **उस अवस्था का फल**—यह बौद्ध साधकों की तीसरी अवस्था है। इस अवस्था को प्राप्त साधक केवल एक ही बार जन्म लेता है, वह भी इस भूलोक में नहीं, अपि तु देवलोक में (औपपातिक)। अतः इसे 'अनागामी' कहा जाता है। इस अवस्था में, यह साधना करते हुए, अपने पाँच अवरभागीय संयोजनों (१. सत्कायदृष्टि, २. विचिकित्सा, ३. शीलव्रतपरामर्श, ४. कामच्छन्द एवं ५. व्यापाद—इन बन्धनों) का सर्वथा क्षय कर डालता है। अतः वह देवलोक से पुनः इस लोक में नहीं आता। वहीं उसको निर्वाण का साक्षात्कार हो जाता है।

शास्त्र में इस अनागामी साधक के पाँच भेद बताये गये हैं; जैसे—१. अन्तरा-परिनिब्बायी, २. उपहच्चपरिनिब्बायी, ३. असङ्खारपरिनिर्वायी, ४. ससङ्खारपरिनिब्बायी, एवं ५. उद्धंसोत अकनिट्ठगामी। (इनका विस्तृत वर्णन हमने **संयुक्तनिकायपालि** (हिन्दी अनुवादसहित) के **४८. इन्द्रियसंयुत्त के पठमवित्थारसुत्त** में किया है वहाँ (बौ०भा०सं०, पृ० १८७९) अवश्य देखें।

४. अर्हत् साधक तथा **उस अवस्था का फल**—बौद्ध साधकों की चतुर्थ कोटि है अर्हत् अवस्था। इस अर्हत् अवस्था का वर्णन पालिसाहित्य में अनेकत्र यथाप्रसङ्ग मिलता है। इस (धम्मपद) ग्रन्थ में भी अर्हत् की विशेष स्थिति (**अरहन्तवग्ग सप्तम में**) वर्णित है। उसका भी मनन कर लेना चाहिये। ऐसे ही त्रिपिटक में भी अर्हत् का यथास्थान वर्णन मिलता है। संक्षेप में—इस स्थिति में पहुँचा हुआ साधक भिक्षु आश्रवों (चित्तविकारों) के क्षीण हो जाने से, आश्रवरहित चित्त की विमुक्ति के ज्ञान द्वारा इसी जन्म में निर्वाण को स्वयं जानकर, उसका साक्षात्कार कर साधना में रत रहता है। अन्त में वह अपने विषय में यह घोषणा कर देता है कि—

''मेरी जन्मपरम्परा क्षीण हो चुकी है, मेरी धर्मसाधना पूर्ण हो चुकी है, मैं कृतकृत्य हो चुका हूँ, मैने सदर्थ (निर्वाण) की प्राप्ति कर ली है, मेरा अब यहाँ कोई कर्तव्य शेष नहीं है।'' (द्र०—दी०नि०, प्र०भा०, पृ० १६७, बौ० भा० सं०)।

१६४. गाथा : दिट्ठिं निस्साय पापिकं—यहाँ पापिका (पापमय) दृष्टि से मिथ्यादृष्टि में तात्पर्य है। मिथ्यादृष्टि अर्थात् अन्य सम्प्रदायों के मतों (धारणाओं) पर श्रद्धा रखते हुए उन पर आचरण करना। यह मिथ्यादृष्टि इस शास्त्र में बौद्ध साधक को दुर्गति की ओर ले जाने वाली कही गयी है। जैसे—

मिच्छादिट्ठि समादाना, सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं॥ (ध०प०, नि० व० १३ गा०)

१६८. गाथा : उत्तिट्ठे नप्पमज्जेय्य—यहाँ अनेक टीकाकारों ने **उत्तिट्ठे** का अर्थ स्व स्व मनोनुकूल कर लिया है, अत: अनर्थ की सम्भावना देखते हुए, हम इस गाथा अंश का आचार्यकृत व्याख्यान अक्षरश: उद्धृत कर रहे हैं—''यहाँ (गाथा में) **उत्तिट्ठे** का अर्थ है—खड़े होकर। अर्थात् दूसरों (गृहस्थों) के गृहद्वार पर भिक्षाहेतु खड़े होकर प्राप्त भिक्षा में किसी प्रकार का प्रमाद नहीं करना चाहिये। भिक्षाचर्या के नियमों को त्याग कर वहाँ प्रणीत भोजन माँगना भी 'पदक्रम' की भिक्षा में 'प्रमाद' कहलाता है। सपदान (क्रमश:=प्रत्येक घर में) भिक्षाचर्या में यह 'प्रमाद' नहीं कहलाता। ऐसा (उपर्युक्त प्रकार से भिक्षा) करने के लिये खड़ा हुआ भिक्षु कोई प्रमाद न करे। **धम्मं सुचरितं चरे**—प्रणीत भोजन की कामना छोड़ कर सपदान भिक्षाचारिका करता हुआ भिक्षाचर्या के नियमों का यथाविधि पालन करे। **धम्मचारी सुखं सेति**—यह देशनामात्र है। अभिप्राय इतना ही है कि इस भिक्षाचर्या धर्म का पालन

करता हुआ भिक्षु अपने ईर्यापथों को व्यवस्थित रखता हुआ ही सुविधापूर्वक साधना कर सकता है''॥

१७०. मच्चुराजा न पस्सति—यहाँ 'मृत्युराज' शब्द से 'मृत्यु', 'यम' एवं मार—तीनों का ही ग्रहण किया जा सकता है; जैसा कि **सुत्तनिपात** (५/१६/४) के व्याख्यानभूत **चुल्लनिद्देस** (पृ० १९७) में कहा गया है—''मच्चु पि मच्चुराजा, मारो पि मच्चुराजा, मरणं पि मच्चुराजा'' ति॥

१७६. गाथा : एकं धम्मं अतीतस्स—यहाँ **एकं धम्मं** का अर्थ पाश्चात्य विद्वानों (फोसबोल एवं मैक्समूलर) ने 'एक धर्मविधि' अर्थ किया है, तथा डॉ० राधाकृष्णन् ने 'बुद्धोपदिष्ट धर्म' बताया है; परन्तु आचार्य बुद्धघोष ने ''एकं धम्मं ति सच्चं''—यह अर्थ किया है। हम भी इसी से सहमत हैं। इसी अर्थ से उपनिषदादि आर्ष साहित्य से भी भगवान् के वचन की अनुकूलता संगत होती है॥

१७९. गाथा : तं बुद्धमनन्तगोचरं—यहाँ 'बुद्ध' शब्द का मुख्य अर्थ 'जागरित' (जागा हुआ) अर्थात् तत्त्वज्ञान में प्रबुद्ध। इस (बुद्ध) का 'ज्ञानी' अर्थ तो लक्षणा से प्राप्त होता है॥

१८०. गाथा : तण्हा नत्थि कुहिञ्चि नेतवे—यहाँ छन्दोभङ्गभय से संस्कृतानुवाद में 'कुहिञ्चि' का 'क्वचित्' ही रखा है, 'कस्मिंश्चित्' नहीं॥

१८१. गाथा : नेक्खम्मूपसमे रता—यहाँ 'नेक्खम्म' का अर्थ कुछ विद्वानों ने 'नैष्कर्म्य' लिखा है, परन्तु अन्य पाश्चात्त्य विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं; उनका कहना है कि बौद्धसम्मत संन्यासविधि में कर्महीनता का कोई स्थान नहीं है। अत: वे इस (नेक्खम्म) का 'नैष्क्रम्य' अर्थ करते हुए इसका 'संसार छोड़कर प्रव्रज्या ग्रहण'—ऐसा व्याख्यान करते हैं। इस व्याख्यान पर स्वीकृति देते हुए आचार्य कहते हैं—''एत्थ पब्बज्जा 'नेक्खम्मं' ति न गहेतब्बा। किलेसवूपसमन-निब्बानरतिं पन सन्धायेतं वुत्तं। यह 'नैष्क्रम्य' शब्द (निस् उपसर्गपूर्वक क्रमु पादविक्षेपे भ्वा० धातु से) भाव में ष्यञ् प्रत्यय होकर बना है। उसी का पालि रूप है—नेक्खम्म॥

१८२. गाथा : किच्छो बुद्धानमुप्पादो—'बुद्ध'—यह भगवान् का नाम (संज्ञा) नहीं है, अपि तु उनके तत्त्वदर्शी एवं सर्वज्ञ आदि होने के कारण उनका विशेषण (विशेषताबोधक) या उपाधि है। इसीलिये 'बुद्ध' शब्द में बहुवचन लगाया गया है; क्योंकि पालि तिपिटक के अनुसार अनेक बुद्ध हो चुके हैं, तथा आगे भी होंगे। **दीघनिकाय** (पृ० २६२) तथा **संयुत्तनिकाय** में (पृ०३९५-४००) विपस्सी आदि सात पूर्व बुद्धों का विस्तृत वर्णन मिलता है। **बुद्धवंस** में दीपङ्कर आदि पचीस बुद्धों की गणना दिखायी है॥

(ख) **बुद्धों के भेद**—दो प्रकार के बुद्ध शास्त्र में वर्णित हैं; जैसे—१. प्रत्येकबुद्ध, तथा २. सम्यक्सम्बुद्ध। यहाँ प्रत्येकबुद्ध भी बोधि प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु इसको समाज में

धर्मरूप से प्रचार करने हेतु कोई प्रयास नहीं करते। इसके विपरीत, सम्यक्सम्बुद्ध बोधिप्राप्त्य-नन्तर, जीवों के कल्याणहेतु सद्धर्मप्रचार में भी प्रयासरत रहते हैं। इसीलिये इन्हें 'शास्ता' एवं 'भगवान्' भी कहा जाता है।

परन्तु खेद की बात है कि क्रूर 'जातिवाद' ने बौद्धों का भी पीछा नहीं छोड़ा, उनकी भी मान्यता है कि सम्यक्सम्बुद्ध क्षत्रिय या ब्राह्मण जाति में ही अवतरित होते हैं। इसके लिये उनको ९१ कल्प पूर्व अवतरित विपस्सी बुद्ध के लिये 'क्षत्रिय' की कल्पना करनी पड़ी। उस समय (इतने दीर्घकाल पूर्व) मनुष्यों में यह जातिवाद किस रूप में था—यह भगवान् जानें या विद्वान् लोग॥

१८४. गाथा : खन्ती परमं तपो तितिक्खा—यह 'खन्ति' शब्द संस्कृत के 'क्षान्ति' का अपभ्रष्ट रूप है। पालि में यह शब्द 'खन्ति' (ह्रस्व इकारान्त) तथा 'खन्ती' (दीर्घ इकारान्त) दोनों प्रकार से मिलता है। 'खन्ति' का अर्थ है—क्षमा (सहनशीलता) और 'तितिक्खा' (तितिक्षा) का अर्थ भी सहनशीलता है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है—एक ही अर्थ के द्योतनहेतु दो शब्द क्यों प्रयुक्त हुए? आचार्य बुद्धघोष इस प्रश्न को ध्यान में रखकर इस वाक्यांश का यों अर्थ करते हैं—"यह जो लोक व्यवहार में 'तितिक्षा' (सहनशीलता) कहलाती है उसे ही 'क्षान्ति' भी कहते हैं, यह (क्षान्ति) इस बुद्ध-धर्म में 'उत्तम तप' कहलाता है।"

(ख) निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा—बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध एवं अनुबुद्ध—ये तीनों ही प्रकार के बुद्ध निर्वाण को साधक के लिये उत्तम तप कहते हैं।

'निर्वाण' शब्द को समझाने के लिये **अमरकोषकार** ने इस शब्द का अर्थ समझाने के लिये उस समय में प्रयुक्त इस शब्द के समानार्थक सभी शब्दों को एकत्र कर दिया है, जैसे—

"मुक्तिः कैवल्य निर्वाण श्रेयो निःश्रेयसामृतम्।
मोक्षोऽपवर्गः। (अ० को० १/५/६-७)

'निर्वाण' का अर्थ समझने समझाने के लिये इससे सरल एवं सुगम विधि अन्य नहीं हो सकती॥

१८५. गाथा : पातिमोक्खे च संवरो—'पातिमोक्ख' (सं० प्रातिमोक्ष) के विषय पर विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है। उस विस्तार को समझते हुए यहाँ संक्षेप में इसका अर्थ यों समझिये—भगवान् बुद्ध द्वारा प्रोक्त भिक्षुओं के लिये अवश्य पालनीय नियम या उनका संग्रह। यह **विनयपिटक** में **विभङ्ग** नाम से भिक्खुपातिमोक्ख एवं भिक्खुनीपातिमोक्ख के रूप में संगृहीत है॥

एतं बुद्धान सासनं—यहाँ दो पाठ मिलते हैं—१. **बुद्धान सासनं** तथा २. **बुद्धानुसासनं**। 'बुद्धान सासनं' में 'बुद्धानं के अनुस्वार का लोप हो गया है। अर्थ दोनों का एक ही है—बुद्धों का आदेश॥

१८६. गाथा : न कहापणवस्सेन—कहापण (सं० कार्षापण) भगवान् बुद्ध के समय सोने या चाँदी के सिक्के (मुद्रा) के लिये यह शब्द प्रयुक्त होता था। मनु के समय में सम्भवत: यह ताँबे का ही प्रचलित था, वे लिखते हैं—"कार्षापणस्तु विज्ञेय:, ताम्रिको वार्षिक: पण:" (म० ८/१३६)। 'कार्षापण' का व्यवहार बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। कहापणवस्सेन—कार्षापणों की वृष्टि से। **धम्मपदट्ठकथा** से ज्ञात होता है कि इस गाथा का चक्रवर्ती राजा मान्धाता की तरफ सङ्केत है॥

१८७. गाथा : सम्मासम्बुद्धसावको—"भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट विधि से साधना करने वाला कोई क्षीणाश्रव बौद्ध भिक्षु"—यह आचार्य बुद्धघोषसम्मत अर्थ है। मैक्समूलर ने 'सम्मासम्बुद्ध' को 'सावक' का विशेषण मान लिया है। यह कैसे हो सकता है? क्योंकि पालिसाहित्य में 'सम्मासम्बुद्ध' केवल भगवान् बुद्ध का ही विशेषण हो सकता है, या होता है। वह किसी साधारण भिक्षु के लिये कैसे प्रयुक्त किया जा सकता है!॥

१८८. गाथा : पब्बतानि वनानि च—यहाँ 'पर्वत' शब्द से पालिसाहित्य में वर्णित उस समय के प्रसिद्ध ऋषिगिल, वैपुल्य, पब्भार आदि पर्वतों की गणना है। इसी तरह 'वन' शब्द से महावन, गोसिङ्ग एवं शालवन आदि की ओर सङ्केत है।

यहाँ 'पर्वत' शब्द नपुंसकलिङ्ग में व्यवहृत है। साधारणत: इसका प्रयोग पुल्लिङ्ग में ही होता है, जैसे—"यथापि सेला विपुला नभं आहच्च पब्बता" (सं०नि०, पृ०)॥

१९४. गाथा : सुखा सङ्घस्स सामग्गी—यहाँ आचार्य ने 'सामग्गी' का अर्थ किया है—समचित्तता (एकचित्तता)। अर्थात् किसी भी विषय पर सबका सहमत होना। अपने इस अर्थ की परिपुष्टिहेतु वे दीर्घनिकाय के महापरिनिर्वाणसूत्र (पृ० ३३३) का उद्धरण देते हैं—"यावकीवं चे, भिक्खवे, भिक्खू समग्गा सन्निपतिस्सन्ति, समग्गा वुट्ठहिस्सन्ति, समग्गा सङ्घकरणीयानि करिस्सन्ति, वुद्धियेव, भिक्खवे, भिक्खूनं पाटिकङ्खा, न नो परिहानी" ति॥

समग्गानं तपो सुखं—यहाँ आचार्य के अनुसार—'तप' शब्द से बुद्धवचनों का उद्ग्रहण (सीखना), धुताङ्गों का आराधन, एवं श्रमणधर्मों का पालन (धर्माभ्यास)—सभी कुछ संगृहीत कर लेना चाहिये॥

१९८. गाथा : आतुरेसु मनुस्सेसु—यहाँ आचार्य बुद्धघोष 'आतुरेषु' का अर्थ मानते हैं—राग, द्वेष, लोभ, मोह आदि क्लेशों से पीड़ित मनुष्यों में—यह मानते हैं।

२००. गाथा : पीतिभक्खा भविस्साम, देवा आभस्सरा यथा—अट्ठकथा में इसका व्याख्यान है—"जैसे आभास्वर (स्वर्गविशेष) लोकवासी देवता प्रीतिभक्ष होकर प्रीतिसुख का ही अनुभव करते हुए अपना जीवन व्यतीत करते हैं, उसी तरह हम भी, (भिक्षा में) कुछ भी न मिलने पर प्रीतिसुख का आस्वादन करते हुए अपना समय बिता लेंगे।" 'आभस्सर' शब्द के अर्थ के लिये **मलालशेखर का शब्दकोष** देखें।

२०१. गाथा : जयं वेरं पसवति—यहाँ **जयं** शब्द शतृ प्रत्यय का रूप है। अतः इसका अर्थ आचार्य ने लिखा है—दूसरे को जीतने वाला। यह गाथा **संयुक्तनिकाय** में भी (प्र०भा०, पृ० १३९)उपलब्ध है॥

२०२. गाथा : नत्थि दोससमो कलि—यहाँ आचार्य ने 'कलि' का अर्थ किया है—अपराध। कुछ विद्वान् 'पाप' अर्थ से काम चलाते हैं। विद्वान् **मैक्समूलर** ने 'द्यूत का भाग्यहीन पासा' अर्थ किया है। जो कि सायणभाष्य से उधार लिया ज्ञात होता है; क्योंकि **सायणाचार्य** ने **अथर्ववेद** (७/१०१/१) के मन्त्र में आये 'कलि' का अर्थ अपने भाष्य में यों किया है—''पराजयहेतुः पञ्चसङ्ख्यायुक्तोऽक्षविषयो यः स कलिरित्युच्यते''।

नत्थि खन्धादिसा दुक्खा—यद्यपि पालिसाहित्य में **'स्कन्ध'** शब्द मनुष्यशरीरावयव (अङ्गविशेष) कन्धे के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है, परन्तु यह साधारणतः प्रायः पारिभाषिक अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है—पाँच उपादानस्कन्ध। वे (उपादानस्कन्ध) ये हैं—१. रूप, २. वेदना, ३. संज्ञा, ४. संस्कार एवं ५. विज्ञान। ये पाँच उपादानस्कन्ध एकत्र (संयुक्त) होकर जन्मपरम्परा का ग्रहण करते हैं, अतः ये दुःखस्वरूप हैं। इसीलिये त्रिपिटक में कहा है—

''यथा हि अङ्गसम्भारा होति सद्दो 'रथो' इति।
एवं खन्धेसु सन्तेसु होति 'सत्तो' ति सम्मुति॥

—सं०नि०, प्र०भा०, पृ० २२३, (बौ०भा०सं०)

२०३. गाथा : जिघच्छापरमा रोगा—यहाँ 'जिघच्छा' शब्द के मूल (संस्कृत) रूप दो हो सकते हैं; १. जिघत्सा (भूख) और २. जिघृक्षा (ग्रहण करने की इच्छा (तृष्णा) या उपादान)। दोनों ही अर्थ यहाँ गृहीत किये जा सकते हैं; परन्तु आचार्य इसकी व्याख्या यों करते हैं—''जैसे कोई अन्य रोग एक बार चिकित्सा करने पर समूल नष्ट हो जाता है, या दब जाता है (कुछ समय के लिये कम हो जाता है), यह बात जिघत्सा (भूख=भोजन करने की इच्छा) पर चरितार्थ नहीं होती; क्योंकि उसकी प्रतिदिन चिकित्सा (खाद्य पदार्थ का ग्रहण) करनी पड़ती है, अन्यथा यह सदा बढ़ती ही रहती है। अतः यह अन्य रोगों से उत्कृष्टतम कही गयी है।'' अतः 'परम्परा' की रक्षा के लिये इसी अर्थ से सहमत होना पड़ेगा॥

२०४. गाथा : विस्सासपरमा ञाति—इसको आचार्य बुद्धघोष इस तरह स्पष्ट करते हैं—''माता हो या पिता, यदि उन पर विश्वास नहीं है तो वे असम्बन्धी ही कहलायेंगे। परन्तु जिस पर विश्वास हो, फिर भले ही वह अपना सम्बन्धीजन न भी हो तो भी, वह विश्वास के पात्र है। इसीलिये कहा जाता है—विश्वास सबसे बड़ा सम्बन्धीजन (रिश्तेदार) है॥''

२०५. गाथा : निद्दरो होति निप्पापो—'दरत्रासौ, भीतिर्भीः साध्वसं भयम्'—(अ०को० १/७/२१) के अनुसार 'दर' का अर्थ 'भय' होता है। अतः निद्दर का 'निर्भय' अर्थ उचित ही है। लोक (भाषा) में भी लोग इस अर्थ में 'निडर' शब्द का ही प्रयोग करते हैं॥

२०६. गाथा : साहु दस्सनमरियानं—यहाँ 'साहु' का अर्थ 'साधु' है। आचार्य बुद्धघोष लिखते हैं—''**साहू** ति साधु। सुन्दरं, भद्दकं।''

सन्निवासो सदा सुखो—'ऐसे आर्यों का केवल दर्शन ही साधु नहीं है, अपि तु उनके साथ बैठना उठना भी भद्रतादायक ही होता है; इसी बीच यदि उनकी सेवा-शुश्रूषा करने का भी अवसर मिल जाय तब तो फिर कहना ही क्या है!''—यह इस वाक्यांश का आचार्य बुद्धघोषकृत व्याख्यान है॥

२०९. गाथा : अयोगे युञ्जमत्तानं—अयोगे = अयोग्य, अनुचित मनःसङ्कल्प। यहाँ 'अनुचित मनःसङ्कल्प' से वेश्याओं के साथ रहना आदि षड्विध मनःसङ्कल्प अभिप्रेत है। ऐसे अनुचित मनःसङ्कल्प में अपने को लगाते हुए। **योगे**—उसके विपरीत 'योग्य में'। योग्य मनःसङ्कल्प में न लगाते हुए। **अत्थं हित्वा**—'अर्थ' कहते है प्रव्रज्याकाल में आरब्ध अधिशील, अधिचित्त एवं अधिप्रज्ञ शिक्षाओं को। **पियगाही—प्रिय** अर्थात् पाँच कामगुणों को प्रिय की तरह करता हुआ। **पिहेतत्थानुयोगिनं**—उस कुकर्म द्वारा शासन (धर्म) च्युत होकर पुनः गृहस्थ धर्म स्वीकार कर, बाद में जो आत्मानुयोग (आत्मसंयम) द्वारा शीलादि गुण संगृहीत कर देवमनुष्यों से लाभ-सत्कार प्राप्त करते हैं उनसे ऐसी स्पृहा (ईर्ष्या) करता है कि मैं भी इन जैसा हो जाऊँ!॥

२१८. गाथा : उद्धंसोतो ति वुच्चति—इस वाक्यांश की व्याख्या में आचार्य बुद्धघोष कहते हैं—ऐसा भिक्षु अविह नामक देवलोक में उत्पन्न होकर, वहाँ से च्युत होकर, प्रतिसन्धि (पुनर्जन्म) के आश्रय से उससे ऊपर अकनिष्ठ देवलोक जाता हुआ 'ऊर्ध्वंस्रोताः' कहलाता है।

२३०. गाथा : नेक्खं जम्बोनदस्सेव—यहाँ नेक्ख (सं० निष्क) शब्द के तीन अर्थ होते हैं—१. सुवर्णमुद्रा (भिन्न भिन्न मूल्य की, परन्तु १६ माशा या एक कर्ष के तोल वाले सुवर्ण के समान); २. १०८ से १५० कर्ष के तोल का सुवर्ण, या ३. सुवर्ण का बना कण्ठाभूषण। ये तीनों ही अर्थ यहाँ संगत प्रतीत होते हैं।

२५६. गाथा : येनत्थं साहसा नये—आचार्य बुद्धघोष ने इस गाथांश का व्याख्यान इस प्रकार किया है—''स्वेच्छाचारिता (छन्द) आदि में प्रतिष्ठित होकर साहस=मृषावाद के साथ जो निर्णय करे। अर्थात् १. जो **स्वेच्छाचारिता के वश में होकर** 'यह मेरा सम्बन्धी है', 'यह मेरा प्रिय है'—ऐसा मानकर असत्य का आश्रयण कर अनधिकारी के पक्ष में अधिकार का निर्णय कर दे; २. **द्वेष के कारण**, अधिकारी होते हुए भी उसे, अपना विरोधी (शत्रु) समझता हुआ, उसके न्याय्य पक्ष से च्युत कर देता है; या फिर ३. **मोह में प्रतिष्ठित होकर**, विवाद को सुनते समय, उपेक्षापूर्वक इधर उधर देखता हुआ, अन्त में असत्य भाषण के सहारे से 'इसने जीत लिया', या 'यह पराजित हो गया' आदि कहकर दूसरे को पराजित कर देता है। या फिर ४. **भय के कारण** किसी ऐश्वर्यशाली के, जो उस वाद में पराजय के निकट पहुँच

चुका है, पक्ष में निर्णय कर देता है, उसे विजयी बना देता है। यह सब 'साहसपूर्वक निर्णय' कहलाता है। ऐसा न्यायाधीश 'धर्मपूर्वक निर्णयकर्ता' नहीं कहलाता। जो विद्वान् (न्यायाधीश) अर्थ (उचित) एवं अनर्थ (अनुचित)—दोनों का विचार करके निर्णय करता है वही वास्तविक न्यायाधीश है। आगे की गाथाओं में भी 'असाहसेन' का अर्थ भी इसी भाव में समझ लें॥

२७२. **गाथा : फुसामि नेक्खम्मसुखं**—'नेक्खम्म' शब्द का बौद्धशास्त्रसम्मत व्याख्यान हम पीछे (गाथा सं० १८१) में कर आये हैं। उसे भी देख लें। यहाँ आचार्य ने 'नेक्खम्मसुखं' का व्याख्यान—'अनागामी सुख' किया है। या ''मैं उस अनागामी सुख को प्राप्त करूँगा'—इतने मात्र से'' यह किया है॥

२७३. **गाथा : द्विपदानं च चक्खुमा**—यहाँ आचार्य बुद्धघोष ने भी 'चक्खुमा' का अर्थ पालिपरम्परानुसार तथागत (भगवान् बुद्ध) ही किया है। यहाँ 'च' पाठ से अरूपधर्मियों का भी ग्रहण किया गया है, अत: अरूपधर्मियों में भी तथागत ही श्रेष्ठ हैं—यह समझना चाहिये॥

२७५. **गाथा : अञ्ञाय सल्लकन्तनं**—आचार्य कहते हैं—''यह आर्य (अष्टाङ्गिक) मार्ग राग शल्य आदि का निकालने वाला, काटने वाला, विशृङ्खलित (अव्यूहन) करने वाला है। मैंने परम्परया श्रवण किये विना ही अर्थ का साक्षात्कार कर तुम्हें यह मार्ग निर्दिष्ट किया है॥

२८६. **गाथा : अन्तरायं न बुज्झति**—आचार्य ने इस वाक्यांश को यों स्पष्ट किया है—'''इस समय में, इस देश में, इस आयु में मैं मरूँगा'—ऐसा वह अपने जीवन पर आने वाले सङ्कट के विषय में नहीं सोच पाता।''

२८७. **गाथा : सुत्तं गामं महोघो व—अट्ठकथा**—''**सुत्तं गामं** ति। निद्दं उपगतं सत्तनिकायं। **महोघो वा** ति। यथा एवरूपं गामं गम्भीरवित्थतो महन्तो महानदीनं ओघो, अन्तमसो सुनखं पि असेसेत्वा, सब्बं आदाय गच्छति। एवं वुत्तप्पकारं नरं मच्चु आदाय गच्छतीति अत्थो''। (जैसे गम्भीर निद्रा में सोये हुए समस्त ग्राम को महानदियों का गहरा एवं विस्तृत जलप्रवाह, यहाँ तक कि एक कुत्ते को भी न छोड़कर, बहाये विना किसी भी दशा में नहीं छोड़ता; उसी प्रकार मृत्युराज उक्त प्रमादसम्पन्न पुरुष को निर्दयतापूर्वक लेकर चल देते हैं।) तु०—पूर्व गाथा सं० ४७॥

२८८. **अन्तकेनाधिपन्नस्स**—मृत्यु द्वारा गृहीत के। कहने का तात्पर्य है कि सांसारिक जीवन में तो पुत्र आदि अन्न पानादि देकर, या किसी अन्य सङ्कट में सहायक होकर रक्षक बन भी सकते हैं; परन्तु मृत्यु द्वारा अधिगृहीत होने पर वे (पुत्रादि) भी विवश हो जाते हैं तथा उसकी रक्षा करने में असमर्थ ही रह जाते हैं। इसलिये कहा है—''सम्बन्धिजन भी ऐसे समय में रक्षा नहीं कर सकते।''

२९२. गाथा : यं यं किच्चं अपविद्धं—यहाँ आचार्य ने भिक्षु के लिये कृत्य (पालनीय कर्म) एवं अकृत्य (त्याज्य कर्म) का परिगणन इस प्रकार किया है—**कृत्य**—१. अपरिमित शीलस्कन्ध की रक्षा, २. अरण्यवास, ३. धुताङ्ग व्रतों का धारण, एवं ४. भावनारामता (करुणा, मैत्री आदि की निरन्तर भावना)। **अकृत्य**—भिक्षु के लिये अपने छाते, जूते, खड़ाउँ, पात्र, स्थाली, जलपात्र कायबन्धन, आदि को ही सदाते सँवारते रहना॥

२९३. गाथा : किच्चे सातच्चकारिनो—आचार्य कहते हैं—कृत्य में निरन्तरता लाने वाले, अर्थात् विना रुके साधना करने वाले। १. उसकी स्मृति की उपस्थिति (अविप्रवास) से वर्तमान के सार्थक सम्प्रजन्य (विवेक), २. सत्प्राय (लाभप्रद) सम्प्रजन्य; ३. गोचरसम्प्रजन्य एवं ४. असम्मोह सम्प्रजन्य—इन चारों सम्प्रजन्यों से युक्त साधक के चारों ही आश्रव क्षीण हो जाते हैं, अभाव को प्राप्त हो जाते हैं॥

२९४. गाथा : मातरं पितरं हन्त्वा—इस गाथा का अर्थ आचार्य बुद्धघोष के शब्दों में—*''तत्थ : **सानुचरं** ति। आयसाधकेन आयुत्तकेन सहितं। एत्थ हि 'तण्हा जनेति पुरिसं' (सं०नि०, प०भा०, पि० ६२, बौ०भा०सं०) ति वचनतो तीसु भवेसु सत्तानं जननतो तण्हा **माता** नाम। 'अहं असुकस्स रञ्ञो वा राजमहामत्तस्स वा पुत्तो' ति पितरं निस्साय अस्मिमानस्स उप्पज्जनतो अस्मिमानो **पिता** नाम। लोकतो विय राजानं यस्मा सब्बदिट्ठिगतानि द्वे सस्सतुच्छेददिट्ठियो भजन्ति, तस्मा द्वे सस्सतुच्छेददिट्ठियो **द्वे खत्तियराजानो** नाम। द्वादसयोजनानि वित्थतट्ठेन रट्ठसदिसत्ता **रट्ठं** नाम। आयसाधको आयुत्तकपुरिसो विय तन्निस्सितो नन्दिरागो **अनुचरो** नाम। **अनीघो** ति। निद्दुक्खो। **ब्राह्मणो** ति। खीणासवो निद्दुक्खो हुत्वा याती ति—अयमेत्थत्थो''॥* ***(विस्तार के लिये यहाँ की धम्मपदट्ठकथा अवश्य देखें, पृ० १६६८ से १६७०)॥***

२९५. गाथा : मातरं पितरं हन्त्वा—इस गाथा का अर्थ भी आचार्य बुद्धघोष के शब्दों में यों है—*''तत्थ : **द्वे च सोत्थिये** ति। द्वे च ब्राह्मणे। इमिस्सा गाथाय सत्था अत्तनो धम्मिस्सरताय च देसनाकुसलताय च सस्सतुच्छेददिट्ठिया द्वे ब्राह्मण-राजानो कत्वा कथेसि। **वेयग्घपञ्चमं** ति। एत्थ व्यग्घानुचरितो सप्पटिभयो दुप्पटिपन्नो मग्गो वेयग्घो नाम। विचिकिच्छानीवरणं पि तेन सदिसताय वेयग्घं नाम। तं पञ्चमं अस्सा ति नीवरणपञ्चमं वेयग्घपञ्चमं नाम। इदं च वेयग्घपञ्चमं अरहत्तमग्गञाणासिना निस्सेसं **हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो** ति अयमेत्थत्थो। सेसं पुरिमसदिसमेवा ति''॥*

२९६. गाथा : सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति—बुद्धविषयक स्मृति के साथ सोने वालों तथा उसी स्मृति के साथ जागने वालों को, अर्थात् प्रतिक्षण बुद्धस्मृति में रत रहने वाले साधकों को इस वाक्यांश से संकेतित किया है।

सदा गोतमसावका--गौतमगोत्र भगवान् बुद्ध से धर्मोपदेश सुनकर, उनसे प्रव्रज्या लेकर सदा उन्हीं के अनुशासन में रहने वाले॥

निच्चं बुद्धगता सति—जिन साधकों की स्मृति "इति पि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो"—यों त्रिपिटक में अनेकत्र वर्णित भगवान् बुद्ध के अनुपम गुणों के कीर्तन में सदा लगी रहती है ऐसा करने में जो असमर्थ हैं वे यदि दिन में एक बार, दो बार या तीन बार बुद्धगुणों का मन में स्मरण करते हैं वे भी 'सुप्रबुद्ध' ही माने जाते हैं॥

२९७. गाथा : धम्मगता सति—"स्वाक्खातो भगवता धम्मो"—इस तरह त्रिपिटक में वर्णित धर्मगुणों की निरन्तर स्मृति ही '**धर्मगत स्मृति**' कहलाती है॥

२९८. गाथा : सङ्घगता स्मृति—"सुप्पटिपन्नो भगवतो सावकसङ्घो"—इस तरह त्रिपिटक में अनेकत्र वर्णित सङ्घ के गुणों की निरन्तर स्मृति ही '**सङ्घगत स्मृति**' कहलाती है॥

२९९. गाथा : कायगता सति—१. इस अशुभ शरीर के ३२ आकारों के सहारे से, २. मृत शरीर के शव के सहारे से, ३. चार धातुओं के विश्लेषण के आधार पर या ४. आध्यात्मिक नीलकसिण आदि के रूपध्यान के सहारे से उत्पन्न स्मृति ही '**कायगता स्मृति**' कहलाती है॥

३००. गाथा : अहिंसाय रतो—"वह करुणासहगत चित्त से एक दिशा को ध्यान में रखकर साधना करता है" इस प्रकार पालि शास्त्र में कही गयी करुणाभावना में रति ही 'अहिंसारति' कहलाती है॥

३०१. गाथा : भावनाय रतो—मैत्री भावना में। अथवा—ऊपर की गाथा में करुणा भावना कह देने से यहाँ अवशिष्ट मुदिता आदि सभी भावनाओं का ग्रहण कर लेना चाहिये। विशेषत: यहाँ मैत्री भावना ही अभिप्रेत है॥

३०४. गाथा : दूरे सन्तो पकासेन्ति—सन्तो—रागादि विकारों के शान्त हो जाने के कारण बुद्ध आदि महापुरुषों को 'सन्त' (शान्त) कहा जाता है। परन्तु इस प्रकरण में, १. पूर्व बुद्धों में अधिकारप्राप्त तथा २. जिनने अपने अकुशलमूलों को भी नष्ट कर लिया है और ३. जिनने चारों मैत्री आदि विहारों की साधना पूर्ण कर ली है—ऐसे सभी महापुरुष यहाँ 'सन्त' संज्ञा से अभिप्रेत हैं॥

३०५. गाथा : एकासनं एकसेय्यं—हजारों भिक्षुओं के मध्य भी अपने मूल कर्म-स्थान (साधनोपाय) को न भूलते हुए उसी मनस्कार से बैठने वाले भिक्षु के आसन को **एकासन** कहते हैं। **एकशय्या**—लौहप्रासाद के समान विशाल विहार में हजारों भिक्षुओं के बीच में प्रज्ञप्त सर्वसुविधासम्पन्न महार्घ शयन आसन पर सोने पर भी स्मृति रखते हुए, दक्षिण पार्श्व से लेटकर मूल कर्मस्थान का ही ध्यान रखने वाले भिक्षु की शय्या **एकशय्या** कहलाती है।

वनन्ते रमितो सिया—इस प्रकार, स्वयं पर संयम रखता हुआ साधक स्त्री-पुरुषों के कोलाहल से दूर रहकर एकान्तस्थित किसी वनप्रदेश में साधनारत रहे; क्योंकि जनसमूह में रहकर कोई भी साधक आत्मसंयम नहीं कर सकता॥

३१२. गाथा : सङ्कस्सरं ब्रह्मचरियं—आचार्य बुद्धघोष ने **सङ्कस्सरं** का अर्थ किया है—''सङ्काहि सरितब्बं। उपोसथकिच्चादीसु अञ्ञतरकिच्चेन सन्निपतितं पि सङ्घं दिस्वा 'अद्धा इमे मम चरियं ञत्वा मं उक्खिपितुकामा व सन्निपतिता' ति एवं अत्तनो आसङ्काहि सरितं उस्सङ्कितं परिसङ्कितं।'' (शङ्काओं से घिरा हुआ। उपोसथकृत्य आदि में से किसी एक के कारण एकत्र हुए सङ्घ को देखकर वह भिक्षु यह सन्देह करने लगे—'यह सङ्घ मेरी चर्या जानकर सङ्घ से मेरे निष्कासन हेतु ही एकत्र हुआ है', यों अपने विषय में शङ्काओं से घिरा हुआ, आशङ्कित, परिशङ्कित।) ॥

३२०. गाथा : अतिवाक्यं तितिक्खिस्सं—यहाँ आचार्य ने इस **अतिवाक्य** का 'शिष्टाचारविरुद्ध आक्रोशमय (निन्दात्मक) वचन' अर्थ कर उसे दश संख्या से गिनाया है; जैसे—१. तूँ चौर है, २. तूँ अज्ञ (बाल) है, ३. तूँ मूर्ख है, ४. तूँ लुटेरा है, ५. तूँ ऊँट है, ६. तूँ बैल है, ७. तूँ गधा है, ८. तूँ नरकगामी है, ९. तूँ पशुयोनि में गिरेगा, एवं १०. तुझे कभी सद्गति नहीं मिलेगी, तेरी तो दुर्गति ही होगी॥

३२१. गाथा : दन्तं नयन्ति समितिं—यद्यपि 'समिति' शब्द का प्रसिद्ध अर्थ 'युद्ध' है; परन्तु यह शब्द जब तब अन्य अर्थों में प्रयुक्त हुआ देखा जाता है। आचार्य उन सब अर्थों को संगृहीत करते हुए इस वाक्यांश की व्याख्या में लिखते हैं—''उद्यानक्रीड़ा आदि अवसरों पर, जनसम्मर्द (भीड़) में जाने के लिये धनी पुरुष अपने रथों या अन्य यानों (वाहनों) में सुशिक्षित अश्व या बैलों को ही जोतते हैं। राजा भी वाहनों से यात्रा करता हुआ सुशिक्षित गज या अश्व का ही उपयोग करता है॥

३२२. गाथा : आजानीया च सिन्धवा—सारथि द्वारा सिखायी गयी जिस किसी भी कला को जो घोड़ा अनायास (सरलता से) सीख ले उस घोड़े को 'आजानीय' (दक्ष) कहते हैं। **सिन्धवा**—सिन्धुदेश में उत्पन्न हुए अश्व॥

३२३. गाथा : गच्छेय्य अगतं दिसं—आचार्य ने **अगतं दिसं** का अर्थ किया है—निर्वाण की ओर। इसी अर्थ से गाथा के अग्रिम अर्धांश का आध्यात्मिक अर्थ सङ्गत हो पायगा। आचार्य ने 'निर्वाण की ओर' अर्थ कर यही सङ्गति बैठायी है॥

३२४. गाथा : कटुकभेदनो दुन्निवारयो—यहाँ आचार्य ने **कटुकभेदनो** का अर्थ किया है—**तिखिणमदो**। तीक्ष्ण मद वाला। मदकाल में हाथियों की कर्णचूडिकाएँ फूट जाया करती हैं। स्वभावतः भी हाथी उस समय अङ्कुश या भाले आदि के प्रहार को नगण्य समझते हैं, उनका रौद्र रूप हो जाता है। वह (धनपाल) तो पहले से ही रुद्र स्वभाव वाला था। अतएव कहा है—**तीक्ष्ण मद वाला इसीलिये दुर्निवार॥**

३२६. गाथा : मिद्धी यदा होति महग्घसो च—यहाँ आचार्य ने **महग्घसो** (अत्यधिक भोजन करने वाले=पेटू) के पाँच लक्षण बताये हैं—भोजन करने के बाद १. हाथ उठाने की भी शक्ति न रखने वाला, २. ढीली हुई अपनी धोती को भी न सम्हाल सकने वाला,

३. अपने भोजन स्थान पर ही लेट जाने वाला, ४. उसका मुख ऐसा खुला रह जाय कि कोई कौआ भी अपनी चोंच से उसके मुख से उसका खाया हुआ निकाल ले जाय, तथा ५. खाये हुए का वमन (उल्टी) कर देने वाला—इन पाँचों में से किसी एक के समान।

निवापपुट्ठो—घर से बाहर फैंके गये गले, सड़े, बासी खाद्य पदार्थ को खाकर मोटा हो जाने वाला गृहशूकर॥

३२९. गाथा : राजा व रट्ठं विजितं पहाय—भगवान् कहते हैं—यदि उपर्युक्त निपक (स्वशरीर के प्रति आत्मसंज्ञा से असम्पृक्त) साथी न मिले तो साधक को एकाकी रहकर ही विचरण (साधना) करना चाहिये। इस (एकाकिता) में वे दो उदाहरण देते हैं—१. हारे हुए राज्य को छोड़कर उच्च कुलीन राजा के समान। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे कोई पराजित राजा, यह सोचकर कि यह राज्य तो घोर विपत्तियों का आश्रयस्थल है, अत: ऐसे राज्य से मुझे क्या लाभ!, उस दूसरों द्वारा विजित राज्य को त्याग कर अकेला ही किसी वन में प्रवेश कर तापस-प्रव्रज्या से प्रव्रजित होकर शरीर के चारों ईर्यापथों (क्रियाओं) से विचरण करता है, इसी प्रकार साधक को विचरण करना चाहिये। दूसरा उदाहरण—

मातङ्गरञ्ञेव नागो—नागवन में एकाकी विचरण करने वाले मातङ्ग नामक हाथी की तरह। [इस मातङ्ग हाथी की कथा **विनयपिटक** के **महावग्ग** (पृ० ५८८, बौ०भा०सं०) विस्तार से वर्णित है, वहाँ देखें।]

३३२. गाथा : सुखा मत्तेय्यता लोके—इस गाथा का आचार्य ने इस तरह व्याख्यान किया है—"**मत्तेय्यता** कहते हैं माता के साथ सम्यग्व्यवहार को तथा **पेत्तेय्यता** कहते हैं पिता के साथ सम्यग्व्यवहार को। इन दोनों शब्दों से 'माता-पिता की सेवा करना' ही द्योतित होता है। माता पिता अपने पुत्रों का सेवाभाव न देखकर स्वकीय सम्पत्ति भूमि में छिपा देते हैं या किसी अन्य को दे देते हैं। ऐसे पुत्रों का आगामी जन्म मैले (विष्ठा) से भरे किसी नरक में होता है। इसके विपरीत, जो पुत्र माता पिता की सेवा करते हैं वे उनकी सम्पत्ति भूमि आदि की प्राप्ति के साथ साथ यहाँ जनसमाज में प्रशंसा भी प्राप्त करते हैं, तथा देहपात के बाद वे स्वर्गलोक में जाकर दिव्य सुख भोगते हैं। अत: इन दोनों ही कर्मों से 'सुख' प्राप्त होता है। **सामञ्ञता**—प्रव्रजितों द्वारा सभी प्राणियों के प्रति समान मैत्री भाव रखना। **ब्रह्मञ्ञता**—विगतपाप बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध एवं उनके श्रावकों के प्रति सम्यगाचरण। इन दोनों शब्दों से प्रव्रजितों को चीवर पिण्डपात आदि चारों प्रत्ययों में सावधानी रखने के उपदेश में भगवान् का अभिप्राय है। ऐसा करना भी लोक में 'सुख' कहा गया है॥

३४७. गाथा : मक्कटको व जालं—इस गाथांश का विस्तार आचार्य यों करते हैं—"जैसे कोई मकड़ी जाल बनाकर उसके बीच में लेटी हुई जाल के किनारे पर आये किसी पतङ्ग (कीड़े) या मक्खी को पकड़ कर शीघ्र ही उस स्थान पर जाकर उसे खाती हुई, उसका रक्त चूसती हुई, उस जाल में स्वयं फँसी रह जाती है, उसी प्रकार ये सांसारिक प्राणी भी

रागरक्त, द्वेषदग्ध या मोहमुग्ध होकर अपने द्वारा ही रचे गये तृष्णा-जाल में फँसते हैं तथा उससे निकल नहीं पाते। अत: इस जाल को दुरतिक्रम (दुर्लङ्घ्य) कहा जाता है''॥

३५२. गाथा : अक्खरानं सन्निपातं जञ्ञा पुब्बापरानि च—''अक्खरानं सन्निपातसङ्खातं अक्खरपिण्डं च जानाति, पुब्बक्खरेन अपरक्खरं, अपरक्खरेन पुब्बक्खरं च जानाति। १. पुब्बक्खरेन अपरक्खरं जानाति नाम—आदिम्हि पञ्ञायमाने मज्झपरियोसानेसु अपञ्ञायमानेसु पि 'इमेसं अक्खरानं इदं मज्झं, इदं परियोसानं' ति जानाति। २. अपरक्खरेन पुब्बक्खरं जानाति नाम—अन्ते पञ्ञायमाने आदिमज्झेसु अपञ्ञायमानेसु 'इमेसं अक्खरानं इदं मज्झं, अयं आदी' ति जानाति। ३. मज्झे पञ्ञायमाने पि 'इमेसं अक्खरानं अयं आदि, अयं अन्तो' ति जानाति। एवं सो **महापञ्ञो**।'' (धम्मपदट्ठकथा—३५२ गा०)॥

३५४. गाथा : सब्बदानं धम्मदानं जिनाति—आचार्य बुद्धघोष ने इस गाथा के चारों पादों का व्याख्यान बहुत सुन्दर, सरल एवं विस्तारपूर्वक किया है। अत: जिज्ञासुओं को वहाँ यह प्रकरण अवश्य देख लेना चाहिये॥ (धम्मपदट्ठकथा—पृ० १८४०)

३५६-३५९. गाथा : दिन्नं होति महप्फलं—इन गाथाओं की आधारगाथा (सं०नि०, प्र०भा०, पृ० ३८, बौ०भा०सं० में) ''विचेय्य दानं सुगतप्पसत्थं'' आदि मानी जाती है॥

३६३. गाथा : मन्तभाणी अनुद्धतो—आचार्य ने मन्तभाणी का अर्थ मितभाषी न कर 'बुद्धिपूर्वक उपदेश करने वाला' किया है। वे कहते हैं—'मन्तो वुच्चति पञ्ञा, ताय भणनसीलो' ति॥

मधुरं—जो केवल पालि ही बोलता है, उसका अर्थ नहीं करता या जो अर्थ ही बोलता है; पालि का उद्धरण नहीं देता, या फिर जो अपने भाषण में न पालि न उसका अर्थ—दोनों ही नहीं बोलता; ऐसे ये तीनों ही उपदेष्टा 'मधुर भाषण करने वाले' नहीं कहलाते॥

३६४. गाथा : सद्धम्मा न परिहायति—यहाँ आचार्य के मत में 'सद्धम्मा' शब्द से भगवान् का तात्पर्य है—३७ प्रकार के बोधिपक्षीय धर्म तथा ९ प्रकार के लोकोत्तर धर्म॥

३६७. गाथा : सब्बसो नामरूपस्मिं—''चार वेदना आदि स्कन्धों तथा रूपस्कन्ध—यों पाँचों रूपस्कन्धों के कारण प्रवृत्त (रचित) सभी नामरूपों में (संसार में'')—यह अर्थ है॥

३७०. गाथा : पञ्च छिन्दे, पञ्च जहे, पञ्च चुत्तरि भावये—इस गाथा का **अट्ठकथा** के अनुसार यह अर्थ है—''**पञ्च छिन्दे**—जैसे कोई बुद्धिमान् पुरुष अपने पैरों में बन्धी हुई रस्सी को किसी तीक्ष्ण शस्त्र से काट कर फेंक देता है, उसी तरह (भगवान् कहते हैं—) तूँ भी हीनगतिमय नरक में पहुँचाने वाले इन पाँच अवरभागीय संयोजनों को (जैसे—१. सत्कायदृष्टि, २. विचिकित्सा, ३. शीलव्रतपरामर्श, ४. कामराग एवं ५. प्रतिघ को) काट दे।

पञ्च जहे—जैसे कोई बुद्धिमान् पुरुष अपनी ग्रीवा में बँधी रस्सी को बुद्धिमत्तापूर्वक

खोल लेता है उससे अपने आपको छुड़ा लेता है; उसी तरह ऊर्ध्वगति वाले देवलोकों तक पहुँचाने वाले ऊर्ध्वभागीय संयोजनों को (जैसे—१. रूपराग, २. अरूपराग, ३. मान, ४. औद्धत्य एवं ५. अविद्या—इन बन्धनों को) भी, अर्हत्त्वमार्ग की साधना करते हुए छोड़ दे।

पञ्च चुत्तरि भावये—इन उपर्युक्त ऊर्ध्वभागीय संयोजनों के प्रहाण (त्याग) के लिये श्रद्धा आदि पाँच इन्द्रियों (१. श्रद्धा, २. स्मृति, ३. वीर्य, ४. समाधि एवं ५. प्रज्ञा—इन) की भावना करनी चाहिये। **पञ्च सङ्गातिगो**—ऐसा होने पर, इन पाँच (राग, द्वेष, मोह, मान एवं दृष्टि) के सङ्ग (आसक्ति) को अतिक्रान्त करने वाला (दूर रहने वाला) भिक्षु **औघतीर्ण** कहलाता है। अर्थात् उसने इस संसार की बाढ़ को पार ही कर लिया—ऐसा समझना चाहिये॥

३७८. गाथा : सन्तकायो सन्तवाचो सन्तवा सुसमाहितो—शरीर से प्राणातिपात (हिंसा) आदि न करने के कारण **शान्तकाय**, वाणी से मृषावाद (असत्य भाषण) न करने के कारण **शान्तवाक्**, मन से लोभ (अभिध्या) आदि में न प्रवृत्त होने के कारण **शान्तिमय** तथा काय वाक् मन—तीनों से भली भाँति समाहित होने के कारण ऐसा साधक **सुसमाहित** कहलाता है। और वह चारों मार्गों की साधना करता हुआ **उपशान्त** कहलाता है।

३८३. गाथा : छिन्द सोतं परक्कम्म—यह तृष्णास्रोत साधारण प्रयास से नष्ट होने वाला नहीं है, अत: ज्ञानसम्प्रयुक्त विपुल पराक्रम से उस स्रोत को काटना पड़ेगा।

सङ्खारानं खयं ञत्वा—यहाँ 'संस्कार' से तात्पर्य पाँचों स्कन्धों से है।

अकतञ्ञू—अकृत (निर्वाण) का जानने वाला॥

३८६. गाथा : विरजमासीनं—कामरज से रहित। **कतकिच्चं**—चार मार्गों के सहारे से सोलह कृत्यों को पूर्ण कर लेने वाला॥

३९८. गाथा : सन्दानं सहनुक्कमं—अनुशय (चित्त की कुपथगामी प्रवृत्ति) के अनुक्रम के साथ ब्रह्मजालसूत्रोक्त बासठ (६२) प्रकार के दृष्टिबन्धनों को काट कर।

उक्खित्तपलिघं—अविद्या रूप बाधा को उखाड़ फेंक देने से 'उत्क्षिप्तप्रतिघ' कहलाता है॥

४०४. गाथा : असंसट्ठं गहट्ठेहि अनागारेहि चूभयं—जो साधक गृहस्थ एवं प्रव्रजित—दोनों के साथ ही दर्शन, श्रवण, संल्लाप (बातचीत), एक साथ खाना पीना उठना बैठना आदि क्रियाओं से असम्पृक्त (पृथक्) रहे—इसे कहते हैं—**असंसट्ट**॥

४१०. गाथा : आसा यस्स न विज्जति—यहाँ 'आशा' का अर्थ समझिये—तृष्णा। तथा **निरासास** का अर्थ समझिये—आश्वासनरहित (तृष्णारहित)॥

४२१. गाथा : यस्स पुरे च पच्छा च मज्झे च नत्थि किञ्चनं। पुरे—अतीत स्कन्धों में। **पच्छा**—अनागत स्कन्धों में। **मज्झे**—प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) स्कन्धों में। **नत्थि किञ्चनं**—जिस साधक की इनमें किसी प्रकार की तृष्णा या आसक्ति नहीं है॥



परिशिष्ट–२

धम्मपदम्हि पठितानं गाथानं

अकारादिक्कमेन सूची

खोल लेता है उससे अपने आपको छुड़ा लेता है; उसी तरह ऊर्ध्वगति वाले देवलोकों तक पहुँचाने वाले ऊर्ध्वभागीय संयोजनों को (जैसे—१. रूपराग, २. अरूपराग, ३. मान, ४. औद्धत्य एवं ५. अविद्या—इन बन्धनों को) भी, अर्हत्त्वमार्ग की साधना करते हुए छोड़ दे।

पञ्च चुत्तरि भावये—इन उपर्युक्त ऊर्ध्वभागीय संयोजनों के प्रहाण (त्याग) के लिये श्रद्धा आदि पाँच इन्द्रियों (१. श्रद्धा, २. स्मृति, ३. वीर्य, ४. समाधि एवं ५. प्रज्ञा—इन) की भावना करनी चाहिये। **पञ्च सङ्गातिगो**—ऐसा होने पर, इन पाँच (राग, द्वेष, मोह, मान एवं दृष्टि) के सङ्ग (आसक्ति) को अतिक्रान्त करने वाला (दूर रहने वाला) भिक्षु **औघतीर्ण** कहलाता है। अर्थात् उसने इस संसार की बाढ़ को पार ही कर लिया—ऐसा समझना चाहिये॥

३७८. गाथा : सन्तकायो सन्तवाचो सन्तवा सुसमाहितो—शरीर से प्राणातिपात (हिंसा) आदि न करने के कारण **शान्तकाय**, वाणी से मृषावाद (असत्य भाषण) न करने के कारण **शान्तवाक्**, मन से लोभ (अभिध्या) आदि में न प्रवृत्त होने के कारण **शान्तिमय** तथा काय वाक् मन—तीनों से भली भाँति समाहित होने के कारण ऐसा साधक **सुसमाहित** कहलाता है। और वह चारों मार्गों की साधना करता हुआ **उपशान्त** कहलाता है।

३८३. गाथा : छिन्द सोतं परक्कम्म—यह तृष्णास्रोत साधारण प्रयास से नष्ट होने वाला नहीं है, अतः ज्ञानसम्प्रयुक्त विपुल पराक्रम से उस स्रोत को काटना पड़ेगा।

सङ्खारानं खयं ञत्वा—यहाँ 'संस्कार' से तात्पर्य पाँचों स्कन्धों से है।

अकतञ्ञू—अकृत (निर्वाण) का जानने वाला॥

३८६. गाथा : विरजमासीनं—कामरज से रहित। **कतकिच्चं**—चार मार्गों के सहारे से सोलह कृत्यों को पूर्ण कर लेने वाला॥

३९८. गाथा : सन्दानं सहनुक्कमं—अनुशय (चित्त की कुपथगामी प्रवृत्ति) के अनुक्रम के साथ ब्रह्मजालसूत्रोक्त बासठ (६२) प्रकार के दृष्टिबन्धनों को काट कर।

उक्खित्तपलिघं—अविद्या रूप बाधा को उखाड़ फेंक देने से 'उत्क्षिप्तप्रतिघ' कहलाता है॥

४०४. गाथा : असंसट्ठं गहट्ठेहि अनागारेहि चूभयं—जो साधक गृहस्थ एवं प्रव्रजित—दोनों के साथ ही दर्शन, श्रवण, संल्लाप (बातचीत), एक साथ खाना पीना उठना बैठना आदि क्रियाओं से असम्पृक्त (पृथक्) रहे—इसे कहते हैं—**असंसट्ठ**॥

४१०. गाथा : आसा यस्स न विज्जति—यहाँ 'आशा' का अर्थ समझिये—तृष्णा। तथा **निरासास** का अर्थ समझिये—आश्वासनरहित (तृष्णारहित)॥

४२१. गाथा : यस्स पुरे च पच्छा च मज्झे च नत्थि किञ्चनं। पुरे—अतीत स्कन्धों में। **पच्छा**—अनागत स्कन्धों में। **मज्झे**—प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) स्कन्धों में। **नत्थि किञ्चनं**—जिस साधक की इनमें किसी प्रकार की तृष्णा या आसक्ति नहीं है॥



परिशिष्ट-२

धम्मपदम्हि पठितानं गाथानं

अकारादिक्कमेन सूची

अकारादिक्कमेन सूची





परिशिष्ट–३

कतिपय बुद्धावतारों के नाम, काल

	१	२	३	४	५	६	७
क्रम	नाम	काल	पिता	माता	जाति	गोत्र	आयुःप्रमाण
१.	**विपस्सी बुद्ध**	९१ कल्प पूर्व	बन्धुमा	बन्धुमती	क्षत्रिय	कोण्डञ्ञ (कौण्डिन्य)	८०,००० वर्ष
२.	**सिखी बुद्ध**	३१ कल्प पूर्व	अरुण	पभावती	क्षत्रिय	कोण्डञ्ञ (कौण्डिन्य)	७०,००० वर्ष
३.	**वेस्सभू बुद्ध**	३१ कल्प पूर्व	सुप्पतीत	वस्सवती	क्षत्रिय	कोण्डञ्ञ (कौण्डिन्य)	६०,००० वर्ष
४.	**ककुसन्ध बुद्ध**	वर्तमान भद्रकल्प	अग्गिदत्त	विसाखा	ब्राह्मण	कस्सप (काश्यप)	४०,००० वर्ष
५.	**कोणागमन बुद्ध**	वर्तमान भद्रकल्प	यञ्ञदत्त	उत्तर	ब्राह्मण	कस्सप (काश्यप)	३०,००० वर्ष
६.	**कस्सप बुद्ध**	वर्तमान भद्रकल्प	ब्रह्मदत्त	धनवती	ब्राह्मण	कस्सप (काश्यप)	२०,००० वर्ष
७.	**गोतम बुद्ध**	वर्तमान भद्रकल्प	सुद्धोदन	मायादेवी	क्षत्रिय	गोतम (गौतम)	८० वर्ष

आदि का विस्तृत विवरण [दीघनिकाय, महापदानसुत्त के अनुसार]

८	९	१०	११	१२	१३
बोधि वृक्ष	मुख्य श्रावकयुगल	श्रावकसमूह की सङ्ख्या	मुख्य उपस्थाता (उपट्ठाक)	समकालीन राजा	राजधानी
पाटलि वृक्ष	१. खण्ड २. तिस्स	(१) १,६८,००० (२) १,००,००० (३) ८०,०००	असोक	बन्धुमा	बन्धुमती
पुण्डरीक वृक्ष	१. अभिभू २. सम्भव	(१) १,००,००० (२) ८०,००० (३) ६०,०००	खेमङ्कर	अरुण	अरुणवती
साल वृक्ष	१. सोण २. उत्तर	(१) ८०,००० (२) ७०,००० (३) ६०,०००	उपसन्त	सुप्पतीत	अनोम नगर
सिरीस वृक्ष	१. विधुर २. सञ्जीव	(१) ४०,०००	बुद्धिज	खेम	खेमवती
उदुम्बर वृक्ष	१. भिय्योसु २. उत्तर	(१) ३०,०००	सोत्थिज	सोभ	सोभवती
निग्रोध वृक्ष	१. तिस्स २.भारद्वाज	(१) २०,०००	सब्बमित्त	किकी	वाराणसी
अस्सत्थ वृक्ष	१. सारिपुत्त २. मोग्गल्लान	(१) १२,५००	आनन्द	सुद्धोदन	कपिलवत्थु

परिशिष्ट–४

धम्मपद-गाथाओं के समानार्थक बौद्ध एवं आर्ष साहित्य के कतिपय श्लोक

१. मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
(ध०प०, १-२)

१.मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
(मैत्रायण्युपनिषद् ४/१)

२. अनिक्कसावो कासावं यो वत्थं परिदहिस्सति।
अपेतो दमसच्चेन न स कासावमरहति॥
(ध०प०, ९)

२. अनिष्काषाये काषायमीहार्थमिति विद्धि तम्।
धर्मध्वजानां मुण्डानां वृत्त्यर्थमिति मे मतिः॥
(म०भा०, शा०प०, १८/३/४)
[फाउसबोल द्वारा उद्धृत]

३. रागं च दोसं च पहाय मोहं,
सम्मप्पजानो सुविमुत्तचित्तो।
अनुपादियानो इध वा हुरं वा,
स भागवा सामञ्ञस्स होति॥
(ध०प०, २०)

३. (क) यम्हीं न माया वसती न मानो,
यो वीतलोभो अममो निरासो।
पनुण्णकोधो अभिनिब्बुतत्तो,
यो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खु॥
(उदान, ६/१५)

३. (ख) यम्हि न माया वसति न मानो,
यो वीतलोभो अममो निरासो।
पनुण्णकोधो अभिनिब्बुतत्तो,
यो ब्राह्मणो सोकमलं अहासि॥
तथागतो अरहति पूरळासं॥ ६७॥
निवेसनं यो मनसो अहासि
परिग्गहा सन्ति न यस्स केचि।
अनुपादियानो इध वा हुरं वा,
तथागतो अरहति पूरळासं॥ ६८॥
(सुत्तनि०, सुन्दरिकभारद्वाजसुत्त)

४. अप्पमादो अमतपदं पमादो मच्चुनो पदं।
अप्पमत्ता न मीयन्ति, ये पमत्ता यथामता॥
(ध०प०, अप्प०व०, २१)

४. उभे सत्ये क्षत्रियाद्यप्रवृत्ते,
मोहो मृत्युः सम्मतो यः कवीनाम्।
प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि,
सदाऽप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि॥
(महाभा०, सनत्सुजातीय)

५. ते झायिनो साततिका निच्चं दळ्हपरक्कमा।
फुसन्ति धीरा निब्बानं योगक्खेमं अनुत्तरं॥
(ध०प०, अप्प० २३)

५. (क) प्रेयो मन्दो योगक्षेमं वृणीते।
(कठोप०, २/२)
(ख) तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।
(भगवद्गीता, ९/२२)

६. फन्दनं चपलं चित्तं दूरक्खं दुन्निवारयं।
(ध०प०, चि०व०, ३३)

६. असंशयं महावाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
(भगवद्गीता, ६/३५)

समानार्थक साहित्य

७. पुप्फानि हेव पचिनन्तं ब्यासत्तमनसं नरं।
सुत्तं गामं महोघो व मच्चु आदाय गच्छति॥
पुप्फानि हेव पचिनन्तं ब्यासत्तमनसं नरं।
अतित्तं येव कामेसु अन्तको कुरुते वसं॥
(ध०प० ४७, ४८)

७. पुष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्रगतमानसम्।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम्॥
सुप्तं व्याघ्रं महौघो वा मृत्युरादाय गच्छति।
सञ्चिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तिकम्॥
(महाभा०, शा०प०, १७५/१, १९)
[मैक्समूलर द्वारा उद्धृत]

८. दीघो बालानं संसारो सद्धम्मं अविजानतं।
(ध०प०, ६०)

८. तस्मादज्ञानमूलोऽयं संसारः सर्वदेहिनाम्।
(कूर्म पु०, ईश्वरगीता, अ० २)

अथवा—
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यन्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न सत्पदमाप्नोति, संसारमधिगच्छति॥
(कठोप०, ३/७)

अथवा—
यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः॥
(माण्डूक्यकारिका ४/५६)

तत्र शाङ्करभाष्यम्—
"यावत् सम्यग्दर्शनेन हेतुफलावेशो न
निवर्ततेऽक्षीणः संसारस्तावदायतो दीर्घो भवति।"

९. चरं चे नाधिगच्छेय्य सेय्यं सहिसमत्तनो।
एकचरियं दळ्हं कयिरा नत्थि बाले सहायता॥
(ध०प०, बा० व०, ६१)

९. नो चे लभेथ निपकं सहायं
सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
राजा च रट्ठं विजितं पहाय,
एको चरे मातङ्गरञ्ञेव नागो॥
(सुत्तनि०, १/३/४६)

१०. यो बालो मञ्ञति बाल्यं पण्डितो वापि तेन सो।
बालो च पण्डितमानी स वे बालो ति वुच्चति॥
(ध०प०, बा० व०, ६३)

१०. अविद्यायामन्तरे विद्यमानाः,
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढाः,
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
(कठोप०, २/५/६)

११. यावजीवं पि चे बालो पण्डितं पयिरुपासति।
न सो धम्मं विजानाति, दब्बी सूपरसं यथा॥
मुहुत्तमपि चे विञ्ञू पण्डितं पयिरुपासति।
खिप्पं धम्मं विजानाति, जिह्वा सूपरसं यथा॥
(ध०प०, बा०व०, ६४, ६५)

११. चिरं ह्यपि जडः शूरः पण्डितं पर्युपास्य वै।
न स धर्मान् विजानाति, दर्वी सूपरसानिव॥
मुहूर्तमपि तं प्राज्ञः पण्डितं पर्युपास्य हि।
क्षिप्रं धर्मं विजानाति, जिह्वा सूपरसानिव॥
(महाभा० सौ० पर्व एवं सभापर्व)

१२. नहि पापं कतं कम्मं सज्जुखीरं व मुच्चति।
डहन्तं बालमन्वेति, भस्मच्छन्नो व पावको॥

१२. नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति॥
(मनु० ४/१२७)

१३. अञ्ञा हि लाभूपनिसा अञ्ञा निब्बानगामिनी।
एवमेतं अभिञ्ञाय भिक्खु बुद्धस्स सावको।

१३. अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय-
स्ते उभे नानानार्थे पुरुषं सिनीतः।

सक्कारं नाभिनन्देय्य विवेकमनुब्रूहये ॥
(ध०प०, बा०व०, ७५)

तयोः श्रेय आददानस्य साधु
भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-
स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥
(कठोप०, १/२/१-२)

अत्र शाङ्करभाष्यम्—
"विविनक्ति=पृथक्करोति" इति ।

१४. निधीनं व पवत्तारं यं पस्से वज्जदस्सिनं ।
निग्गय्हवादिं मेधाविं तादिसं पण्डितं भजे ॥
तादिसं भजमानस्स सेय्यो होति न पापियो ॥
(ध०प०, प० व०, ७६)

१४. तु० :
"निग्गय्ह, निग्गय्हाहं, आनन्द, वक्खामि,
पवय्ह पवय्ह,आनन्द, वक्खामि ।
यो सारो सो ठस्सती" ति ।
(मज्झिमनि०----)

१५. सेलो यथा एकधनो वातेन न समीरति ।
एवं निन्दापसंसासु न समिञ्जन्ति पण्डिता ॥
(ध०प०, प० व०, ८१)

१५. "तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।"
(भगवद्गीता, १२ आ०, १९)
अथवा—
"तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।"
(भगवद्गीता, १४ अ०, २४)

१५. सब्बत्थ वे सप्पुरिसा वजन्ति,
न कामकामा लपयन्ति सन्तो ।
सुखेन फुट्ठा अथवा दुखेन,
न उच्चावचं पण्डिता दस्सयन्ति ॥
(ध०प०, प० व०, ८३)

१५. तु०—
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
(भगवद्गीता, अ० २, ५६)

१६. कण्हं धम्मं विप्पहाय सुक्कं भावेथ पण्डितो ।
ओका अनोकं आगम्म विवेके यत्थ दूरमं ॥
(ध०प०, प० व०, ८७)

१६. "दुभयानि विचेय्य पण्डरानि,
अज्झत्तं बहिद्धा च सुद्धिपञ्ञो ।
कण्हं सुक्कं उपातिवत्तो,
पण्डितो तादि पवुच्चते तथत्ता ॥"
(सुत्तनि०, सभियसुत्त, १२५)

१७. तत्राभिरतिमिच्छेय्य हित्वा कामान किञ्चनः ।
पर्यवदापयेदात्मानं चित्तक्लेसेहि पण्डितः ॥
(ध०प०, प० व०, ८८)

१७. अकिञ्चनः सुखं शेते, समुत्तिष्ठति चैव हि ।
आकिञ्चन्यं सुखं लोके, पथ्यं शिवमनामयम् ॥
(महाभा०, शा०प०, १७६/७८)

१८. येसं सन्निचयो नत्थि, ये परिञ्ञात भोजना ।
सुञ्ञतो अनिमित्तो च, विमोक्खो येसं गोचरो ।
आकासे व सकुन्तानं, गति तेसं दुरन्नया ॥
(ध०प०, अरहन्त०, ९२)

१८. शकुनानामिवाकाशे, मत्स्यानामिव चोदके ।
पदं यथा न दृश्यते, तथा ज्ञानविदां गतिः ॥
(महाभा०, शान्तिपर्व, १८१/१९)

१९. पठवीसमो नो विरुज्झति इन्दखीलूपमो
तादि सुब्बतो ।

१९. न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमानेन तप्यते ।
गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते ॥

रहदो व अपेतकद्दमो संसारा न भवन्ति तादिनो॥ (ध०प०, अरहन्त०, ९५)

(महाभा०, उद्योगपर्व, ३३/२६)

२०. सन्तं तस्स मनं होति, सन्ता वाचा च कम्म च।
सम्मदञ्ञा विमुत्तस्स, उपसन्तस्स तादिनो॥

२०. (क) ये वा पापं न कुर्वन्ति, कर्मणा मनसा गिरा।
निक्षिप्तदण्डा भूतेषु दुर्गाण्यति तरन्ति ते॥
(महाभा० शान्तिप०, ११०/१७)

अथवा—

(ख) यदा न कुरुते धीरः, सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा, ब्रह्म सम्पद्यते तदा।
(महाभा०, शान्तिपर्व०, १७४/५४. १७५/२७)

अथवा—

(ग) शुभाशुभफलं कर्म, मनोवाग्देहसम्भवम्।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः॥
(मनु० १२/३)

२१. यं किञ्चि यिट्ठं च हुतं च लोके
संवच्छरं यजेथ पुञ्ञपेक्खो।
सब्बं पि तं न चतुभागमेति,
अभिवादना उज्जुगतेसु सेय्यो॥
(ध०प०, सह०व०, १०८)

२१. इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे सुकृतेऽनुभूत्वे-
मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥
(मुण्डकोप० १/२/१०)

२२. अभिवादनसीलिस्स, निच्चं वुड्ढापचायिनो।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति, आयु वण्णो सुखं बलं॥
(ध०प०, सह०व०, १०९)

२२. अभिवादनशीलस्य, नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते, आयुर्विद्या यशो बलम्॥
(मनु० २/१२१)
द्र०—आपस्तम्बसूत्र, १, २, ५, १५।

२३. पापो पि पस्सति भद्रं, याव पापं न पच्चति।
यदा च पच्चति पापं, अथ पापो पापानि पस्सति॥
(ध०प०, पाप व०, ११९)

२३. ननु सद्योऽविनीतस्य दृश्यते कर्मणः फलम्।
कालोऽप्यङ्गीभवत्यत्र सस्यानामिव पत्तये॥
(बाल्मी०रा०, अरण्यकाण्ड, ४९/२७)

२४. यो अप्पदुट्ठस्स नरस्स दुस्सति,
सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स।
(ध०प० गा० १२५)

२४. "निरञ्जनः परमसाम्यमुपैति"
(मुण्डकोप० ३/१/३)
"निरञ्जनो निर्लेपो विगतक्लेशः" इति तत्र शाङ्करभाष्यम्।

२५. सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥
(ध०प०, द०व०, १२९)

२५. प्राणा यथात्मनोऽभीष्टाः, भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः॥
(हितोपदेश १, १२)

अथवा—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन!
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(भगवद्गीता, ६/३२)

२६. सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो न लभते सुखम्॥
(ध०प०, द० व०, १३१)

२६. (क) अहिंसकानि भूतानि, दण्डेन विनि-
हन्ति यः।
आत्मनः सुखमिच्छन् स प्रेत्य नैव
सुखी भवेत्॥
(महाभा०, अनु० पर्व, ११३/५)

(ख) योऽहिंसकानि भूतानि, हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवँश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते॥

२७. न नग्गचरिया जटा न पङ्का,
नानासका थण्डिलसायिका वा।
रजोजल्लं उक्कुटिकप्पधानं,
सोधेन्ति मच्चं अवितीर्णकङ्खम्॥
(ध०प०, दण्डव०, १४१)

२७. (क) न मच्छमंसानमनासकत्तं,
न नग्गियं न मुण्डियं जटाजल्लं।
खराजिनानि नाग्गिहुत्तस्सुपसेवना,
ये वापि लोके अमरा बहू तपा॥
मन्ताहुती यञ्ञमुतूपसेवना
सोधेन्ति मच्चं अवितीर्णकङ्खम्॥
(सुत्तनि०, २/२/२९)

(ख) न नग्नचरिया न जटा न पङ्को
नानासनं स्थण्डिलशायिका वा।
न रजोमलं नोत्कुटुकप्रहाणं
विशोधयेन्मोहवितीर्णकांक्षम्॥
(दिव्यावदान—२३/२)

२८. परिजिण्णमिदं रूपं रोगनिड्डं पभङ्गुरं।
भिज्जति पूतिसन्देहो मरणन्तं हि जीवितं॥
(ध०प०, जराव०, १४८)

२८. तु०—
सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ताः, मरणान्तं हि जीवितम्॥
(महाभा०, स्त्रीपर्व, २/३)

२९. यानिमानि अपत्थानि, अलाबूनेव सारदे।
कापोतकानि अट्ठीनि, तानि दिस्वान का रति॥
(ध०प०, जराव०, १४९)

२९. यानीमान्यपविद्धानि विक्षिप्तानि दिशो दश।
कपोतवर्णान्यस्थीनि तानि दृष्ट्वेह का रतिः!॥
(दिव्याव०, ३७/३३)

३०. अट्ठीनं नगरं कतं, मंसलोहितलेपनम्।
यत्थ जरा च मच्चु च, मानो मक्खो च ओहितो॥
(ध०प०, जराव०, १५०)

३०. (क) अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं, मांसशोणितलेपनम्।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धि, पूर्णं मूत्रपुरीषयोः॥
जराशोकसमाविष्टं, रोगायतनमातुरम्।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत्॥
(मनु० ६/७६, ७७)

(ख) अथवा :
जरयाभिपरीतस्य, मृत्युना च विनाशिना।
दुर्बलं दुर्बलं पूर्वं, गृहस्येव विनश्यति॥
इन्द्रियाणि मनो वायुः शोषितं मांसमस्थि च।
आनुपूर्व्या विनश्यन्ति, स्व धातुमुपयन्ति च॥
(महाभा०, शान्तिप०, २१८/४१)

(ग) जराक्रान्तशरीरस्य निन्दा **भर्तृहरिणापि** कृता—

गात्रं सङ्कुचितं गतिर्विगलिता, भ्रष्टा च दन्तावलि-
र्दृष्टिर्नश्यति, वर्धते वधिरता, वक्त्रं च लालायते।
वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनो, भार्या न शुश्रूषते,
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते॥

(वैराग्यशतके—७३ श्लो०)

**३१. जीरन्ति वे राजरथा सुचित्ता,
अथो सरीरं पि जरं उपेति।
सतं च धम्मो न जरामुपेति,
सन्तो ह वे सब्भि पवेदयन्ति॥**

(ध०प०, जराव०, १५१)

३१. एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति॥

**३२. अत्ताहि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।
अत्तना हि सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं॥**

(ध०प०, अत्तव०, १६०)

३२. तु०—
उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

(भगवद्गीता, ६/५-६)

**३३. सुकरानि असाधूनि अत्तनो अहितानि च।
यं वे हितं च साधुं च तं वे परमदुक्करं॥**

(ध०प०, अत्तव०, १६३)

३३. सुकरं साधुना साधु, साधु पापेन दुक्करं।
पापं पापेन सुकरं, पापमरियेहि दुक्करं॥

(उदान—५/८/२०)

**३४. यो सासनं अरहतं अरियानं धम्मजीविनं।
पटिक्कोसति दुम्मेधो दिट्ठिं निस्साय पापिकं।
फलानि कट्ठकस्सेव, अत्तघञ्ञाय फल्लति॥**

३४. फलं वे कदलिं हन्ति, फलं वेळुं फलं नळं।
सक्कारो कापुरिसं हन्ति, गब्भो अस्सतरिं यथा॥

(चुल्लवग्ग—२/५)

अथवा :
अवज्जे वज्जमतिनो वज्जे चावज्जदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं॥

(ध०प०, निरयव०, ३१८)

**३५. अत्तदत्थं परत्थेन, बहुनापि न हापये।
अत्तदत्थमभिञ्ञाय, सदत्थपसुतो सिया॥**

३५. श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(भगवद्गीता, अ० ३/३५)

**३६. उत्तिट्ठे नप्पमज्जेय धम्मं सुचरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति, अस्मिं लोके परम्हि च॥**

(ध०प०, लोकव०, १६८)

३६. तु०—
"उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत।"

(कठोपनि०—३/१४)

**३७. यथा बुब्बुलकं पस्से, यथा पस्से मरीचिकं।
एवं लोके अवेक्खन्तं, मच्चुराजा न पस्सति॥**

(ध०प०, लोकव० १७०)

३७. तु०—
"सुञ्ञतो लोकं अवेक्खस्सु मोघराज सदा सतो।
अत्तानुदिट्ठिं ऊहच्च, एवं मच्चुतरो सिया।
एवं लोकं अवेक्खन्तं मच्चुराजा न पस्सति"॥

(सुत्तनि०, ५/१६/४)

३८. अन्धभूतो अयं लोको तनुकेत्थ विपस्सति।
सकुणो जालमुत्तो व अप्पो सग्गाय गच्छति॥
(ध०प०, लोकव० १७४)

३९. एकं धम्मं अतीतस्स मुसावादिस्स जन्तुनो।
वितिण्णपरलोकस्स नत्थि पापमकारियं॥
(ध०प०, लोकव० १७६)

४०. पृथिव्या एकरज्जेन, सग्गस्स गमनेन वा।
सब्बलोकाधिपच्चेन, सोतापत्तिफलं वरं॥
(ध०प०, लोकव० १७८)

४१. निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा।
(ध०प०, १८४)

४२. समणो होति परं विहेठयन्तो।
(ध०प० १८४)

३८. ''मनुष्याणां सहस्रेषु, कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां, कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥''
(भगवद्गीता, अ० ७/३)

३९. ''यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्। तस्मात् सत्यं
वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति॥''
(बृहदारण्यकोप०, १/४/१४)

४०. ''आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन!
मामुपेत्य तु कौन्तेय, पुनर्जन्म न विद्यते॥''
(भगवद्गीता, अ० ८/१६)

४१. ''अच्ची यथा वातवेगेन खित्ता,
अत्थं पलेति न उपेति सङ्खं।
एवं मुनी नामकाया विमुत्तो
अत्थं पलेति न उपेति सङ्खं''॥
(सुत्तनि०, ५/९९)

''अत्थङ्गतस्स न पमाणमत्थि
येन नं वज्जुं तं तस्स नत्थि।
सब्बेसु धम्मेसु समोहतत्ता,
समूहता वादपथा पि सब्बे''॥
(सुत्तनि०, ५/१००)

''अकिञ्चनं अनादानं, एतं दीपं अनापरं।
निब्बानं इति नं ब्रूमि, जरामच्चुपरिक्खयं॥''
(सुत्तनि०, ५/११/११९)

अथवा :

(ख) ''दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्,
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्,
क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्''॥
(सौन्दरनन्दे १६/२८, २९)

(ग) ''मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं,
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः।''
(भागवते—३/२८/३५)

४२. ''यो च समेति पापानि, अणुं थूलानि सब्बतो।
समितत्ता हि पापानं समणो ति पवुच्चति॥''
(ध०प० २६५ गा०)

समानार्थक साहित्य

४३. पातिमोक्खे च संवरो।
(ध०प० १८५)

४३. "तं प्रातिमोक्षं भवदुःखपारगं
श्रुत्वा नु धीराः सुगतस्य भाषितम्।"
महासाङ्घिकानां प्रातिमोक्षसूत्रम्।

४४. मत्तञ्ञुता च भत्तस्मिं, पन्तं च सयनासनं।
(ध०प० १८५)

४४. "न चात्रदोषान्निन्देत, न गुणानभिपूजयेत्।
शय्यासने विविक्ते च, नित्यमेवाभि पूजयेत्"॥
(महाभा०, शान्तिपर्व, २७८/१२)

४५. न कहापणवस्सेन, तित्ति कामेसु विज्जति।
अप्पस्सादा दुक्खा कामा, इति विञ्ञाय
पण्डितो॥ (ध०प० १८६)

४५. "न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव, भूय एवानि वर्धते॥"
(मनु० २/९४)

४६. अपि दिब्बेसु कामेसु, रतिं सो नाधिगच्छति।
तण्हक्खयरतो होति, सम्मासम्बुद्धसावको॥
(ध०प० १८७)

४६. "यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥"
(महाभा०, शान्तिपर्व, १७७/५१)

४७. सुखा सङ्घस्स सामग्गी
(ध०प० १९४)

४७. सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी,
समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः,
समानेन वो हविषा जुहोमि॥
समानी व आकूतिः, समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
(ऋग्वेद, १/१९१/२-४)

४८. सुसुखं वत जीवाम, आतुरेसु अनातुरा।
आतुरेसु मनुस्सेसु, विहराम अनातुरा॥
(ध०प० १९८ गा०)

४८. "उभे सत्यानृते त्यक्त्वा शोकानन्दौ प्रियाप्रियौ।
भयाभयं च सन्त्यज्य, सम्प्रशान्तो निरामयः"॥
(महाभा०, शान्तिपर्व, २७६/११)

अथवा—
"या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्"॥
(महाभा०, शान्तिपर्व, २७६/१२)

४९. सुसुखं वत जीवाम येसं नो नत्थि किञ्चन।
पीतिभक्खा भविस्साम देवा आभस्सरा यथा॥
(ध०प० २०० गा०)

४९. तु०—
"सुसुखं बत जीवामि, यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन"॥
(महाभा०, शान्तिपर्व, २७६/४)

५०. जयं वेरं पसवति, दुक्खं सेति पराजितो।
उपसन्तो सुखं सेति, हित्वा जयपराजयं॥
(ध०प० २०१ गा०)

५०. (क) "जयो वैरं प्रसवति, दुःखं शेते पराजितः।
उपशान्तः सुखं शेते, हित्वा जयपराजयम्॥"
(अवदानशतके)

(ख) "जयं वेरं पसवति, दुक्खं सेति पराजितो।
उपसन्तो सुखं सेति, हित्वा जयपराजयं॥"
(संयुत्तनि०, प०भा०, १३९ पि०, बौ०भा०सं०)

५१. **अक्कोधेन जिने कोधं, असाधुं साधुना जिने।**
जिने कदरियं दानेन, सच्चेनालिकवादिनं॥
(ध०प०, २२३ गा०)

५१. ''अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधुं साधुना जयेत्।
जयेत् कदर्यं दानेन, जयेत् सत्येन चानृतम्॥''
(महाभा०, उद्योगपर्व, ३९/७२)

५२. **आकासेव पदं नत्थि, समणो नत्थि बाहिरे।**
पपञ्चाभिरता पजा, निप्पञ्चा तथागता॥
(ध०प०, २५४ गा०)

५२. तु०—
पूजारहे पूजयतो, बुद्धे यदि व सावके।
पपञ्चसमतिक्कन्ते, तिण्णसोकपरिद्दवे॥
(ध०प० १९५ गा०)



परिशिष्ट–५

भगवान् बुद्ध से आचार्य बुद्धघोष तक का कालक्रम-निर्धारण

(विद्वान् मैक्समूलर द्वारा)

५५७ ई०पू०	भगवान् बुद्ध (सिद्धार्थ) का जन्म।
५५२ ई०पू०	राजा बिम्बिसार का जन्म।
५३७–४८५ ई०पू०	बिम्बिसार द्वारा अपने राज्य की राजधानी **राजगृह** का निर्माण। [बिम्बिसार बुद्ध से ५ वर्ष छोटे थे। १५ वर्ष की आयु में बिम्बिसार का राज्याभिषेक। ३० या ३१ वर्ष की आयु में बिम्बिसार का बुद्ध से प्रथम साक्षात्कार (५२२ ई०पू०)]
४८५–४५३ ई०पू०	अजातशत्रु (इसके राज्यकाल में भगवान् बुद्ध आठ वर्ष जीवित रहे)।
४७७ ई०पू०	भगवान् बुद्ध का महापरिनिर्वाण।
४७७ ई०पू०	राजगृह में प्रथम सङ्गीति (काश्यप, आनन्द एवं उपालि के सान्निध्य में)।
४५३–४३७ ई०पू०	उदायिभद्र (पाटलिपुत्र के संस्थापक निर्मापयिता)।
४३७–४२९ ई०पू०	अनुरुद्धक एवं मुण्ड (पाटलिपुत्र में)।
४२९–४०५ ई०पू०	नागदासक।
४०५–३८७ ई०पू०	शिशुनाग (वैशाली में)।
३८७–३५९ ई०पू०	कालाशोक।
३७७ ई०पू०	वैशाली में द्वितीय सङ्गीति (यश, रेवत—दोनों आनन्द के शिष्यों के सान्निध्य में) (२५९ + ११८ = ३७७)।
३५९–३३७ ई०पू०	कालाशोक के दश पुत्र (२२ वर्ष)।
३३७–३१५ ई०पू०	नौ नन्द (२२ वर्ष)। अन्तिम घननन्द, जो चाणक्य द्वारा मरवाया गया।
३१५–२९१ ई०पू०	चन्द्रगुप्त (४७७—१६२ = ३१५; ३ × ८ वर्ष); सेल्युकस का राजदूत मेगस्थानीज।

२९१-२६३ ई०पू०	बिन्दुसार।
२६३-२५९ ई०पू०	अशोक, उज्जयिनी का उपशासक, पाटलिपुत्र की राज्यप्राप्ति की दावेदारी में अपने सभी भाइयों की हत्या। डायनोसियस, प्टोलेमी द्वितीय का राजदूत।
२५९ ई०पू०	अशोक का पाटलिपुंत्र में राज्याभिषेक।
२५६ ई०पू०	अशोक द्वारा न्यग्रोध का प्रत्यारोपण।
२५६-२५३ ई०पू०	अशोक द्वारा विहारों एवं स्तूपों का निर्माण।
२५५ ई०पू०	तिष्य का धर्मपरिवर्तन।
२५३ ई०पू०	महेन्द्र की बौद्धधर्म में प्रव्रज्या।
२५१ ई०पू०	तिष्य एवं सुमित्र की मृत्यु।
२४२ ई०पू०	पाटलिपुत्र में (तृतीय) सङ्गीति, मोग्गलिपुत्र तिष्य के सान्निध्य में।
२४१ ई०पू०	महेन्द्र का धर्मप्रचार हेतु श्रीलङ्का में जाना।
२२२ ई०पू०	अशोक की मृत्यु।
१६१ ई०पू०	श्रीलङ्का में दुट्ठगामणी का राज्यकाल।
८८-७६ ई०पू०	वट्टगामणी, त्रिपिटक का लेखन।
४०० ई०	दीपवंस की रचना।
४२० ई०	बुद्धघोष—पालि अट्ठकथाकार। देवर्षिगणि (जैन) के ३० वर्ष बाद।
४५९-४७७ ई०	महावंस की रचना।







बौद्धभारती ग्रन्थमाला में प्रकाशित

पालि-साहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

1. **पालिव्याकरण** (बालावतार) [हिन्दी अनुवाद सहित] — 75/-
2. **मिलिन्दपञ्हपालि** (हिन्दी अनुवाद, विस्तृत भूमिका सहित) — 350/-
3. **अभिधानप्पदीपिका** (हिन्दी-संस्कृत अर्थ सहित) पालिशब्द कोष — प्रेस में
4. **विसुद्धिमग्ग** (हिन्दी अनुवाद एवं विस्तृत भूमिका) 1-2 भाग — 400/-
5. **पातिमोक्खसुत्त** (भिक्षु प्रातिमोक्ष) हिन्दी अनुवाद सहित — 30/-
6. **मज्झिमनिकायपालि** (सुत्तपिटक) (हिन्दी अनुवाद सहित) (सम्पूर्ण, ३ जिल्दों में) 1-5 भाग — 1100/-
7. **दीघनिकायपालि** (सुत्तपिटक) (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण, 1-3 भाग — 650/-
8. **महावग्गपालि** (विनयपिटक) (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण — 500/-
9. **संयुत्तनिकायपालि** (सुत्तपिटक) (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण, 1-4 भाग — 2000/-
10. **धम्मपदपालि** (सुत्तपिटक) (हिन्दी-संस्कृत अनुवाद, विस्तृत भूमिका एवं अनेक परिशिष्ट) सम्पूर्ण — 200/-
11. **अङ्गुत्तरनिकायपालि** (सुत्तपिटक) (हिन्दी अनुवाद, विस्तृत शब्दसूची) सम्पूर्ण — प्रेस में

बौद्धभारती

पो. बाक्स नं. 1049, वाराणसी-221 001

Design by : Sadhana Press, Tel. 210094